॥ श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ॥

महाकाव्यमिदं भारतशासन-शिक्षामन्त्रालय-प्रदत्तद्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितम्

"शिक्षा तथा समाजकल्याण-मन्त्रालय भारत-सरकार से
प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित"

श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्यम्

रचयिता—
निखिलशास्त्र-पारावार-पारदृश्व-सख्यावतारान्टोत्तरशत-स्वामि-
श्रीकृष्णानन्ददासजी-महाराजानां शिष्य. श्रीगोपालचम्पू-
श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू-श्रीपद्यावलीप्रभृति-प्राचीनग्रन्थाना
टीकाकारः श्रीकृष्णानन्दमहाकाव्य-श्रीसख्यसुधाकर-
श्रीराधारमणशतक-श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक-
श्रीभक्तगानमालिका-श्रीमध्वसिद्धान्त-
कणिका-प्रभृतिग्रन्थाना प्रणेता।

महाकविः श्रीवनमालिदासशास्त्री

म एवं अनुवादक संशोधक प्रकाशकश्च
श्रीकृष्णानन्द-स्वर्गाश्रम
श्रीवृन्दावन (मथुरा) उत्तर-प्रदेश
शरद्पूर्णिमा वि० स० २०३२
दि० ८-१०-७६ ई० स०

प्रकाशक —
श्रीवनमालिदासशास्त्री
श्रीकृष्णानन्द-स्वर्गाश्रम
रेलवे फाटक के पास
वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

प्रथमावृत्ति —१००० प्रति

अक्तूबर १९७६ ई० स०

भारत सरकारद्वारा निर्धारित मूल्य
Rs 1 0 P 0 0

महाकाव्यमिद भारतशासन शिक्षामन्त्रालय-प्रदत्तद्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितम्

"शिक्षा तथा समाजकल्याण-मन्त्रालय भारत-सरकार से
प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित"

मुद्रक —
विभूतिकृष्ण गोस्वामी
वैजयन्ती प्रेस, वृन्दावन ।

प्राप्तिस्थान —
१. श्रीवनमालिदासशास्त्री, श्रीकृष्णानन्द-स्वर्गाश्रम
रेलवे फाटक के पास, वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०
२. श्रीपुरुषोत्तमदास, ११७ गोपीनाथ घेरा
वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

※ श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ※

भूमिका

येनाऽकारि गुरोर्निजस्य चरितं काव्यं कविप्रीतिदं
चक्रे 'सहृय-सुधाकर' य उ महाकाव्य 'हरिप्रेष्ठकम्' ।
टीका यश्च लिलेख भाववलिता गोपालचम्पूद्वये
तेनेयं वनमालिदासकविना लेलिख्यते भूमिका ।।१।।

श्रुतस्य पुंसा सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
यत् तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-, पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ।।
(श्रीमद्भागवत ३।१३।४)

जिनके मानससरोवर मे, भगवान् मुकुन्द के चरणारविन्द, सदैव खिले रहते है, उन महापुरुषो-के गुणानुवादो का श्रवण करना ही, बहुत दिनतक श्रीगुरुसेवा-जनित परिश्रमपूर्वक वेदादि-शास्त्रो के अध्ययन आदि का मुख्य फल है। विद्वानो ने इस विषय को स्तुतिपूर्वक प्रतिपादन किया है।

महापुरुषो के जीवन-चरित्र का अध्ययन करने से ही मनुष्य को अपनी भूलो का पता लगता है। और भवाटवी के चक्कर से बचकर, सच्चे सुख की प्राप्ति का सन्मार्ग भी दृष्टिगोचर हो जाता है। भगवत्प्राप्त सन्तो के चरित्र को हृदयङ्गम करने से, मनुष्य की विषय वासना, विविध भोगों की कामना, दुष्कर्म-प्रवृत्ति, अन्याय से अर्थोपार्जन की वृत्ति, कापट्य आदि सभी दोष मिट जाते हैं। वस्तुतस्तु-भगवच्चरित्रों के श्रोता जिस प्रकार भक्तजन होते है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने विशुद्ध भक्तो के चरित्र के परमरसिक श्रोता है। उन-उन सन्तो ने भगवच्चरणारविन्द को अपने हृदय मे किस प्रकार स्थित किया था, किस प्रकार किस भाव से भगवान् को रिझाने मे सलग्न थे, भगवत्प्रेम की प्राप्ति कैसे हुई, सन्त एव गुरुकृपा ने उनके जीवन को कैसा चमत्कृत किया, यह सब, सन्त-चरित्र सुनने अथवा अध्ययन करने से सुगमतापूर्वक ज्ञात हो जाता है। सन्तकथा से प्रभावित होकर, सन्तो जैसा आचरण करने की इच्छा होती है; इसी तरह प्राणी, सन्त बनकर, भगवान् को प्राप्त कर लेता है।

सन्तो की भक्ति, ज्ञान, वैराग्य से युक्तजीवन की कथाओ के सहारे से, कठिन से कठिन सिद्धान्त भी, मानवमात्र के मस्तिष्क मे सहज ही उतर जाते हैं। वेदान्त के दुर्गम-सिद्धान्त षड्दर्शनो के दुरुह तत्त्व, भक्तगाथाओ के द्वारा अनायास ही बुद्धिगम्य हो जाते है। वास्तव मे ईश्वर-शास्त्रानुगामी सन्तो के चरित्र, आद्योपान्त 'मधुनि लिल्युरशेषरसा' के अनुसार सर्वरस-परिपूर्ण होते हैं। उनके जीवन की कई घटनाएँ तो ऐसी आश्चर्यकारिणी

एव सत्प्रेरणा-प्रदायिनी होती हैं कि, जिनके एक ही बार पढ लेन से, जीवन मे महान् परिवर्तन हो जाता है। और यदि वे जीवन मे ठीक तरह से उतर गईं तो वे, जीव के जीवन के लिये, एक महत्त्वपूर्ण वरदान ही सिद्ध हो जाती हैं। अत' महात्माओ के चरित्र को सुनने के लिये, कौन-स सहृदय का मन उत्सुक न होगा ? अत कविवर्य बाणभट्टजी ने ठीक ही कहा है कि—

"कस्य न मनः कुतूहलि, चरित च महात्मना श्रोतुम्"

भक्तमालकार ने भी ठीक ही कहा है कि—

उत्कर्ष सुनत सन्तन को, अचरज कोऊ जिनि करौ।
दुर्वासा प्रति श्याम, दासवशता मुख भाखी।
ध्रुव, गज, पुनि प्रह्लाद, राम, शबरीफल साखी॥
राजसूय यदुनाथ, चरणधोय झूँठ उठाई।
पाण्डव विपति निवारि, दियो विष विषया पाई॥
कलि विशेष परचौ प्रगट, आस्तिक ह्वै के चित धरौ।
उत्कर्ष सुनत सन्तन को, अचरज कोऊ जिनि करौ॥

अत किसी भक्तकवि ने भी ठीक ही कहा है—

दोहा-भक्त बडे भगवान् से, चारो युग परमान।
सेतु बाँधि रघुवर गये, कूदि गये हनुमान॥

इस महाकाव्य मे भी एक ऐसे ही अद्भुत ब्रजवासी-सन्त का विचित्र चरित्र चित्रित किया है। उनका जन्म ब्रज में ही हुआ था। २५ वर्ष की अवस्था में ही अध्यापक पद को एव अपनी नव विवाहिता को, वृद्धामाता को एव कनिष्ठ भ्राता को छोडकर विरक्त हो गये थे। इनका गृहस्थावस्था का नाम 'रामप्रसाद' था, विरक्तावस्था का नाम 'श्रीरामहरिदास' था एव भगवल्लीला-परिकर का नाम 'हरिप्रेष्ठ' था। अत इसी नाम से इस काव्य का नाम मैंने 'श्रीहरिप्रेष्ठ' ऐसा रखा है। हम दोनो ने, परमविरक्त भगवदनुरक्त एक ही श्रीगुरुदेव से, वैष्णवीदीक्षा एव विरक्तवेष धारण किया था। यह सम्पूर्ण विवरण, क्रमानुसार इसी काव्य मे पढने को मिलेगा। विरक्तनाते मे ये मेरे बडे गुरुभाई होते है। हम दोनो का सस्कृत-विषयक समस्त अध्ययन एकसाथ ही हुआ था। इस काव्य का वर्णनीय विषय इन्ही सज्जन महानुभाव का आश्रय लेकर है। इस महाकाव्य का नायक 'धीरोदात्त' है। जिसका लक्षण 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' मे इस प्रकार है—

'गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढव्रत.।
अकत्थनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत्॥'

अर्थात् 'धीरोदात्त'-नायक उसको कहते है कि, जो धीर होकर उदार प्रकृतिवाला हो, एव गम्भीर-स्वभाववाला हो, विनय से युक्त हो, अपने अपकारी के प्रत्यपकार करने की सामर्थ्य होते हुए भी क्षमाकरदेनेवाला हो, दयालु हो, सत्यप्रतिज्ञ हो, आत्मश्लाघा से रहित हो, अपनी नम्रता के कारण गर्व को छिपा देनेवाला हो, एव स्थिर-स्वभाववाला हो। इस काव्य मे करुण-रस प्रधान है। वैदर्भी रीति है।

इस काव्य-नायक के चरित्र से भारी शिक्षा मिलती है। मातृभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति, श्रीहरिभक्ति, एव जनसमाजमात्र की सेवाभक्ति इस काव्य मे पद-पदपर दिखाई देती है। सस्कृत भाषा का माहात्म्य, अध्यापको का गौरव, छात्रभक्ति, सहपाठियो का पारस्परिक-प्रेम, देशभक्ति आदि का पाठ भी इसमे यथास्थान है।

इस काव्य मे अठारह सर्ग है एव महाकाव्य के प्राय सभी लक्षण सनिविष्ट है। अतएव इसकी रचना शैली अपने ढङ्ग की निराली ही है। इसकी कविता प्राय प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी छन्दो मे है। इसमे शरदृतु एव वर्षाऋतु का वर्णन तो साङ्गोपाङ्ग एव पद-पदपर उपदेशो से परिपूर्ण है। उषाकाल, प्रात काल, सूर्योदय, सायकाल, सन्ध्याकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय, रात्रि आदि का वर्णन भी विचित्र ही है। वन, पर्वत, नदी एव स्वाभाविकी शोभा आदि का वर्णन भी अपूर्व ही है, एव लौकिक तथा पारमार्थिक अनेक प्रकार की समस्याओ तथा शकाओ का समाधान भी सप्रमाण निरूपित है। अतएव यह 'हरिप्रेष्ठ-महाकाव्य' भी महाकवि श्रीकालिदास की—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नवीनमित्येव न चाऽप्यवद्यम्।
सन्त. परीक्ष्याऽन्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्यय-नेयबुद्धिः॥"

इस उक्ति के अनुसार, विज्ञजनो के सम्मान का पात्र होने योग्य है।

अतएव भारत-सरकार ने भी, भारत की स्वतन्त्रता के साम्राज्य मे, राजा भोज की स्थितिपर ध्यान देते हुए, सस्कृत के महाकवियो का महान् गौरव सुरक्षित रखते हुए, इस महाकाव्य के प्रकाशन मे पूर्ण सहयोग दिया है।

विद्वज्जनो से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि, यदि इस ग्रन्थ मे मानव-मात्र सुलभ भ्रम, प्रमाद आदि दोषवश कही त्रुटियाँ भी रह गई हो तो, इस ग्रन्थ को सख्य-सम्बन्ध से अपना ही समझकर सुधार ले, क्योकि मित्रमात्र की त्रुटियो का मार्जन, मित्र ही किया करते हैं।

श्रीकृष्णानन्द-स्वर्गाश्रम	वि० स० २०३३	इति सप्रश्रयं
रेलवे फाटक के पास	विजय-दशमी	निवेदयति विनीतो
वृन्दावन (मथुरा) उ०प्र०	दि०-३-१०-७६	वनमालिदास

श्रीगुरुदेव-प्रार्थना

शरण मे आये हैं हम तुम्हारी, दया करो हे दयालो ! गुरुवर !
बिना परो के हैं हम पखेरू, दया करो हे दया लुटेरू।
तुम्हारे बिन है को अब हमारा, दया करो हे दयालो ! गुरुवर ।।१।।
लाखो जनम से पडे हुए हैं, भक्ति बिना हम मरे हुए हैं।
झपटने वाला हे अब शिकारी, दया करो हे दयालो ! गुरुदेव ! ।।२।।
जगत् मे देते रहे दुहाई, कोई न अब तक हुआ सहाई।
तुम्हारे चरणों मे लौ लगाई, दया करो हे दयालो ! गुरुवर ! ।।३।।
करा दो हम को हरी का साथा, वही हमारा निर्जा हे भ्राता।
झुका रहे हे हरिप्रेष्ठ' माथा, दया करो हे दयालो ! गुरुदेव ! ।।४।।

श्रीगुरुदेव-स्तुतिः

भवभीत पतित ससार हेतु, गुरु रूप हरी अवतार भये ।।टेक।।
हरि जो युग-युग मे प्रगट होत, ये आय यही अवतार भये।
इनकी करुणा की महिमा का, कहते न बनें मुख सहस किये ।।
गुरु साक्षात् हरि मूरति हैं, हरि ही अपने मुख बचन कहे।
इनकी सेवा मे मगन होय, कितने ही भव से पार भये ।।१।।
गुरु-वर्य के दर्शन से पहले, फँसी ये दशा हमारी थी।
क्या तत्त्व-वस्तु क्या परमेश्वर, बुद्धी ने नहीं विचारी थी ।।
क्या पाप होत क्या पुण्य होत, पापो मे रती हमारी थी।
जबसे गुरुवर ने कृपा करी, सब ही कुछ जानत आज भये ।।२।।
इनके चरणो मे सब तीरथ, निमल मन करने वाले हैं।
इनके कर-कमलो मे शक्ती भक्ति को देने वाले हैं ।।
इनके हित मे नित राम-श्याम, गऊओ को चराने वाले हैं।
इनके जग हित पै बलिहारी, दर्शन करि आज सनाथ भये ।।३।।
कलियुग का कीर्तन मुख्य धर्म, इनने जग मे विस्तार किया।
ग्रामो शहरो मे घूम-घूम, कीर्तन का झण्डा गाड दिया ।।
विमुखो को देकर प्रेम-भक्ति, जगका भारी उपकार किया।
यो "दास रामहरि" करत गान, बैठें हमरे ये आय हिये ।।४।।

श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्यस्य विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क

षष्ठ सर्ग

सप्तम सर्ग

अष्टम सर्ग

श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य के चरित्र-नायक

श्रीहरिप्रेष्ठजी

स्वामि श्रीरामहरिदासजी महाराज (वेदान्ताचार्य)

॥ श्रीमते मध्वाचार्याय नमः ॥

॥ श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ॥

श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्यम्

अथ प्रथम सर्गः

श्रीरामकृष्ण-पदपङ्कज-लीनचित्तान्,भक्तौ नियोज्य हरिभक्ति-विहीनचित्तान्।
ये नास्तिकानपि च सास्तिकताकचित्तान्,कृत्वा हरे पदमगु प्रथम क्वचित्तान् ॥
दीक्षागुरूनिह प्रणम्य ततो गणेश, वाणीं निधाय हृदयेऽपि च रामकृष्णौ।
आनन्दतीर्थमपि गौरहरिं च नित्या-,नन्दं च रामहरिदास-कृत ब्रवीमि ॥२॥

पहला सर्ग

"श्रीकृष्णानन्दिनी"

भाषाटीका निर्माण प्रारम्भकाल वि० स० २०३१ अक्षय-नवमी।

रचयति सरलां भाषां, श्रीलहरिप्रेष्ठकाव्यस्य।
श्रीवृन्दावनवासी, शास्त्री वनमालिदासाख्य ॥१॥

जिनका चित्त, श्रीकृष्ण-बलदेव के चारुचरणारविन्दो मे ही तल्लीन रहता था, एव जो, श्रीहरि की भक्ति से विहीन चित्तवाले व्यक्तियो को, भक्ति मे लगाकर तथा नास्तिक-जनो को भी आस्तिकता से युक्त चित्त-वाले बनाकर, श्रीहरि के धाम मे जा विराजे, अत सर्वप्रथम अपने उन्ही श्रीदीक्षा-गुरुदेव (श्रीस्वामी श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज) को प्रणाम करके, तदनन्तर श्रीगणेशजी को, श्रीसरस्वती माता को भी ग्रन्थ के आदि मे प्रणाम करके, और अपने हृदय मे, श्रीकृष्ण-बलदेव को, स्व-सम्प्रदायाचार्यवर्य श्रीमन्मध्वाचार्य को, एव श्रीगौराङ्ग महाप्रभु तथा श्रीनित्यानन्द महाप्रभु को धारण करके, मैं, अपने बड़े गुरुभाई 'श्रीराम-हरिदासजी' के चरित्र का वर्णन करता हूँ ॥१-२॥

विद्वज्जनास्तु मम मूर्खवरस्य दोषान्, बालोऽयमित्यविगणय्य पुनः प्रसन्ना ।
भक्तिं तु मे गुरुवरस्य पदारविन्दे,दास्यन्ति नूनमिति ताञ्शिरसा नतोऽस्मि ॥३॥

यो रामकृष्ण-पदपङ्कजयुग्मभृङ्ग, उप्तं च येन हृदि मे हरिभक्तिबीजम् ।
यः प्रापिपत् स्वकृपया गुरुपादमूलं, योऽनीनशत् सकलबन्धुकरालजालम् ॥४॥
भक्तं च यो जनमिमं ह्यविशुद्धबुद्धिं, श्रीरामकृष्ण-पदपङ्कजयोरकार्षीत् ।
शिक्षागुरुर्भवति मे य उदारचेता-, स्तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि ॥५॥

जानामि नो यदपि काश्चन काव्यरीती-,र्दोषान् गुणानपि च काव्यगतान्न धीराः!
नाऽलंकृतीर्न सम-मात्रिक-वृत्तभेदान्, गोमूत्रिकादि-निखिलान् न च बन्धभेदान्
भावादि-भेदनिवहान् न च न ध्वनींश्च,वाक्यादिभेदविभवान् न न लक्षणाश्च ।
जिह्वा तथापि मनुते मम चचला नो, ब्रूतेऽन्वहं कुरु जनुः सफलं ममापि ॥७॥

विद्वज्जन तो, मुझ मूर्ख-श्रेष्ठ के दोषो को, बालक समझकर, उनकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर, बल्कि प्रसन्न होकर, मेरे लिये, श्रीगुरुदेव के चरणारविन्दो मे भक्ति प्रदान करेंगे. अत मैं, उनको नत-मस्तक से प्रणाम करता हूँ ॥३॥

अब मैं, उदार-चित्तवाले एव मेरे लिये सर्वप्रथम भक्ति की शिक्षा देनेवाले उन श्रीरामहरिदासजी को प्रणाम करता हूँ कि, जो, श्रीकृष्ण-बलदेव के चरणारविन्दो के भ्रमरस्वरूप थे, एव मेरे हृदय मे जिन्होने, श्रीहरि की भक्ति का बीज बोया, एव जिन्होने, मुझको, अपनी कृपा से, अपने श्रीगुरुदेव के श्रीचरणो के निकटतक पहुचा दिया, तथा जिन्होंने, मेरे सासारिक बन्धु-बान्धवो के कराल जाल को, बिल्कुल विनष्ट कर दिया; और जिन्होने, मुझ जैसे मलिन-बुद्धिवाले जन को भी, श्रीकृष्ण-बलदेव के चरणारविन्दो का भक्त बना दिया ॥४-५॥

हे धीर गम्भीर विद्वज्जनो ! देखो, यद्यपि मैं, काव्यों मे होने वाली (वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली एव लाटी आदि) कोई भी रीति नही जानता हूँ; एव काव्यो मे होनेवाले रस को बिगाडनेवाले (दुःश्रवता, अश्लीलता अनुचितार्थता, अप्रयुक्तता, ग्राम्यता, अप्रतीतता, सन्दिग्धता, नेयार्थता, निहतार्थता, पुनरुक्तता, कटुता, प्रक्रमभङ्गता आदि) किन्ही दोषो को, तथा रस को बनानेवाले (माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि) गुणो को भी, मैं नही जानता हूँ। और (अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि) अलकारो को, तथा सम, विषम, मात्रिक आदि छन्दो के भेदो को, एव गोमूत्रिकाबन्ध, खड्गबन्ध, पद्मबन्ध आदि कविता के

न प्राप्स्यते पुनरहो ननु मानुषी-वाक्, तस्मादहं विगतभीर्न कवित्वदर्पात् ।
शिक्षानिदेशिक-यशःसुरसिन्धुतोये, मज्जामि मज्जनिगिरं च निमज्जयामि ॥८॥

संवत्सरे परिमिते खखखेश्च द्वाभ्यां, भाद्रे च मास्यसितपक्षवरे नवम्याम् ।
वृन्दावने कृतिमिमां शुभभौमवारे, निर्मातुमारभत वै वनमालिदासः ॥९॥

तस्योपनाम हरिप्रेष्ठमितीरयन्ति, प्रेष्ठं हरेस्तु किल काव्यमिदं तदीयम् ।
एवं विचार्य बहुधा मनसा मयाऽस्य,काव्यस्य नाम हरिप्रेष्ठमतो व्यधायि ॥१०॥

अश्वाऽङ्कमुङ् नवसुधांशु-मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्क-वसुधाधिपतेः पृथिव्याम् ।
चैत्रे च मासि सितपक्षवरे शुभर्क्षे, सर्वर्तुराज उदिते सुखदे वसन्ते ॥११॥

श्रीरामचन्द्र-भगवान् समलञ्चकार, यां भूमिभार-हृतयेऽप्यवतीर्य भूमौ ।
तस्यां जनिः समभवद् भगवन्नवम्यां,भक्तिप्रचारण-कला-कुशलस्य तस्य ॥१२॥

बन्ध भेदों को भी, मैं नहीं जानता हूँ। और भाव, विभाव, अनुभाव आदिकों के भेदों को, ध्वनियों को, वाक्य आदिकों के भेदों के वैभव को, तथा लक्षणाओं के भेदों को भी, मैं यथार्थरूप से नहीं जानता हूँ: तथापि मेरी चंचल जिह्वा नहीं मानती है: मुझसे प्रतिदिन यही कहती है कि, "हे शास्त्रीजी ! देखो, आप, मेरे जन्म को भी सफल बना दो" मैं भी "पुन. दूसरे शरीर में,' मनुष्योंकी-सी वाणी नहीं मिलेगी" यही विचार कर, निर्भय होकर, श्रीरामहरिदासजी के यशरूपी गङ्गाजल में गोता लगा रहा हूँ: और मेरे सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली मेरी वाणी को भी, उसी में गोता लगवा रहा हूँ। मेरा यह सब कार्य, कवित्व के दर्प से नहीं है: अपितु, अपनी जिह्वा की सफलता के लिये ही है ॥६-८॥

'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य'–नामक यह रचना,'श्रीवनमालिदास'–नामक कवि ने, वि० सं० २००० में, भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की नवमी के दिन एवं शुभ मङ्गलवार मे, श्रीवृन्दावन मे रमणरेती में आरम्भ की थी ॥९॥

श्रीरामहरिदासजी का उपनाम, अर्थात् श्रीगुरुजी के द्वारा दिया हुआ सखामण्डल का नाम–'हरिप्रेष्ठ' कहा जाता है, एव "श्रीरामहरिदासजी के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाला यह काव्य, श्रीहरि को अतिशय प्यारा लगता है" इस प्रकार मैंने, अपने मन के द्वारा अनेक प्रकार विचार करके, इस काव्य का नाम-'श्रीहरिप्रेष्ठ' ऐसा रखा है ॥१०॥

भक्ति का प्रचार करने की कला मे परमप्रवीण श्रीरामहरिदासजी का प्रादुर्भाव, भूतलपर वि० स० १९६७ मे, चैत्र मास के शुभ शुक्लपक्ष मे, शुभ नक्षत्र मे, सर्वजनसुखद ऋतुराज वसन्त के प्रगट हो जानेपर,

स्थानं जनैस्तु निगदामि बभूव तत्र, क्रीडाश्चकार भगवान् हरिरेव यत्र ।
गोपैर्बलेन सहितो मुरलीनिनादैः, सम्प्रीणयन्ननुग-गोगण-मानसानि ॥१३॥

श्रीबुलिराम इति नाम पितुर्बभूव, श्यामेति तस्य विदिता जननी च भक्ता ।
विप्रैः सुतस्य जनक किल जातकर्म, चक्रे मुदा सुबहुदान-प्रदान-रीत्या ॥१४॥

रामप्रसादत इहऽऽप्यत एव जन्म, श्रीकृष्णकेलि-निलये नहि चान्यथा स्यात् ।
माताऽप्यनेनकिल धन्यतमेति मत्वा,'रामप्रसाद'इति नाम धृतो विधिज्ञैः॥१५॥

माताऽपि सैव किल भूमितले सुधन्या, यस्याः सुतो भवति कृष्णपदाब्जभृङ्गः ।
नो चेद् वृथा खरवधूवदिहैव भार, साक सुतैर्वहति संसृतिचक्ररूपम् ॥१६॥

उस रामनवमी के दिन हुआ था कि, जिस रामनवमी को, भूमि का भार उतारने के लिये, भगवान् श्रीरामचन्द्र ने अलकृत कर दिया था ॥११-१२॥

अब मै उनके जन्मस्थान का निर्देश करता हूँ—उनका जन्म, उस व्रजमण्डल मे हुआ था कि जहांपर स्वय भगवान् श्रीकृष्ण ने, गोपी-गोप-गोगण एव श्रीबलदेवजी के सहित, अपनी मुरली की सुमधुर ध्वनियों के द्वारा, अपने सेवकों के तथा गोगणों के मनों को, प्रसन्न करते हुए अनेक लीलाएँ की थी, अर्थात् श्रीवृन्दावन से पूर्व की ओर, दो कोस की दूरी पर 'लोहागढ'—नामक एक छोटे-से गाँव मे आपका जन्म हुआ था ॥१३॥

आपके पिताजी का नाम-'श्रीबुलिरामजी' था, एव भक्तिमती श्रीमती माताजी का नाम-श्रीश्यामादेवी' था। उनके पिताजी ने, उनका जातकर्म-संस्कार, बहुत-से दान देने की रीतिपूर्वक, ब्राह्मणो के द्वारा सहर्ष करवाया ॥१४॥

"श्रीकृष्ण के क्रीडा स्थलस्वरूप इस व्रजमण्डल मे, जो जन्म मिलता है, वह, श्रीराम (श्रीबलदेव)जी के कृपाप्रसाद से ही मिलता है, अन्यथा नही।" यह बात विचार कर, एव "इस बालक के द्वारा इन की माता भी अतिशय धन्य हो गयी है" यह समझकर, विधि विधान के ज्ञाता ब्राह्मणो ने, इनका नाम 'रामप्रसाद' ऐसा रख दिया ॥१५॥

इस भूतलपर, वही माता अतिशय बडभागिनी है कि, जिसका पुत्र, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दो का भ्रमर हो जाता है। अन्यथा, श्रीकृष्ण की भक्ति से रहित पुत्रोवाली माता तो, इस ससार मे जन्म-मरण के चक्ररूप भार को, अपने पुत्रो के सहित, गधैया की तरह वृथा ही ढोती रहती है ॥१६॥

पश्चाद् विलोक्य पदयो. किल सिद्धरेखां,पुत्रस्य तस्य लघु गोष्पदचिह्नमेकम् ।
विद्वानुवाच पितरं प्रति हर्षयुक्त,पुत्रस्तवाऽति-शुभ-लक्षण-लक्षितोऽयम् ॥१७॥
गेहाद् व्रजिष्यति वन हरिप्राप्तिहेतो , पुत्रो युवेति तव जल्पति सिद्धरेखा ।
संसारसिन्धुमतितीर्य हरि च गन्ता, गोवत्सपादमिव गोष्पदचिह्नमाह ॥१८॥
विद्वान् महानपि भविष्यति पुत्रकस्ते, दृष्ट्वा च दीनजनमेष दयिष्यतेऽलम् ।
शत्रौ सदा व्यवहरिष्यति मित्रतुल्यं,भक्ति च दास्यति हठादपि जीवकाय ॥१९॥
विश्वासमेष्यति सदा वचने गुरूणां,मार्गे पदं नहि धरिष्यति भक्तिहीने ।
प्रीतिं करिष्यति सदा भुवि साधुलोके,वैराग्यरागरसिको भविता च नूनम् ॥२०॥
काँस्कान् गुणाँस्तव सुतस्य गदामि धीमन् !
श्रीकृष्ण-केलिनिलयेऽजनि भूरिभाग्यात् ।
योऽत्राऽऽप जन्म स गुणी नितरां महात्मा
यत्रोद्धवो विधिरपीच्छति जन्म तार्णम् ॥२१॥

उसके बाद, नामकरण-सस्कार करनेवाला पण्डित, श्रीधूलिरामजी के पुत्र के चरणो मे, सिद्धरेखा को देखकर एव एक छोटे-से गोष्पद (गोखुर) के चिह्न को देखकर, उनके प्रति हर्षपूर्वक बोला कि, "तुम्हारा यह पुत्र, अतिशय शुभ लक्षणो से युक्त है" ॥१७॥

देखिये ! तुम्हारा यह पुत्र, "श्रीहरि की प्राप्ति के कारण, युवावस्था मे ही अपने घर को छोडकर, श्रीवृन्दावन को चला जायगा" इस बात को, इस के चरण मे विद्यमान, यह सिद्धरेखा ही स्पष्ट कह रही है, और यह "अपार ससार-सागर को, बछडे के चरण से बने हुए गड्ढे की तरह, अनायास पार करके, श्रीहरि को प्राप्तकर लेगा" इस बात को, इस के चरणो मे बना हुआ, यह गोष्पद (गोखुर) का चिह्न कह रहा है ॥१८॥

और तुम्हारा यह पुत्र, महान् विद्वान् होगा, एव दीनजनो को देखकर, उनपर महान् दया किया करेगा, अपने शत्रु के ऊपर भी, सदा मित्र के समान ही व्यवहार किया करेगा, तथा जीवमात्र के लिये, हठपूर्वक भक्ति का दान किया करेगा ॥१९॥

और यह तुम्हारा लाला, "गुरुओ के वचन मे सदैव विश्वास किया करेगा, एव श्रीहरि की भक्ति से रहित मार्ग मे, एक पैर भी नही धरेगा तथा भूतलपर विद्यमान साधुजनमात्र मे सदैव प्रेम किया करेगा, अतएव यह युवावस्था मे ही, वैराग्य-राग का रसिक हो जायगा" यह बात निश्चित है ॥२०॥

हे धीमन् ! तुम्हारे इस पुत्र के कौन-कौन-से गुणो का वर्णन करूँ? क्योकि देखो, श्रीकृष्ण की लीला-स्थलीस्वरूप इस व्रज मे, महान् भाग्य

एवं द्विजन्मकुलभूषण-धूलिराम-, पुत्रस्य कर्म कथयन् विरराम विज्ञः।
श्रुत्वा पिताऽर्भकगुणानतिहृष्टचित्तो,विप्राय दानमददात् स्वसुतस्य वृद्धचै॥

वृद्धौ सदा सुलभतां लभतां सुतस्ते, तेजस्यरिः शलभतां लभतां तथाऽस्य।
भक्ति सदाऽनुभवताद् भवताद् यशस्वी,इत्याशिषा च विनियोज्य जगाम विप्रः॥

श्रुत्वा गुणैर्निचितमात्मजमात्मवन्तं,मात्रा मुदाऽङ्कमधिरोप्य च लालयन्त्या।
मा लोकदृङ् निपततादिति भावयन्त्या,थूत्कारबिन्दुभिरपूजि सुतस्य मूर्धा॥२४॥

पश्चाद् विलोक्य शिशुकं क्षुधितं रुदन्तं, दत्वा स्तनंधय-मुखे स्तनमेकमाशु।
सम्यक् पयः स्वशिशवे किल पाययित्वा,हास्यार्थमर्भ-चिबुके निदधे स्वहस्तम्॥

से ही, इसका जन्म हुआ है। जिस व्यक्ति ने, यहाँपर जन्म प्राप्त कर लिया, वही गुणी है, एव वह, विशिष्ट महात्मा है। क्योकि, इस व्रजमण्डल मे तो, उद्धव एव ब्रह्माजी भी तृणसम्बन्धी जन्म लेना चाहते है॥२१॥

इस प्रकार द्विजन्म-कुलभूषण श्रीधूलिरामजी के पुत्र के भावी कर्मों का वखान करते हुए वह विद्वान् चुप हो गया। पिता ने भी, अपने पुत्र के गुणो को सुनकर, अपने पुत्र की वृद्धि के लिये, उस ब्राह्मण को महान् दान दिया॥२२॥

नामकरण करनेवाला वह ब्राह्मण भी, "हे धूलिरामजी! तुम्हारा यह पुत्र, अपने प्रत्येक कार्य की वृद्धि मे, सुलभता का ही लाभ करता रहे, तथा इसके तेज मे, इसका शत्रुमात्र ही पतङ्गा के भाव को प्राप्त करता रहे, एवं यह, श्रीहरि की भक्ति का सदा अनुभव करता रहे, तथा यशस्वी हो जाय" इस प्रकार आशीर्वाद देकर अपने घर को चला गया॥२३॥

अपने पुत्र को गुणो से परिपूर्ण सुनकर, एवं श्रीहरि का भक्त सुनकर, उनकी माता ने, उनको गोद मे लेकर, लाड-प्यार करते करते, "मेरे लाला को किसी की नजर न लग जाय", इस प्रकार की भावना करके अपने लाला का मस्तक, थूत्कार की बिन्दुओ से पूजित कर दिया॥२४॥

उसके वाद, अपने बालक को भूख से युक्त, अतएव रोता हुआ देखकर, उसके मुख मे शीघ्र ही एक स्तन देकर, अपने बालक को भली प्रकार दूध पिलाकर, माता ने उसको हँसाने के भाव से, उसकी ठोडीपर अपना हाथ रख दिया॥२५॥

बालोऽपि तां स्वजननीं नितरां हसित्वा, हर्षाऽन्वितां तमपि तातमनं विधाय।
निद्रावशं गतमिवाऽक्षियुगं निमील्य,बालोचिताद् स्वहसिताद् विरराम रामः॥

निद्रा-निमीलितदृशं स्वसुतं निरीक्ष्य,तत्पेऽल्पकेऽपि लघु शाययति स्म माता।
सुप्तोऽयमित्यपि निरीक्ष्य न तं क्षणार्धं,प्रेम्णा जहाति किल वत्सतरं यथा गौः।२७।

अश्वाङ्गयुङ् निधिसुधांशु-मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपते. पृथिव्याम्।
चैत्रे च मासि सितपक्षवरे नवम्यां,य प्रादुरास तमहं प्रणतोऽस्मि मूर्ध्ना ।।२८॥

इति श्रीवनमालीदासशास्त्रि विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
नायकस्य प्रादुर्भावलीला-वर्णण नाम
प्रथम सर्ग सम्पूर्ण ।।१॥

इधर बालक, रामप्रसाद भी विशेष खिलखिलाकर हँसकर, उस अपनी माता को हर्ष से युक्त बनाकर, अपने पिताजी को भी महान् हर्ष से युक्त करके, निद्रा के वशीभूत होनेवाले की तरह, अपने दोनो नेत्रो को मूँदकर, अपने बालोचित हास्य से रहित हो गया ।।२६।।

उस समय माता ने भी, अपने पुत्र को निद्रा के कारण, मुँद हुए नेत्र वाला देखकर, छोटे-से पलङ्गपर शीघ्र ही सुला दिया। पश्चात् "यह सो गया है" इस बात को देखकर, प्रेम के कारण वात्सल्यमयी गौ-माता, जिस प्रकार अपने छोटे-से बछडे को क्षणभर भी नही छोडती, उसी प्रकार माता श्यामा भी, अपने लाल को आध क्षण के लिये भी नही छोडती हैं ।।२७।।

वि० स० १९६७ मे, चैत्र मास मे, शुभ शुक्लपक्ष मे, रामनवमी के दिन, जो भूतलपर प्रगट हुए थे, मैं उन्ही श्रीहरिप्रेष्ठ को विनम्र मस्तक से प्रणाम करता हूँ। (प्रथम सर्ग मे सभी श्लोक 'वसन्ततिलका'— नामक छन्द के हैं) ।।२८।।

इति श्रीवनमालीदासशास्त्रि–विरचित–श्रीकृष्णनन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ–महाकाव्ये नायकस्य प्रादुर्भावलीला वर्णन नाम।
प्रथम सर्ग सम्पूर्ण ।।१।।

अथ द्वितीयः सर्गः

अथाऽर्भकः क्रीडनकानि कुर्वन्, समेधितुं प्रारभताऽति - शीघ्रम् ।
यथा सुधांशुः सितपक्षकाले, समेधते लोकसुखं वितन्वन् ॥१॥

प्रसूः सुतं लालयितुं प्रवृत्ता, गृहाऽन्यकार्यादपि संनिवृत्ता ।
दिदेश शिक्षां चलनाय योग्या, निवर्तयामास बलादयोग्याम् ॥२॥

स खेलनं बालकुलैश्चकार, मनांसि नेत्राणि हठाज्जहार ।
सुपश्यता खेलन - कर्मदक्ष, सुकुन्तलैर्भाति च काकपक्षः ॥३॥

स चञ्चलश्चञ्चलता ततान, तदा यदा पार्श्वगतः पिता न ।
समान - बालेषु चकार मैत्रीं, रुषा निरस्तोऽपि न यात्यमैत्रीम् ॥४॥

दूसरा सर्ग

तदनन्तर शुक्लपक्ष मे, जनमात्र के सुख का विस्तार करता हुआ चन्द्रमा, जिस प्रकार प्रतिदिन बढता रहता है, उसी प्रकार 'रामप्रसाद'— नामक उस बालक ने भी, क्रीडा करते-करते, माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि जनो के सुख को बढाते हुए, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक बढना प्रारम्भ कर दिया ॥१॥

उसकी माता, उसके लालन पालन मे प्रवृत्त हो गयी, अतएव घर के अन्य कार्यों से प्राय निवृत्त हो गयी। कुछ दिन बाद, अपने बालक को चलने के योग्य शिक्षा देने लग गयी, अतएव चलने मे रुकावट करने वाली, अयोग्य शिक्षा को बलपूर्वक निवृत्त करने लग गयी ॥२॥

वह बालक भी, अनेको बालको के साथ खेलने लग गया, खेलते समय अपने दर्शकों के मन एव नेत्रो को हठपूर्वक करने लग गया। थोडे से दिनो मे ही, खेलने के कर्म मे दक्ष (चतुर) हो गया, एव अपनी घुँघराली अलकावलियों के द्वारा, मानो काकपक्ष की तरह प्रतीत होने लगा।, अर्थात् अपने बालकपन की शिखा से सुशोभित हो गया। (बालना तु शिखा प्रोक्ता काकपक्ष शिखण्डक इत्यमर) ॥३॥

किन्तु वह बालक चञ्चल होकर भी, अपनी चञ्चलता का विस्तार तभी करता था कि, जब उसका पिता निकटवर्ती नही होता था। एव वह, अपनी समान अवस्था वाले बालको मे मित्रता कर लेता था, किन्तु अपने मित्र के द्वारा क्रोधपूर्वक फटकारनेपर भी, उससे वैरभाव नही करता था ॥४॥

स मानयामास समानमन्यं, स्वयं दधे कं प्रति नैव मन्युम्।
यदप्यसौ बालसमान - लीलां, चकार चान्यां च विशिष्ट - लीलाम् ॥५॥
गदामि तां सम्प्रति हृष्टचित्तः, शृणोतु धीमानपि दत्तचित्तः।
समं जनन्या प्रतिवर्षमायात्, परिक्रमार्थं व्रजभूमिकायाः ॥६॥
स साग्रहं याति निषेधितोऽपि, हरेर्जने प्रेम निसर्गतोऽपि।
य ईक्षणार्थं च रुणद्धि तस्य, करोति वाक्यं हृदये न तस्य ॥७॥
मुकुन्द - लिङ्गालय - दर्शनार्थं, करोति वाञ्छां नहि खेलनार्थम्।
हरेः कथां श्रोतुमलं समेति, स बालभावेऽपि न खेलमेति ॥८॥
सतां प्रसङ्गाच्च लभेत भक्तिं, ततः स तत्रैव करोति रक्तिम्।
कदाचिदायातमपि शृणोति, हरेर्जनं तं त्वरितं वृणोति ॥९॥

अपनी समान अवस्थावाले मित्र का वह सम्मान करता था, किन्तु स्वयं किसी के प्रति क्रोध नहीं करता था। यद्यपि बालक होने के नाते, 'रामप्रसाद'—नामक वह बालक, बालकों के समान ही लीला करता था, तथापि, दूसरी विशिष्ट लीला को भी करता था ॥५॥

उस विशिष्ट-लीला को मैं, अब प्रसन्न मन से कहता हूँ, उसको बुद्धिमान् जन भी मन लगाकर सुने ! देखिये, वह बालक, बाल्यकाल मे भी, व्रजभूमि की एवं श्री मथुरा-वृन्दावन की युगल-परिक्रमा करने के लिये, अपनी माता के साथ प्रतिवर्ष आया करता था। और वह निषेध करनेपर भी, भगवद् भक्तों में तो स्वभाव से ही आग्रहपूर्वक प्रेम करने लगता था। और जो कोई व्यक्ति, इसको, भक्तों के एवं साधु सन्तों के दर्शन से रोकता था तो, वह बालक, उसके वचन को हृदय में नही रखता था ॥६-७॥

और वह, प्राचीन संस्कार के कारण, श्रीहरि के मन्दिरों के दर्शन के लिये तो इच्छा करता था, किन्तु बालकों के साथ खेलने के लिए इच्छा नही करता था। एवं वह, अपने बाबा के साथ, बालकपन में भी श्रीहरि की कथा सुनने को तो विशेषकर जाता था, किन्तु उस समय खेलता नही था ॥८॥

सन्तों के सङ्ग से ही भक्ति का लाभ होता है; अतएव वह बालक, सत्सङ्ग मे ही प्रेम करता था। श्रीहरि के प्यारे सन्त को, जब कभी भी, वह अपने गाँव में आये हुए सुन लेता था, तभी तत्काल उसको अङ्गीकार कर लेता था, अर्थात् उस सन्त के दर्शनार्थ, उसके निकट शीघ्र ही पहुँच जाता था ॥९॥

पितामहो भक्तवरोऽस्य भक्तेः, स केवलं द्योतक एव शक्तेः।
स एवयद्यस्य-प्रवर्तकः स्यात्, तदाऽस्य वाक्यस्य न संगतिः स्यात् ॥१०॥

न जन्मनैकेन हरौ रतिः स्याद्, यथा कथंचिद् बहुजन्मभिः स्याद्।
ददाति मुक्तिं नहि भक्तियोगं, हरिः कथंचिन्नहि प्रेमयोगम् ॥११॥

कथं स बाल्येऽपि करोति भक्तिं, निसर्गतः खेलनतो विरक्तिम्।
वदामि तत्कारणमेव सर्वं, यथाश्रुतं नैव करोमि गर्वम् ॥१२॥

यथा जनः पूर्वकृतानुरूपं, फलं समेत्येव न तद्विरूपम्।
यथा पुराऽभ्यास-बलेन बालः, स्तनं पिबत्येव सदाऽश्रुजालः ॥१३॥

यथा पतिं याति भवान्तरेऽपि, पतिव्रता रोद्धुमनं न केऽपि।
तथा पुराऽभ्यास-बलेन भक्ताः, भवन्त्यजे जन्मत एव रक्ताः ॥१४॥

उस बालक के पितामह (बाबा) श्रीमोजीराम जी भी श्रेष्ठ भक्त थे, किन्तु वे तो, केवल इनकी छिपी हुई प्राचीन भक्ति के प्रकाशकमात्र थे। यदि वे ही, इनकी भक्ति के प्रवर्तक होते तो, इस अग्रिम वाक्य की सगति नही बैठेगी। देखो, "श्रीहरि मे, एक ही जन्म के द्वारा प्रीति नही हो सकती है, किन्तु बहुत-से जन्मो के द्वारा विशिष्ट सङ्ग से ही किसी प्रकार हो सकती है। क्योकि, भगवान् मुक्ति को तो सहर्ष दे देते हैं, किन्तु भक्तियोग को नही देते, उसमे भी प्रेमयोग को तो किसी प्रकार भी नही देते हैं, प्रेमयोग का भागी तो कोई विरला हो पाता है ॥१०-११॥

'रामप्रसाद'—नामक वह बालक, बाल्यावस्था मे भी भक्ति क्यो करता था ? एव खेलने से, स्वभाव से ही क्यो वैराग्य रखता था ? उस बात के समस्त कारण को, मैं, शास्त्र के श्रवण के अनुसार ही कहता हूँ, किन्तु उस विषय मे गर्व नही करता हूँ। देखिये, जनमात्र, अपने प्राचीन कर्मो के अनुसार ही, जिस प्रकार, सुख-दुःख-रूप फल को प्राप्त करता रहता है, किन्तु उससे विरुद्ध नही, और देखो, छोटा-सा बालक भी प्राचीन अभ्यास के बल से, सदा आँसू बहाता हुआ भी, विना सिखानेपर भी, जिस प्रकार स्तनपान ही करता रहता है, और सच्ची पतिव्रता नारी, जिस प्रकार दूसरे जन्म मे भी, अपने प्राचीन पति को ही प्राप्त करती रहती है, उसको कोई रोक नही सकते। उसी प्रकार भक्तजन भी, प्राचीन अभ्यास के बल से, भगवान् मे, जन्म से ही अनुरक्त हो जाते है। प्रह्लाद की कथा किस ने नही सुनी है ? उसने भी जन्म से ही, भगवान् मे प्रेम किया था। और परमविरक्त उन श्रीभरत जी का नाम किस ने नही सुना है कि, आज

श्रुता तु प्रह्लादकथा न केन, कृता रतिर्जन्मत एव येन।
न किं श्रुतः श्रीभरतो विरक्तः, कुरङ्गदेहेऽपि स कृष्णरक्तः॥१५॥

कदाचिदेकस्तु जटां दधानः, कमण्डलुं वृद्धवयाः समानः।
महाजनः स्वीकृत-मौनकोऽपि, समागतस्तस्य पुरे तु कोऽपि॥१६॥

स दर्शनार्थं त्वरितं जगाम, जगौ नमस्कृत्य च राम! राम!।
इगिङ्गितेनाऽपि महान् स तूर्णं, जगाद ज्ञातं नहि तेन पूर्णम्॥१७॥

विचार्य पश्चाल्लवणं तु नेतुं, गतः स्वकं स त्वरितं निकेतम्।
ततःसमादाय ददौ महान्तं, न नीतवान् हस्तगतं महान् तत्॥१८॥

सरोषमाततत् पुरतो महान् स, प्रसादितुं तं ह्यनुजग्मिवान् सः।
यदा न रोषं व्यपनेतुमैष्ट, तदाऽऽययौ वेश्म निजं सकष्टः॥१९॥

चरित्रमेतत्त् विलोक्य तस्य, कुमारकालेऽप्यति श्रद्धितस्य।
चकार वै हास्यमसाधुलोकः, शशंस सम्यक् खलु साधुलोकः॥२०॥

भी जिनके नाम से, भारतवर्ष प्रसिद्ध है, वे, प्राचीन अभ्यास के बल से मृग के शरीर में भी, श्रीकृष्ण मे अनुरक्त थे, उसी प्रकार वह बालक भी, प्राचीन संस्कार के कारण, सन्तों से प्रेम करता था ॥१२-१५॥

उस बालक के गाँव में, कभी एक वृद्ध महात्मा चला आया; वह, जटा धारण किये हुए था, एवं कमण्डलु लिये हुए था, सबसे समान भाव रखता था, तथा मौनी था। उस समय वह बालक रामप्रसाद भी, उस महात्मा के दर्शनार्थ उन के निकट शीघ्र ही चला गया। और जाते ही नमस्कार करके, उस महात्मा के प्रति—"बाबा!राम! राम!!" इस प्रकार कहा। उस मौनी महात्मा ने अपने नेत्र के इशारे से, उस बालक के प्रति कुछ शीघ्रता से कहा। किन्तु उस बालक ने उनके माँगने के इशारे को शीघ्र ही समझा नहीं कि,ये क्या माँग रहे हैं। पश्चात् वह बालक, कुछ देर विचारकर, नमक लेने को, शीघ्र ही अपने घर को चला गया। वह, अपने घर से बहुत-सा नमक लेकर, उस महात्मा को देने लगा, किन्तु उस बालक के हाथ मे धरे हुए उस नमक को, उस महात्मा ने नहीं लिया। पश्चात् वह महात्मा, उस गाँव से क्रोधपूर्वक निकल चला; वह बालक भी उसको प्रसन्न करने के लिये उसके पीछे-पीछे चल दिया। किन्तु उस मौनी के क्रोध को दूर करने को जब समर्थ न हुआ, तब वह बालक, कष्टपूर्वक अपने घर को लौट आया। इस प्रकार कुमारावस्था में भी अतिशय श्रद्धा से युक्त, उस रामप्रसाद के इस चरित्र को देखकर, असज्जन-लोग तो हँसी करने लग गये, एवं सज्जन-लोग उसकी भली प्रकार प्रशंसा करने लग गये ॥१६-२०॥

अथाऽष्टवर्षः समभूद् यदा स, द्विजन्मसंस्कारयुतस्तदा सः।
कृतो विधिज्ञैर्विविधोपचारैः, पिता ददौ हर्षभरैरपारैः ॥२१॥

पिता ततस्तस्य जहौ स्वदेहं, विधाय शून्यप्रतिमं स्वगेहम्।
जगाम कृष्णस्य सलोलमाराद्, मुकुन्दरागेण विहाय दारान् ॥२२॥

ततः प्रसूस्तं स्वसुतं विधातुं, मनीषिणं तेन कुलं च धातुम्।
प्रवेशयामास च पाठशालां, निवर्तयामास धियं स बालाम् ॥२३॥

पपाठ पाठं मनसा मनस्वी, स सर्वबालेष्वभवद् यशस्वी।
यथा गुरुः पाठमपाठयत् तं, तथा स वाचा समवाचयत् तम् ॥२४॥

यावन्तं स पपाठ पाठमचिरात् तावन्तमश्रावयत्
नाऽऽलस्यं च चकार पाठरटने भीतिं सदाऽगाद् गुरोः।
चाञ्चल्यं न चकार पाठसमये नोवाच वाक्यं वृथा
वृत्या स्वस्य सखींश्चकार सुखितानध्यापकं चान्वहम् ॥२५॥

वह रामप्रसाद, जब आठ वर्ष का हो गया, तब विधि के ज्ञाता विद्वानो ने, उसको अनेक प्रकार के उपचारो के द्वारा, यज्ञोपवीत-सस्कार से युक्त कर दिया। उस समय उन के पिता ने, उन ब्राह्मणो को अपार हर्षो से दान दिया ॥२१॥

उसके बाद उनके पिता ने, अपने घर को सूना-सा बनाकर अपना शरीर छोड दिया। और श्रीकृष्ण के अनुराग के कारण, अपनी स्त्री को छोडकर, वे, अनायाय श्रीकृष्ण,के निकट पहुँच गये ॥२२॥

उसके बाद, अपने पुत्र रामप्रसाद को, बुद्धिमान बनाने के लिये, एव उसी के द्वारा अपने कुल का पालन-पोषण करवाने के लिये, उसकी माता श्यामा ने, उसको पाठशाला में प्रविष्ट करवा दिया, रामप्रसाद ने भी अपनी बालक बुद्धि छोड दी ॥२३॥

मनस्वी (दृढ मनवाला) वह रामप्रसाद, मनोयोगपूर्वक पाठ पढने लग गया, अतएव वह समस्त बालको मे यशस्वी हो गया। श्रीगुरुजी, उसको जिस प्रकार पाठ पढाते थे, वह, अपनी वाणी उसी प्रकार उच्चारण करके,उस पाठ को भली प्रकान बाँच देता था। (दूसरे सर्ग मे, इस चौवीसवे श्लोक तक 'उपेन्द्रवज्रा'–नामक छन्द है) ॥२४॥

- वह जितने पाठ को पढ़ता था, उतने पाठ को शीघ्र ही कण्ठ करके सुना देता था। अपने पाठ के रटने म कभी आलस्य नही करता था,अध्यापक से सदैव डरता रहता था। पाठ पढने के समय मे चञ्चलता भी नही

स एवमल्पकालकेन प्राकृतां च यावनीम्
अधीतवान् गुरण्डदेश - भाषिकामपावनीम् ।
यदप्यमुष्य प्रीतिरासु भाषिकासु कासु नो
तथाप्यधीतवान् कुटुम्बपूर्तिरन्यथाऽऽशु नो ॥२६॥

कुटुम्बभरणं परं यदपि लक्ष्यमेतादृशाम्
न कृष्ण - रतिमिच्छतां तदपि देशकालाऽनुगाम् ।
पठन्ति वचनावलीं वशयितुं तया मानुषान्
वशीकृतजनांश्च तानुपदिशन्ति भक्तिं हरौ ॥२७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिश्रेष्ठ-महाकाव्ये
नायकस्य पठनलीला-वर्णनं नाम
द्वितीयः सर्गः ॥२॥

करता था, एवं वृथा वाक्य भी नहीं बोलता था। उसने अपनी वृत्ति (स्वभाव) के द्वारा, अपने सहपाठियों को, तथा अपने अध्यापक को प्रतिदिन सुखी कर दिया। (इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीड़ित' छन्द है) ॥२५॥

इस प्रकार उस रामप्रसाद ने, हिन्दी भाषा, उर्दू भाषा एवं अपावन अंग्रेजी भाषा भी थोड़े ही समय में पढ ली। यद्यपि इस रामप्रसाद की प्रीति, इन किसी भी विदेशी भाषाओं मे नही थी, तथापि उनका अध्ययन कर ही लिया। कारण यदि समयानुसार उन भाषाओं को नही पढते तो, शीघ्रतापूर्वक अपने कुटुम्ब की पूर्ति भी तो नहीं हो पाती। (इस श्लोक में, 'पञ्चचामर'–नामक छन्द है) ॥२६॥

श्रीकृष्ण में अनुराग की अभिलाषा रखनेवाले, इस प्रकार के होनहार व्यक्तियों का, केवल कुटुम्ब का भरण-पोषण करना ही, यद्यपि लक्ष्य नही होता, तथापि उस-उस भाषा के द्वारा मनुष्यों को वश मे करने के लिये, देश एवं काल की अनुगामिनी उस-उस विदेशी भाषा को भी पढ ही लेते है। पश्चात्, उस-उस भाषा के द्वारा, वश मे किये हुए उन-उन जनो को, वे, श्रीहरि मे भक्ति करने का ही उपदेश देते है। (इस श्लोक में, 'पृथ्वी'–नामक छन्द है) ॥२७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचित-श्रीकृष्णनन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिश्रेष्ठ-महाकाव्ये नायकस्य अध्ययनलीला-वर्णनं नाम
द्वितीयः सर्गः सम्पूर्णः ॥२॥

अथ तृतीयः सर्गः

अथाऽभवद् द्वादशवार्षिकोऽसौ, यदा तदा बन्धुजनैरकारि ।
अमुष्य वैवाहिकमेव सर्वं, कार्यं विधिज्ञैर्विविधोपचारैः ॥१॥

अथाऽभवत् षोडशवार्षिकोऽसौ, यदा तदाऽमुष्य द्विरागमोऽभूत् ।
समागतां पुत्रवधूं विलोक्य, माता तदाऽमुष्य बभूव हृष्टा ॥२॥

श्वश्रुं ननामाऽपि च सा नवोढा, श्वश्रूर्ददौ चाशिषमेव तस्यै ।
निवास्य पुत्रीमिव चाल्पकालं, प्रस्थापयामास च तां स्वगेहम् ॥३॥

ततः स चिन्तामपरां प्रपेदे, रामप्रसादो जननीं विलोक्य ।
कथं जराजीर्ण - कलेवरायाः, करोमि पोषं निजमातृकायाः ॥४॥

पिता गतः श्रीहरिमन्दिरं मे, ज्येष्ठस्तथाऽस्या अहमेव पुत्रः ।
अन्यः कनीयान् स तु बाल एव, स किं कुटुम्बं परिपोषयेत ॥५॥

तीसरा सर्ग

वह रामप्रसाद जब बारह वर्ष का हो गया तब, उस- के बन्धु-बान्धवो ने, इस का विवाह-सम्बन्धी समस्त कार्य, विधि के ज्ञाता विद्वानो के द्वारा, अनेक प्रकार के उपचारो द्वारा करवा दिया । अर्थात् विधिपूर्वक इन का विवाह करवा दिया ॥१॥

जब वह सोलह वर्ष का हो गया तब उसका द्विरागमन (गौना) हो गया । अपने घर मे आयी हुई पुत्रवधू (पतोहू) को देखकर, रामप्रसाद की माता परमप्रसन्न हो गयी ॥२॥

उस नवविवाहिता वधू (बहू) ने अपनी सास को चरण छूकर नमस्कार किया, उस की सास ने भी उस को शुभाशीर्वाद दे दिया । उस नववधू को, अपनी पुत्री की तरह कुछ दिन तक अपने घरपर निवास कराकर, उस की सास ने, उस को उस के घरपर भिजवा दिया ॥३॥

उसके बाद वह रामप्रसाद, अपनी वृद्धा माता को देखकर, दूसरी चिंता से युक्त हो गया । और अपने मन मे विचारने लगा कि, वृद्धावस्था के कारण जीर्ण शरीरवाली अपनी माताजी का भरण-पोषण किसप्रकार करूँ । मेरे पिताजी तो मुझ को छोटी अवस्था मे ही छोडकर भगवद्धाम को चले गये है, और अपनी माँ का बडा बेटा भी मैं ही हूँ, और जो मेरा छोटा भाई 'नारायण' है, वह अभी बालक ही है,वह कुटुम्बका पोषणकर सकता है क्या? अर्थात् कदापि नही । इसलिये मुझ समर्थ पुत्र को इसका भरण-पोषण अवश्य

अतस्तु पोषः करणीय एव, मया समर्थेन हि पुत्रकेण।
न पालयेद् यः पितरौ समर्थो, जीवन्मृतं तं निगदन्ति सन्तः॥६॥

पितुर्धरा यद्यपि तस्य पोषं, कर्तुं समर्था महती तथापि।
क्लिष्टं कृषेः कर्म तथाऽनभिज्ञो, वरं स चाऽध्यापनमेव मेने॥७॥

अतः स चाऽध्यापन-कार्यहेतो—,रध्यापकं श्रीमथुराप्रसादम्।
गत्वा नमस्कृत्य च तेन पृष्ट—,स्त्वविज्ञपत् स्वागमनस्य हेतुम्॥८॥

उवाच पश्चान्मथुराप्रसादो, विमृश्य किञ्चित् तदुपायमेव।
त्वया तु विश्वासयुतेन तात!, कार्यो हि रामायणपाठ एव॥९॥

तेनैव सेत्स्यन्ति मनोरथास्ते, सर्वेऽपि मे निश्चितमित्यमेव।
न संशयस्तत्र मनाग् विधेयो, न संशयाऽऽत्मा लभते हि सिद्धिम्॥१०॥

यथा हि बालो वचने गुरूणा, विधाय विश्वासमुपैति विद्याम्।
कृषीवलः कौ च निधाय बीजं, यथा समाप्नोति हि धान्यराशिम्॥११॥

-ही करना चाहिये और जो पुत्र, समर्थ होकर भी अपने माता-पिता की रक्षा नहीं करता है, उसको तो सन्तजन, जीते ही मरे के समान कहते है॥४-६॥

रामप्रसाद के पिता की धरती तो बहुत थी, यद्यपि वह धरती ही उस का सकुटुम्ब पोषण करने को समर्थ थी, तथापि खेती का कार्य महान् कठिन है, और रामप्रसाद भी खेती के कार्य से अनभिज्ञ ही था, अतः उस ने अध्यापन कार्य को ही अच्छा समझ लिया॥७॥

अतः वह रामप्रसाद, अध्यापन कार्य के लिये, अर्थात् अध्यापक के पद को प्राप्त करने के उद्देश्य से, मिडल स्कूल के प्रधानाध्यापक एवं परम-भक्त, श्रीमथुराप्रसादजी के निकट चला गया। जाते ही नमस्कार करने के बाद उन के द्वारा पूछने पर, उस ने अपने आने का कारण निवेदन कर दिया॥८॥

तदन्तर—श्रीमथुराप्रसादजी ने कुछ देर विचार कर, अध्यापक पद की प्राप्ति का सरल उपाय बताया कि, "हे प्रिय रामप्रसाद! तुम विश्वास में भर कर, श्रीतुलसीकृत रामायण का पाठ करो, उसी से, तुम्हारे सभी मनोरथ पूरे हो जायेंगे।" यह निश्चित सिद्धान्त है। उस विषय में किञ्चित् भी सन्देह नहीं करना, क्योंकि, सन्देह करनेवाले को सिद्धि नहीं मिलती है। देखो, छोटा-सा बालक, गुरुओं के वचन में विश्वास करके जिस प्रकार विद्या को प्राप्त कर लेता है, एवं किसान भी, विश्वासपूर्वक

तथैव विश्वासयुतस्य पुंसः सिद्ध्यन्ति सर्वाणि समीहितानि।
अन्यत्र याच्ञा विफला कदाचिद्, भवेत्परेशे न कदापि मोघा ॥१२॥

यो नैव विश्वासमुपैति वाक्ये, हितोपदेष्टुः स जनो जघन्यः।
न चात्र शान्ति न परत्र शान्ति, समेति वाताऽऽहत - नौरिवाऽसौ ॥१३॥

इतीरयित्वा वचनं महार्थं, महार्थदं वै विरराम विज्ञः।
स चाप्यथाऽऽकर्ण्य निधाय चित्ते, गृहं नमस्कृत्य जगाम हृष्टः ॥१४॥

उपेत्य गेहं स चकार पाठं, विश्वासपूर्णं च यथावदेव।
अमुष्य विश्वासविधौ वदामः, किं वा पुनः पूर्वमुदीरितं तत् ॥१५॥

अथापि किं मे बहुनोदितेन, पाठः समाप्तिं गमितश्च तेन।
यदा तदैवेश्वर - प्रेरणातो, ह्यध्यापक - स्थापनकार्य - कर्ता ॥१६॥

भूमि मे बीज को बोकर जिसप्रकार धान्य की राशि (रास) को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार विश्वासी पुरुष के भी सभी कार्य सिद्ध हो जाते है। और देखो, अन्यत्र, अर्थात् किसी देवी-देवता के निकट की हुई प्रार्थना तो कभी निष्फल भी हो सकती है, किन्तु परमेश्वर के प्रति की हुई प्रार्थना कभी भी निष्फल नही जाती है ॥९-१२॥

जो व्यक्ति, अपने हितोपदेष्टा के वाक्य मे विश्वास नही करता वह नीच कहलाता है। वह व्यक्ति, वायु के द्वारा ताडित हुई नौका की तरह डावाँडोल होकर, दोनो लोको मैं ही सुख-शान्ति नही प्राप्त कर पाता ॥१३॥

पं० श्रीमथुराप्रसादजी इस प्रकार, महान् प्रयोजन का सिद्ध करने-वाले विशेष गूढार्थ वचन को कहकर चुप हो गये। रामप्रसाद भी, उनके वचन को सुनकर, अपने चित्त मे धरकर, उनको नमस्कार करके, प्रसन्न होकर अपने घर चला आया ॥१४॥

घर मे आते ही, उसने विश्वासपूर्वक विधि के सहित पाठ करना प्रारम्भ कर दिया। रामप्रसादजी के विश्वास के विषय मे हम दुबारा क्या कहे ? क्योकि उनके, विश्वास का कारण तो हम पहले ही कह चुके हैं। अब पुन मेरे बहुत कहने से क्या प्रयोजन ? देखो, रामप्रसादजी ने जब पाठ समाप्त कर दिया तब उसी दिन, परमेश्वर की प्रेरणा से, अध्यापको की नियुक्ति करनेवाले डिप्टी इन्स्पेक्टर ने, इनको पत्र के द्वारा शीघ्र ही यह विज्ञापन दिया कि, हे रामप्रसाद ! तुम अध्यापन के कार्य के भार को सहर्ष वहन करो। इस समाचार को सुनकर रामप्रसाद ने श्रीरामायण

सगादिशज्ज्ञप्तिदलेन शीघ्रं, वह त्वमध्यापनकार्यभारम्।
श्रुत्वा समाचारमिमं स हृष्ट-,स्ततान रामायण - पाठश्रद्धाम् ॥१७॥

स तद्दिनात् सत्यमतीव मत्वा, रामायणस्याऽक्षरमात्रमेव।
चकार पाठं प्रतिवासरं वै, श्रद्धा च वृद्धिं महतीं जगाम ॥१८॥

रामायणे चित्तमतीव लग्न-ममुष्य रामायणमेव जातम्।
रामायणोक्तं किल वाक्यमात्रं, स मन्त्रवत् पालयति स्म हर्षात् ॥१९॥

कामादयो भीषणशत्रवो ये, विहाय ते चित्तममुष्य याताः।
शुद्धे हृदि श्रीहरिवासयोग्ये, कः स्यातुमन्यः सहसा सहेत ॥२०॥

शनैः शनैश्चित्तमपेतरागं, तनोति शीघ्रं विषये विरागम्।
समागता वा गृहिणी स्वकीया, व्याघ्रीसमा तस्य कृते विभाति ॥२१॥

ततस्तु हिण्डौलपुरं जगाम, ह्यध्यापनार्थं स्पृहणीयशीलः।
गत्वा मुदाऽध्यापयितुं प्रवृत्तः, स बाल - छात्रान् स्तवनीयवृत्तः ॥२२॥

के पाठ में श्रद्धा बढ़ा ली। और उसी दिन से वह रामप्रसाद, रामायण के अक्षरमात्र को ही सत्य मानकर प्रतिदिन रामायण का पाठ करने लग गया और उस की श्रद्धा महती वृद्धि को प्राप्त हो गयी ॥१५-१८॥

रामायण में विशेष रूप से लगा हुआ रामप्रसाद का मन, मानो रामायण-रूप ही हो गया। और वह, रामायण में कहे हुए वाक्य मात्र का ही सहर्ष मन्त्र की तरह पालन करने लग गया। और काम-क्रोध आदि जो भयंकर शत्रु हैं, वे, इसके मन-मन्दिर को छोड़कर स्वतः ही चले गये। क्योंकि, श्रीहरि के निवास करने योग्य विशुद्ध हृदय में दूसरा कोई कामादिक, सहसा कैसे ठहर सकता है? अतएव धीरे धीरे सांसरिक पदार्थों में अनुराग से रहित जो मन है वह, प्राकृत विषयमात्र में शीघ्र ही वैराग्य का विस्तार करने लग जाता है। ऐसी स्थिति में, रामप्रसाद के लिये, अपने घर में आई हुई अपनी घरवाली भी, व्याघ्री (बाघिन) के समान लगने लग गयी ॥१९-२१॥

तदनन्तर—सर्वजन वान्छनीय एवं प्रशसनीय परमसुन्दर स्वभाव-वाला रामप्रसाद, अध्यापन कराने के लिये, 'हिण्डौल'—नामक गांव में चला गया। वहां पर जाकर प्राईमरी स्कूल में छोटे छोटे बालकों को हिन्दी का पाठ पढ़ाने लग गया ॥२२॥

निरीक्ष्य चाऽध्यापनकार्यशैली—, ममुष्य सर्वोऽपि हि छात्रवृन्दः।
शशंस चाऽधीनतयाऽवतस्थे, सदा प्रभुं भृत्य इवाऽनुरक्तम् ॥२३॥

अध्यापयामास स चाऽपि प्रेम्णा, ददाति नो दण्डमदण्डचकाय।
बालैरजस्रं परिपृच्छ्यमानो, न रोषमाहारयतीह तीव्रम् ॥२४॥

स पाठयित्वा किल छात्रवृंदं, सायं समायाति च वाटिकायाम्।
विधाय शौचादिकमेव तत्र, करोति रामायण - पाठमेव ॥२५॥

एवं सदा कुर्वत एव तस्य, कदाचिदेकं गतमक्षिमार्गे।
रामायणे वाक्यमतीव हृद्यं, विदीर्यते येन तमो दुरन्तम् ॥२६॥

लब्ध्वा शरीरं भुवि मानुषं ये, मनः स्वकीयं विषये क्षिपन्ति।
अत. शठास्ते गदिता महाद्भि, सुधां विहायैव विषं पिबन्ति ॥२७॥

वाक्यस्य चैतस्य हि गूढ़भावं, ज्ञात्वाऽपि पप्रच्छ स रामचन्द्रम्।
समेत्य हिण्डौल - निवासिनं च, तेनाऽपि तद्वत् परिबोधितोऽसौ ॥२८॥

उसके पढाने की परिपाटी को देखकर समस्त छात्रवृन्द, प्रशसा करने लग गया। और सेवक, जिस प्रकार अनुरागी स्वामी के अधीन रहता है; उसी प्रकार उनके अधीन रहने लग गया ॥२३॥

इधर रामप्रसाद भी, छात्र मात्र को प्रेमपूर्वक पढाने लग गया। वह अदण्डनीय छात्र को दण्ड नही देता था; और अपने से पढनेवाले बालको के द्वारा वारवार पाठ पूछनेपर भी तीव्र क्रोध नही करता था। और वह, छात्र-वृन्द को पढाकर सायकाल मे बगीचीपर चला आता था। उस बगीची पर शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर श्री रामायण का पाठ ही करता रहता था ॥२४-२५॥

इसी प्रकार सदैव पाठ करते हुए उसकी दृष्टि मे, रामायण मे, एक ऐसा मनोहर वाक्य आगया कि, जिस वाक्य के अनुशीलन करने से मानव-मात्र का अनन्त अज्ञान दूर हो जाता है। वह वाक्य यह है कि, "नर तनु पाय विषय मन देही। पलटि सुधा ते शठ विष लेही" इस का भावार्थ यह है कि, जो व्यक्ति, इस भूतल पर देव दुर्लभ मानव शरीर को, श्रीहरि की अहैतुकी कृपा से अनायास पाकर भी, अपने मन को विषयो मे ही लगाते रहते है, वे तो मानो अमृत को छोडकर विष को ही पीते हैं। अत: महात्मा जन उनको शठ बतलाते हैं ॥२६-२७॥

इस पूर्वोक्त वाक्य के गूढभाव को जानकर भी रामप्रसाद ने, हिण्डौल ग्राम निवासी पण्डित रामचन्द्र के पास जाकर, उनसे उस वाक्य का भावार्थ

ज्ञात्वा स सम्यग् जगतो व्यवस्था—, मेतस्य देहस्य च प्राप्तिहेतुम् ।
निवर्त्य चित्तं क्षणभंगुरेभ्यो, निवेशयामास मुकुन्द एव ॥२९॥
ततः स नित्यं श्रवणाय गाथां, रामायणस्य व्रजति स्म रात्रौ ।
तस्यैव विज्ञस्य सहर्षमारात्, श्रुत्वा रतिर्वृद्धिमवाप तस्य॥३०॥
शिवालये प्रातरसौ करोति, नित्यं हि रामायणपाठमेव ।
श्रीकृष्णचन्द्रस्य च मूर्तिकायाः, करोति सेवामपि मित्रभावैः ॥३१॥
पुनः कदाचित् किल वाक्यमेतद्, ददर्श रामायण - पाठ एव ।
गुरुं विना कोऽपि न तर्तुमीशो, भवार्णवादात्मभुवा समोऽपि ॥३२॥
विचारयामास विलोक्य वाक्यं, मुहुर्मुहुर्हर्षभराऽऽकुलात्मा ।
स्थिरीचकाराऽऽत्मनि चाप्यवश्यं, गुरुर्मयाऽप्याश्रयणीय एव ॥३३॥
गुरुं विना नाऽऽप्यत एव विद्या, सती - मतिर्नैव तथाऽनवद्या ।
जानाति नैव व्यवहारकार्यं, मतं जहातीह न कोऽप्यनार्यम् ॥३४॥

पूछा। पण्डित जी ने भी, उस वाक्य का गम्भीरार्थ उसी प्रकार समझाया कि, जिस प्रकार रामप्रसाद ने उसके भाव को, अपने मन से समझा था ॥२८॥

रामप्रसाद ने भी, संसार की व्यवस्था को भली प्रकार समझकर, एवं मनुष्य शरीर की प्राप्ति के, श्रीहरि की भक्ति करनारूप मुख्य कारण को जानकर, अपने मन को क्षणभंगुर विषयों से हटाकर श्रीमुकुन्द भगवान् में ही लगा दिया ॥२९॥

उसके बाद तो वह रामप्रसाद, श्रीरामायण की कथा सुनने के लिये रात्रि में, उन्हीं प० श्रीरामचन्द्र जी के पास नित्य जाता था। अतएव प्रतिदिन हर्षपूर्वक कथा सुनकर उसकी प्रीति और अधिक बढ़ गयी। वह प्रात-काल शिवालयमें नित्य ही रामायण का पाठ करता था; और श्रीकृष्णचन्द्र की चित्रपटमयी मूर्तिकी सेवा भी, मित्र-भावपूर्वक नित्य करता था ॥३०-३१॥

प्रतिदिन रामायण का पाठ करते हुए रामप्रसाद ने किसी समय रामायण के पाठ मे, यह वाक्य देखा कि,—"जो विरञ्चि शंकर सम होई। गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई" इस वाक्य को देखकर, हर्ष की अधिकता से मन में व्याकुल होकर, इस वाक्य पर वह विचारने लग गया। और कुछ देर बाद अपने मन में यह बात स्थिर भी कर ली कि, "मुझे भी आत्म-कल्याण के लिये सद्गुरु का आश्रय अवश्य ही ले लेना चाहिये ॥३२-३३॥

क्यों कि देखो, गुरु के बिना लौकिक या पारमार्थिक किसी प्रकार की विद्या भी नहीं प्राप्त होती है, तथा विशुद्ध एवं सच्ची बुद्धि भी नहीं

माता शिशुं नो यदि शिक्षयेत, वक्तुं तदा क पुरुष सहेत।
गुरुं विना सर्वविवेकहीनो, जनो भ्रमत्यन्ध इवातिदीन ॥३५॥
यदीह सासारिकमेव कार्यं, विना गुरुं सर्वजनैरकार्यम्।
अनन्त - ब्रह्माण्ड - विनायक वा, गुरुं विनाऽऽप्नोतु तदा कथं वा ॥३६॥
विजित्य सर्वाण्यपि चेन्द्रियाणि, गुरुं विनाऽदान्तमनोऽश्वमेतम्।
नियन्तुमिच्छन्ति हठाज्जना ये, मज्जन्ति तेऽकर्णधरा इवाऽब्धौ ॥३७॥
वशीकृतोऽप्येष कदापि कैश्चिज्जनैर्हठात् तानपि वञ्चयित्वा।
निपातयत्येव गुरुं विना वै, न शिक्षितोऽश्वोऽपि यथाऽन्धकूपे ॥३८॥
अतो ममाऽप्येष मनोऽभिलाष, कदा द्रुत स्याद्धि गुरौ निवास।
कदा मन सद्गुरवे निवेद्य, मयाऽऽप्स्यतेऽर स हि वेदवेद्य ॥३९॥

मिल पाती है, एव गुरु के विना तो मनुष्य, व्यावहारिक कार्य को भी नही जानता है, और कोई भी व्यक्ति, बुरे मत को भी यहाँ पर नही छोडता है। और देखो, मानव-मात्र की माता, यदि अपने छोटे बच्चे को बोलने की शिक्षा न दे तो, ऐसी स्थिति मे कौन-सा पुरुष बोल सकता है? गुरु के विना तो जनमात्र ही सब प्रकार के ज्ञान से हीन होकर अत्यन्त दीन होकर अन्धे की तरह ससार मे ही घूमता रहता है। यदि गुरु के विना, सासारिक कार्य मात्र को ही जब सब-जन करने के योग्य नही जान पाता तब, श्रीगुरु-देव के विना अनन्त ब्रह्माण्ड नायक को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता? ॥३४-३६॥

और श्रीमद्भागवत आदि सद्ग्रन्थो का भी यही सिद्धान्त है कि, "जो व्यक्ति, अपने साधन के बल से सब इन्द्रियो को जीतकर भी, इस दुर्दान्त मन रूपी घोडे को श्री गुरुदेव के बिना ही हठपूर्वक अपने वश मे करना चाहते हैं, वे तो, विना कर्णधार (मल्लाह) के व्यापारियो की तरह, ससार सागर मे ही गोता खाते रहते हैं, किसी प्रकार भी पार नही हो पाते। और यह मनरूपी घोडा, यदि किसी ने किसी प्रकार वश मे भी कर लिया तो भी यह, उनको भी हठपूर्वक धोखा देकर, श्री गुरुदेव के सहारे विना इस प्रकार गिरा देता है कि, जिस प्रकार अशिक्षित घोडा, घुडसवार को अन्धे कुएँ मे पटक देता है ॥३७ ३८॥

इस लिये मेरे मन की भी यही अभिलाषा है कि, "शीघ्रता पूर्वक श्रीगुरुदेव के निकट मेरा कब निवास होगा? । और अपने मन को श्री गुरु-देव के अर्पण करके, वेदो के द्वारा जानने योग्य वह श्रीकृष्ण चन्द्र, मुझ को कब प्राप्त होगा?" ॥३९॥

कदाचिदेकस्तु प्रधाननामा, समास चाऽद्वैत - पथानुगामी ।
तस्मिन् पुरेऽध्याप्यत एव यस्मिन्, रामप्रसादेन हरिप्रियेण ॥४०॥
ततोऽन्वह श्रूयत एव तेन, विचारचन्द्रोदयनामग्रन्थ ।
प्रधाननाम्नो जनत सकाशाद्, मध्याह्नकाले तु विहाय छात्रान् ॥४१॥
अन्ते च ग्रन्थस्य हि सारमेत, विज्ञापयामास प्रधाननामा ।
जाप्य त्वयाऽहर्निशमेवमेव, सोऽह नु सोऽह किल सोऽहमेव ॥४२॥
स्वभावतोऽसौ सरलो विहाय, भक्ति हरेर्जल्पति सोऽहमेव ।
तिष्ठन् व्रजन् स्नानमथापि कुर्वन्, पुन पुनर्जल्पति सोऽहमेव ॥४३॥
पुन कदाचित् स हि शीतकाले, विचारयामास हृदि स्वकीये ।
अस्मत्कृते दास्यति नैव कष्ट, शीत कुतो नूनमहं स एव ॥४४॥
विचारयन्नेवमसौ स्वदोर्भ्यां, वक्ष - स्थल ताडयितु प्रवृत्त ।
ननर्त जल्पन्नपि शीघ्रमित्य, अहो जगत्यस्म्यहमेव ब्रह्म ॥४५॥
पश्चात् स्ववस्त्राण्यवतार्य शीघ्र, कौपीनमात्र च निधाय कट्याम् ।
जपन् स सोऽह सहसा निशीथे, मुदा हरिद्वारमपि प्रतस्थे ॥४६॥

श्रीहरि का प्यारा रामप्रसाद, जिस गाँव मे पढाता था, उसी 'हिण्डौल'–नामक गाँव मे, एक 'प्रधान'–नामक अद्वैतवादी व्यक्ति रहता था। किसी समय रामप्रसाद, मध्याह्न समय मे अपने छात्रो को छोडकर, उसी 'प्रधान'–नामक जन से 'विचार-चन्द्रोदय'–नामक ग्रन्थ को प्रतिदिन सुनता था। उस ग्रन्थ की समाप्ति मे प्रधान जी ने, उस ग्रन्थ का साराश यही बताया कि, हे रामप्रसाद ! तुम रातदिन 'सोऽह्' 'सोऽह्' इसी मन्त्र का जाप करते रहना ॥४०-४२॥

स्वभाव मे ही सरल यह रामप्रसाद, उस अद्वैतवादी के चक्कर मे पडकर, स्पष्ट रूप से 'सोऽह्' का ही जाप करने लग गया। बैठते, चलते एव स्नान करते हुए भी अब तो बारम्बार 'सोऽह को ही बोलने लग गया ॥४३॥

उसके बाद किसी समय शीतकाल मे वह अपने हृदय मे यह विचार करने लगा कि, "यह शीत (जाडा) मुझको कष्ट नही देगा, क्योकि, मैं तो निश्चितरूप से वही ब्रह्म हूँ।" इस प्रकार विचार करता हुआ रामप्रसाद, अपने दोनो हाथो से अपने वक्षःस्थल को पीटने लग गया। और "अहो इस जगत् मे, मैं ही तो ब्रह्म हूँ ' इस प्रकार पुकारता हुआ शीघ्रतापूर्वक नाचने लग गया ॥४४-४५॥

उसके बाद, झटपट अपने सारे वस्त्रो को उतार कर, अपनी कमर मे केवल एक कौपीनमात्र को पहनकर वह रामप्रसाद, 'सोऽह्' का जाप

नदीतटेनाऽपि यदा चचाल, तदैव शीताऽधिकता - वशेन ।
समीरवेगेन समाससाद, नमूनियारोग - मलिम्लुचोऽमुम् ॥४७॥
मलिम्लुचाद् भीत इवातिरोगा-, दसौ तत कष्टनिवारणाय ।
पलायमानस्तु समाससाद, नदीतटस्थं हि कुटीरमेकम् ॥४८॥
स उत्तमाङ्गस्य निधाय नीचै, स्थूलेष्टिकां वक्षसि जानुनी द्वे ।
विचारयन्नेवमयाधिशिश्ये, अहो जगत्यस्म्यहमेव ब्रह्म ॥४९॥
दु:खादयो मे न किमप्यनिष्टं, कर्तुं समर्था भ्रममात्रकास्ते ।
यथा यथा निर्गुण - ब्रह्मचिन्तां, तनोति रोगोऽपि तथा तथैव ॥५०॥
यदा कथचिन्नहि शान्तिराप्ता, विचारयामास तदा स चैवम् ।
न निर्गुण - ब्रह्मविचारचिन्ता, दु ख मदीयं व्यपनेतुमीशा ॥५१॥
अतो मुकुन्दं शरणं व्रजामि, सनातनो यो हिं सखा मदीय ।
स मोक्षयिष्यत्यपि मा प्रपन्नं, अस्मात् रोगाच्छरणागताऽऽर्द्र: ॥५२॥

करता हुआ, आधी रात के समय, सहसा (अचानक) हर्ष पूर्वक हरिद्वार की ओर चल दिया। जब वह नदी के किनारे से जा रहा था तब, जाड़े की अधिकता के कारण एव शीतल वायु के वेग के कारण, रामप्रसाद को मार्ग मे 'नमूनिया'-नामक मलिम्लुच (डाकू) ने घेर लिया, और पकडकर जकड लिया। डाकू से डरे हुए व्यक्ति की तरह उस निमूनिया रोग से डरकर वह रामप्रसाद, उस कष्ट के निवारण के लिये भागता हुआ, नदी के तीरपर विद्यमान एक छोटी सी कुटी मे जा पहुँचा ॥४६-४८॥

वहाँ जाते ही वह अपने मन मे "अहो इस जगत् मे मैं ही तो ब्रह्म हूं" इस प्रकार विचारता हुआ, वही पडी हुई एक मोटी सी ईंट को अपने सिर के नीचे धरकर, एव अपने दोनो घुटनाओ को अपनी छातीपर धरकर सोने लग गया। सोते-सोते भी बिचारने लगा कि, "ये दु ख आदिक मेरा कुछ भी अनिष्ट करने को समर्थ नही है, क्योकि ये तो भ्रम मात्र ही है" इस प्रकार वह जैसे जैसे निर्गुण ब्रह्म की चिन्ता करता था, वैसे वैसे ही वह निमूनिया रोग भी बढता हो जा रहा था। जब किसी प्रकार भी शान्ति न मिली तब, वह इस प्रकार विचारने लगा कि, यह निर्गुण ब्रह्म-विचार की चिन्ता, मेरे दु ख को दूर करने के लिये समर्थ नही है, अत अब तो मैं, अपने जीवन से हताश होकर, सर्वजन-मुक्तिप्रद उन मुकुन्द भगवान् की शरण मे जाता हूँ कि, जो मेरा सनातन (अनादि, प्राचीन) सखा है, वह शरणागत भक्तो पर स्नेह करता है, अत ऐसी आपत्ति मे, मुझ शरणागत को भी, इस नमूनियाँ रोग से अवश्य ही मुक्त कर देगा ॥४९-५२॥

श्रीकृष्णचन्द्र - स्मरणाऽनुभावाच्छनैः शनैः शान्तिमवाप रोगः ।
संसार - रोगोऽपि हि यस्य चिन्ता-,मात्रेण नश्यत्यपि किं न चाऽन्यः ॥५३॥

तत. स शीतेन निपीड्यमान., पुन. पुनर्भूरि च वेपमान-।
आच्छाद्य वक्षः - स्थलमाशु दोर्भ्यां, स्मरन् हरिं वृद्ध इव प्रतस्थे ॥५४॥

स्वस्थानाऽभिमुखश्चचाल शनकै. श्रीकृष्णचन्द्रं स्मरन्
पश्चाच्चैवमचिन्तयत् स्वहृदये श्रीकृष्णचन्द्रद्विपाम् ।
शुष्कज्ञान - विराविणामतितरामेतादृशां ज्ञानिनां
विस्मृत्याऽपि करिष्यते न वचसि श्रद्धा कदाचिन्मया ॥५५॥

अल्पीयसैव हरिभक्तिविरोधिशुष्क-,ज्ञानेन दुःखमनुभूतमिदं मयाऽद्य ।
ये कुर्वतेऽस्य सततं न हरेस्तु चर्चां,तेषां भविष्यति दशा ननु का न जाने ॥५६॥

श्रीकृष्णचन्द्र के स्मरण के लोकोत्तर प्रभाव से वह रोग धीरे-धीरे शान्त हो गया । जिनके स्मरणमात्र से, संसार का जन्म-मरणरूप भयकर रोग ही जब विनष्ट हो जाता है तब दूसरा साधारण रोग विनष्ट हो जायगा, इस विषय मे तो फिर कहना ही क्या है ? ॥५३॥

उसके बाद वह रामप्रसाद, शीत से पीडित होकर, पुन. पुनः विशेपरूप से कांपता हुआ, अपने दोनों हाथो से अपने वक्ष स्थल (छाती) को ढककर मन मन मे श्रीहरि का स्मरण करता हुआ बुड्ढे व्यक्ति की तरह शीघ्र ही अपने स्थान की ओर चल दिया (इस सर्ग में, ११, १४, २३, ३२, ३३, ३६, ३८, ३९, ४७, ४८ सख्यावाले श्लोकों में तो 'उपेन्द्रावज्रा'- नामक छन्द है, और ५४ श्लोक तक, बाकी बचे श्लोको में, 'उपजाति'-नामक छन्द है) ॥५४॥

श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ रामप्रसाद, धीरे धीरे अपने स्थान की ओर चल दिया । पीछे अपने मन मे यह विचार करने लगा कि, "साधन सम्पत्ति से सर्वथा रहित होकर भी, केवल सूखे ज्ञान को ही विशेपतापूर्वक बघारने वाले, अतएव भक्ति से विहीन ऐसे ज्ञानियो के वचन मे, मैं तो, कभी भूलकर भी श्रद्धा नही करूंगा (इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित'-नामक छन्द है) ॥५५॥

क्योंकि, देखो, मैंने तो आज, श्रीहरि की भक्ति से विरोध करनेवाले अतिशय थोड़े इस शुष्क (सूखे) ज्ञान से ही महान् दुःख का अनुभव कर लिया है । किन्तु जो व्यक्ति, निरन्तर इस सूखे ज्ञान की ही चर्चा करते

सुखं स्वप्तुं शक्तो नहि भुवि पुमानल्परिपुतो
विरोधं कृत्वा शं कथमखिल-ब्रह्माण्डपतिना।
अहो निःसीमा सा मयि हरिकृपा नूनमभवद्
विमार्गे यातो मे कथमय भवेत् तत्स्मृतिरहो ॥५७॥

देही कालोरगभयवशाद् धावमानः समन्तात्
त्वद्वैमुख्याद् व्रजति न सुखं दुःखमाप्नोत्यघारे!।
शेते स्वस्थस्तव चरणपाथोजभृङ्गस्तु योऽभूत्
मृत्युव्यालोऽपि च तव भयात् तस्य नायाति पार्श्वम् ॥५८॥

स एव हरिं चिन्तयन्नाजगाम, स्वावासं स्ववासांसि शीघ्रं वसित्वा।
पुनश्चैव खट्वामधिश्रित्य शिश्ये, न शिष्योऽधुना कस्यचिज्जात एव ॥५९॥

रहते है एव श्रीहरि की चर्चा कभी भूलकर भी नही करते, उन की इस समार मे कौन-सी दशा होगी, इस बात को मै नही जानता (**इस श्लोक में 'वसन्ततिलका'– नामक' छन्द है**) ॥५६॥

और देखो, इस भूमिपर छोटे से शत्रु से भी विरोध करके, जब कोई भी पुरुष सुखपूर्वक नही सो सकता तब, अखिल-ब्रह्माण्डपति प्रभु से विरोध करके किस प्रकार सुख से सो सकता है एव उसका कल्याण भी किस प्रकार हो सकता है ? । अहो ! मेरे ऊपर तो श्रीहरि की वही असीम कृपा हो गयी है, यह बात निश्चित है । अन्यथा कुमार्ग मे पदार्पण करने वाले मेरे लिये, अकारण-करुणा-वरुणालय उन श्रीहरि की स्मृति ही किस प्रकार हो सकती थी (**इस श्लोक मे 'शिखरिणी'–नामक छन्द है**) ॥५७॥

अत मैं तो अपने प्रिय सखा से प्रार्थना करता हुआ यही कहता हूँ कि, हे अघारे ! देखो, यह देहधारी जीव, आपसे विमुख होने के कारण, कालरूपी व्याल के भय के वशीभूत होकर चारों ओर अर्थात् अनेक योनियो मे दौड़ता हुआ सुख को नही प्राप्त कर पाता, किन्तु दुःख को ही प्राप्त करता रहता है । किन्तु जो व्यक्ति, अन्य समस्त साधनो को छोडकर केवल आपके चरण-कमलो का ही भ्रमर बन गया है, वह तो स्वस्थ होकर चैन की नींद मे सोता है । और मृत्युरूप सर्प, आपके भय से, उस भक्त के निकट तक नही आता (**इस श्लोक मे 'मन्दाक्रान्ता'–नामक छन्द है**) ॥५८॥

अपने मन मे, इस प्रकार का विचार करता हुआ रामप्रसाद, श्रीहरि का स्मरण करते करते अपने निवास स्थानपर ही आ गया । और आते ही शीघ्रता से अपने वस्त्र पहनकर, पश्चात् खटियापर लेटकर सुखपूर्वक

विमुक्तमानिनां दशा-निदर्शनाय भूतले
चकार लीलिकामिमामसौ मया विनिश्चितम् ।
कुतः स्वभावतो हरि - प्रविष्ट - मानसा जनाः
भवन्ति कारणं विना कदापि नोत्पयाऽऽश्रया. ॥६०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
नायकस्य विवाहाऽध्यापन-वैराग्योपक्रमवर्णनं नाम
तृतीयः सर्ग. सम्पूर्ण ॥३॥

सो गया। किन्तु-अभीतक किसी सद्गुरु का शिष्य नहीं हुआ था (इस श्लोक में 'भुजङ्गप्रयात'–नामक छन्द है) ॥५६॥

आगे चलकर 'श्रीरामहरिदास'–संज्ञा को धारण करनेवाले श्रीरामप्रसाद ने, यह जो पुर्वोक्त लीला की है, वह तो भूतलपर, श्रीहरि की भक्ति से विहीन होकर भी अपने को विमुक्त माननेवाले सूखे ज्ञानियों की दशा का प्रदर्शन करने के लिये ही है। यह सिद्धान्त मैंने, शास्त्र एवं भगयदनुरागी सन्तों के आचार से हो निश्चित किया है; क्योंकि, जिनका मन स्वभाव से ही श्रीहरि मे प्रविष्ट है, ऐसे जन, किसी विशेष-कारण के विना, भक्ति से रहित कुपथ का आश्रय कभी भी नहीं लेते है। अर्थात् श्रीहरि की भक्ति के सरस एवं सरल राजमार्ग को छोड़कर कुपथगामी कभी भी नहीं होते है (इस श्लोक में 'पञ्चचामर'–नामक छन्द है) ॥६०॥

इति वनमालिदास शास्त्रि–विरचित–श्रीकृष्णानन्दिनी–भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ–महाकाव्ये नायकस्य विवाहाऽध्यापन–वैराग्योपक्रम–
कथनं नाम तृतीय. सर्गः सम्पूर्ण ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः सर्गः

नायकस्य वैराग्योपक्रम-वर्णनम्

अथ ज्वरेणाऽतिबलीयसाऽसकौ, निपीडित कर्हिचिदप्यभून्महत् ।
अवश्यमोक्तव्यतया विनिश्चित, न कर्म प्रारब्धमहो विनश्यति ॥१॥

दशा तदाऽमुष्य विलोक्य दर्शका, जना बभूवुश्च नितान्त - विह्वला ।
अथ पुनर्जीवनयोगमेष्यति, इतीरयन्ति नहि तत्र केचन ॥२॥

स दु खमामासमुपेत्य पुष्कल, तत स्वभाग्यस्य तथाऽऽयुषो बलात् ।
ज्वराद् विमुक्तस्तु तथा व्यराजत, यथा विमुक्तो हि विधुर्विधुन्तुदात् ॥३॥

विचारयामास तत स मानसे, स्वपादपद्माप्तय एव निश्चितम् ।
कृपालुनाऽह हरिणैव जीवितो, न चान्यथा जीवनयोग एष मे ॥४॥

चौथा सर्ग

चरित्रनायक का वैराग्योपक्रम वर्णन

तदनन्तर किसी समय, वह रामप्रसाद, अतिशय बलवान् ज्वर के द्वारा महान् पीडित हो गया। क्योकि, अवश्य ही भोगने के लिये विशेषरूप से निश्चित किया हुआ प्रारब्ध कर्म, भोगे बिना विनष्ट नही होता। इस विषय मे यही प्रमाण है कि,

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" ॥१॥

उस समय इनकी असाध्य दशा को देखकर, गाँव के सभी दर्शकजन महान् विकल हो गये। उन दर्शको मे से, "यह रामप्रसाद, पुन जीवित रहेगा" इस बात को कोई भी नही कहता था। वह रामप्रसाद, एक मासतक महान् कष्ट को प्राप्त करके, उसके बाद अपने भाग्य के तथा आयु के प्रबल बल से, ज्वर से विमुक्त होकर उस प्रकार सुशोभित हो गया कि, जिसप्रकार राहु से विमुक्त हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥२-३॥

ज्वर से मुक्त होते ही वह, अपने मन मे यह विचार करने लगा कि, "अकारण-करुणा-वरुणालय श्रीहरि ने ही, अपने चरणारविन्दो की प्राप्ति के लिये ही मुझको जीवित किया है" यह बात निश्चित है, अन्यथा मेरे इस जीवन का सम्बन्ध नही रह सकता था। इसलिये मैं भी, सावधान होकर श्रीहरि की प्राप्ति के लिये अवश्य ही शीघ्रतापूर्वक प्रबल प्रयत्न करूँगा। क्योकि, करने योग्य कार्य को शीघ्रातिशीघ्र ही कर लेना चाहिये ? क्योकि,

अतो मयाऽवश्यमतन्द्रिताऽऽत्मना, यतिष्यते श्रीहरि - प्राप्तये द्रुतम् ।
द्रुन विधेय विदधीत नो यम, प्रतीक्षतेऽनेन कृत न ना कृतम् ॥५॥
सुदुर्लभ प्रोक्तमतीव मानुष, वपुस्ततो भारतभूतले जनु ।
ततोऽपि गङ्गा - यमुनाऽन्तरालके, व्रजे च वृन्दावनके ततोऽप्यहो ॥६॥
अनेक-जन्मान्त इद सुदुर्लभ, वपु समाश्रित्य य ऐहिके सुखे ।
करोति सङ्ग न हरौ सुखात्मके, जन तमानन्दपदाच्च्युत विदु, ॥७॥
जन स्वकाद् य परतोऽथवा गृहात्, सुजातवैराग्यबलोऽविलम्बितम् ।
निधाय चित्ते हरिपादपङ्कज, वन व्रजेत् त तु विदुर्नरोत्तमम् ॥८॥
कलत्र - पुत्रादिसुख तु देहिना, यथेच्छमन्यास्वपि सर्वयोनिषु ।
पुन पुनर्लब्धमपीह लभ्यते, हरिर्न मानुष्य - शरीरमन्तरा ॥९॥

यमराज, इस बात की प्रतीक्षा नही करता कि, "इस व्यक्ति ने अपना कार्य पूरा किया है अथवा नही ।" इस विषय मे यही प्रमाण है कि—

"श्व कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चाऽपराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्यु कृतमस्य न वा कृतम् ॥" अर्थात्—
"काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पल मे परलय होयगी, फेर करैगो कब" ॥४-५॥

सभी शास्त्रो मे मनुष्य शरीर अतिशय दुर्लभ कहा गया है, उस मे भी भारत भूमि मे जन्म लेना दुर्लभ कहा गया है, उस मे भी गगा-यमुना के बीच मे और उस मे भी व्रज मे, तथा उस से भी श्रीवृन्दावन मे जन्म लना तो और भी अधिक दुर्लभ बताया है ॥६॥

अनेको जन्मा के बाद इस सुदुर्लभ मनुष्य शरीर को, भगवत्कृपा से प्राप्त करके भी जो व्यक्ति इस लोक के सुख म ही आसक्ति करता है, किन्तु परमानन्दस्वरूप श्रीहरि मे नेक भी अनुराग नही करता, वेदशास्त्र के ज्ञाता जन उस को, परमानन्द के पद से गिरा हुआ ही समझते हैं ॥७॥

और जो व्यक्ति, अपने आप या दूसरे के हितोपदेश से उत्पन्न हुए सुन्दर वैराग्य के बल से युक्त हाकर, अपने हृदय मे, श्रीहरि के चरणकमल को धारण करके, अपने घर को छोडकर शीघ्र ही वन को चला जाता है, उसी को 'नरोत्तम' समझा जाता है । इसी विषय मे यही प्रमाण है—

(भा० १।१३।२६) "य स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तम ॥" ॥८॥

और देखो, इस जीव को अनेको जन्मो मे बारम्बार प्राप्त हुआ,

न जातु कामो विषयोपभोगत, समेति शान्ति वयसा विधेरपि ।
पुन पुनर्वर्धत एव प्रत्युत, यथेन्धनैर्वा हविषा तनूनपात् ॥१०॥

यथा सुख श्रीहरिपार्श्ववर्तिन-, स्तथा न चेन्द्रस्य न चक्रवर्तिन ।
विधेर्न किञ्चिद् द्विपरार्धजाविन, कुतोऽन्यजीवस्य भवेऽल्पजीविन ॥११॥

मयि त्ववश्य करुणा कृपानिधे-, रहो दुरात्मन्यपि सा व्यजायत ।
न चान्यथा तद्विमुख स्वभावत-, स्तदुन्मुखो वै भवितु जनोऽर्हति ॥१२॥

ममाऽभविष्यद् यदि साम्प्रत मृति, पुनर्नृदेहाऽऽप्तिरहो नु मत्कृते ।
तदाऽभविष्यन्नहि निश्चित त्विद, सुदुर्विभाव्या खलु कर्मणो गति ॥१३॥

स्त्री-पुत्र आदि का जो सुख है, वह तो, अन्य सब योनियो मे भी स्वेच्छापूर्वक उपलब्ध होता रहता है, किन्तु श्रीहरि, मनुष्य के शरीर के बिना नही मिल पाते ॥९॥

और देखो, यह काम, विषयो के उपभोग से तो ब्रह्मा की अवस्था से भी, कभी भी शान्ति नही प्राप्त कर पाता । बल्कि, ईधन एव हविष्यान्न के द्वारा अग्नि जिसप्रकार बढता रहता है उसी प्रकार, यह काम भी, विषयो के उपभोग से तो बारम्बार बढता ही रहता है । इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० ९।१९।१४)

"न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥" ॥१०॥

और देखो, श्रीहरि के निकट मे रहनेवाले व्यक्ति को जिस प्रकार का सुख मिलता है, उस प्रकार का सुख तो इन्द्र, चन्द्र एव चक्रवर्ती राजा को भी नही मिल पाता । अधिक क्या कहे ? वैसा सुख तो द्विपरार्धकाल पर्यन्त जीवित रहनेवाले ब्रह्मा को भी नही मिल पाता । फिर इस ससार मे अल्प काल जीनेवाले दूसरे जीव को कहाँ से मिल सकता है ? ॥११॥

अहह ! मुझ दुरात्मा के ऊपर तो, करुणानिधि उस प्रभु की वह अहैतुकी करुणा अवश्य ही हो गयी है । अन्यथा, यदि उनकी कृपा न होती तो, स्वभाव से ही उनसे विमुख मेरा जैसा जीव, उनके सम्मुख कभी भी नहीं हो सकता है । क्योकि, "इस समय अर्थात् उस ज्वर की स्थिति मे यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो, मेरे लिये पुन (दुबारा) मनुष्य-शरीर की प्राप्ति हो जाती," यह बात निश्चित नही है । क्योकि, कर्मो की गति अतर्क्य एव अचिन्तनीय कही गई है ॥१२-१३॥

अतो विहायाऽर्थविनाशनं नृणां, गृहं ततः सद्गुरुप्राप्ति - पूर्वकम् ।
वनं समाश्रित्य करिष्यते मया, मुकुन्दपादाब्जयुगस्य चिन्तनम् ॥१४॥
कुटुम्ब - पोषेण धनेहया दिनं, निशा व्यवायेन च निद्रयाऽथवा ।
कपोतवन्नाशयते गृही जनो, गृहे कथं स्याद् हरिपादयोः स्मृतिः ॥१५॥
बुधोऽपि किं कज्जलरञ्जिते गृहे, न रञ्जितः कज्जलरेखया भवेत् ।
इति व्यवस्थाप्य समेऽपि भूभृतो, विहाय राज्यं वनमाश्रयन् पुरा ॥१६॥
स इत्थमन्तःकरणे वने गतिं, विनिश्चिकायाऽथ विरागलब्धये ।
गृहे वसन्नेव च पाठयंस्तथा, चकार सेवां मनसा हनूमतः ॥१७॥
सुखाद् विरक्तिर्गृह एव चेन्द्रियात्, न यस्य नुस्तस्य वनं न श्रेयसे ।
स शिक्षयन्नित्यमतो गृहे वसँ-, स्तनोति वैराग्यमलं स्वमानसे ॥१८॥

इसलिये मैं तो, मनुष्यमात्र के मुख्य प्रयोजन को विनष्ट करनेवाले घर को छोड़कर, उसके बाद श्रीसद्गुरुदेव की प्राप्तिपूर्वक श्रीवृन्दावन में जाकर, श्रीकृष्ण के दोनों चरणकमलों का स्मरण करूँगा। क्योंकि, साधारण गृहस्थजन तो, अपने दिन को तो, कुटुम्ब के पालन-पोषण के द्वारा एवं धन कमाने की चेष्टा के द्वारा विनष्ट कर देता है तथा अपनी रात्रि को, स्त्री-प्रसंग अथवा निद्रा के द्वारा कबूतर की तरह व्यर्थ ही खो देता है। अतः ऐसे घर में, श्रीहरि के चरणो की स्मृति भी किस प्रकार हो सकती है। इस विषय में यही प्रमाण है—(भा० २।१।३)

"निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन् ! कुटुम्ब-भरणेन वा ॥" ॥१४-१५॥

और बताइये ? काजल के द्वारा पुते हुए घर में, कोई चतुर सावधान व्यक्ति भी, काजल की रेखा से अनुरञ्जि नही होगा क्या ? अपितु अवश्य ही होगा। अतएव "काजर की कोठरी में केतो हू सयानो होय, काजर की एक रेख लागिहै पै लागि है" यह कहावत सार्थक प्रसिद्ध है। इस प्रकार की व्यवस्था निश्चय करके ही पहले के सभी प्राचीन धार्मिक राजालोग, राज्य को छोडकर वन में रहे थे ॥१६॥

इस प्रकार अपने अन्तःकरण में उस रामप्रसाद ने भी वन में जाना ही निश्चय कर लिया। उसके बाद वह, वैराग्य की प्राप्ति के लिये, अपने घर मे रहकर, 'हिण्डौल' नामक गांव में प्राइमरी के छात्रों को पढाते हुए भी अपने मन से श्रीहनुमानजी की सेवा करता रहा ॥१७॥

देखिये ! जिन व्यक्ति के हृदय मे, घर मे रहकर ही, इन्द्रियो के सुख

जाता ततस्तस्य हि लोकबाह्योपमा दशा सप्तदिनान्त एव।
ततः स चाऽध्यापकतः प्रधानादल्पावकाशं किल याचयित्वा ॥१६॥
अहं तु गच्छाम्यधिकां हि विद्यां, प्राप्तुं द्रुतं पत्तनमागराख्यम्।
समागमिष्यामि ततः पठित्वा, चिन्ता मनाङ्नो हृदये विधेया ॥२०॥
इत्थं प्रसूं स्वामपि वञ्चयित्वा, चित्ते मुकुन्दं किल चिन्तयित्वा।
प्राप्तुं तथा सद्गुरु-पादपद्मं, प्रत्यूषकाले सहसा प्रतस्थे ॥२१॥
मलिम्लुचो वा निगडाद् विमुक्तो, बन्धाद् विमुक्तः कलभोत्तमो वा।
शुको विमुक्तः किल पञ्जराद् वा, गृहाद् विमुक्तः स चचाल हृष्टः ॥२२॥

सूर्योदय-वर्णनम्

ततः स प्राचीमुखमञ्चयन्तं, सिन्दूर-बिन्दुं किल वञ्चयन्तम्।
नैशं तमश्चापि विनाशयन्तं, सुपद्मजालानि विकाशयन्तम् ॥२३॥

से वैराग्य नही हुआ है, उसके लिये वन भी श्रेयस्कर नही हो सकता। वह रामप्रसाद इसी प्रकार की शिक्षा देता हुआ, घर में रहकर ही, अपने मन मे विशिष्ट वैराग्य का विस्तार करने लग गया। (इस सर्ग मे इस अठारहवे श्लोक तक 'वंशस्थ'–नामक छन्द है) ॥१८॥

उसके बाद तो, उस रामप्रसाद की, सातदिन के भीतर ही, लोकातीत व्यक्ति की-सी दशा हो गई। तदनन्तर उसने अपने प्रधानाध्यापक से थोड़े से दिन का अवकाश माँगकर, एव अपनी माता को भी "अरी मैया! देख, मैं तो, अधिक विद्या की प्राप्ति के लिये 'आगरा'–नामक नगर मे जा रहा हूँ, पढते ही वहाँ से शीघ्र ही चला आऊँगा। तू अपने मन मे नेक भी चिन्ता नही करना" इस प्रकार समझाकर, उसको भी धोखा देकर, अपने चित्त मे श्रीकृष्ण का स्मरण करके सद्गुरु के पादपद्मों की प्राप्ति के लिये, प्रात काल मे अचानक प्रस्थान कर दिया। (१६, २० श्लोक मे 'उपजाति' छन्द है और २१ वे श्लोक मे, 'इन्द्रवज्रा' नामक छन्द है। तीन श्लोक मे अन्वय होने के कारण 'विशेषक' भी है) ॥१६-२१॥

उस समय घर से विमुक्त हुआ वह रामप्रसाद, प्रसन्न होकर उस प्रकार चल दिया कि जिस प्रकार बेडी से छूटा हुआ डाकू, एव बन्धन से छूटा हुआ श्रेष्ठ हाथी का बच्चा, तथा पिंजरे से छूटा हुआ तोता, प्रसन्न होकर अपने गन्तव्य स्थान की ओर चल देता है ॥२२॥

सूर्योदय का वर्णन

उसके बाद कुछ दूर चलते ही उसने, उदयाचल का स्पर्शकरते हुए एव ऊपर की ओर उदय होते हुए सूर्यदेवका दर्शन किया। सूर्यदेव उस समय,

करैः शयानानिव बोधयन्तं, जगज्जनान् वस्तु निबोधयन्तम्।
उलूकवृन्दं बहु खेदयन्तं, रथाङ्गवृन्दं नहि खेदयन्तम्॥२४॥
प्रालेय-लेशानपि शोषयन्तं, नभः श्रियं कामपि पोषयन्तम्।
स्पृशन्तमेवोदयसानुमन्तं, ददर्श यन्तं किल भानुमन्तम्॥२५॥

फुलायमाशु पक्षिणो विहाय कूजतस्ततो,
वनाद् वनं प्रधावतः प्रियाभिरेव सर्वतः।
कुरङ्गशावकांस्तयाऽदतश्च शाद्वलं नवं,
वराहपोतकान् ददर्श धावतोऽन्यशङ्कया॥२६॥

अनेकभावदर्शिनाऽमुना वने वने तदा
पथिकलेन गच्छता मुहुर्मुहु. स्म हृष्यते।
स्वभावजा तु यादृशी भवत्यहो नु शोभिका
न तादृशी कदापि कृत्रिमा भवेन्मतं मम॥२७॥

पूर्वदिशारूप नायिका के मुखको सुशोभित कर रहे थे, सिन्दूरके विन्दु को भी तिरस्कृत कररहे थे, रात्रि के समस्त अन्धकार को विनष्ट कररहे थे, कमल-समूहों को विकसित कर रहे थे, अपनी किरणो के द्वारा मानो सोते हुए जनो को जगा रहे थे, ससार भर के जनो को अपने प्रकाश के द्वारा वस्तु मात्र का बोध करा रहे थे, उल्लुओंके समूहको विशेप दु खी कररहे थे; चकवा-चकवी के समूह को (परस्पर मिलाकर) विशेप सुखी कर रहे थे, ओस की बूँदों को सुखा रहे थे, एव आकाश की किसी अनिर्वचनीय शोभा को पुष्ट कर रहे थे। (इन श्लोकों मे, 'अन्त्यानुप्रास' तो स्पष्ट ही है। तीन श्लोलो मे अन्वय होने के कारण 'विशेषक' है, २४ वें श्लोक मे 'उपेन्द्रवज्रा' तथा २३-२५ मे 'उपजाति' छन्द है) ॥२३-२५॥

उसके वाद, उन पक्षियो को देखा कि, जो अपने अपने घोसलाओं को शीघ्रतापूर्वक छोडकर, अपनी अपनी सुमधुर वोलियों को वोलते हुए, अपनी अपनी प्रियाओ के साथ, एक वन से दूसरे वन की ओर, चारा ओर दौड रहे थे। तथा हिरन के उन वच्चाओ को देखा कि, जो हरी हरी एव नयी नयी घास चर रहे थे। एव सूकरो के उन वच्चाओ को देखा कि, जो दूसरे हिंसक जन्तुओं की शका से इधर उधर दौड़ रहे थे। उस समय प्रत्येक वन मे, अनेक प्रकार के भावो को अथवा पदार्थों को देखने वाला वह रामप्रसाद, अकेला ही मार्ग मे जाता हुआ वारम्वार प्रसन्न हो रहा था। क्योंकि, "स्वाभाविकी शोभा जिस प्रकार की मनोहर होती है उस प्रकार की वनावटी शोभा कदापि नही होती" यह मेरा अभिमत सिद्धान्त है।

अथ शरद्-ऋतुवर्णनम्

विकसिताऽमल - काशवराम्बरा, मृदुचलच्चल - सारसमालिकाम् ।
मृदुनदत्कलहस - पदाङ्गदा, मृदुवलत्कमलाऽऽननशोभिताम् ॥२८॥

स्थलजपद्म - विलोल - विलोचना, मधुकरेक्षणगोलक - शोभिताम् ।
स्थलसरोरुहतल्पगतामिव, स बुबुधे शरद धृत - विग्रहाम् ॥२९॥

हिमै राज्युद्भूतैर्नयनजलकल्पं प्रतिदिन
दिनादौ पत्रान्ताद् गलदमलविन्दुस्तटतरु ।
नदत्पक्षिव्यूहो हिमकरविहीना कुमुदिनीं
रुदन्नास्ते यस्या स्वजनमिव युक्त हि विपदा ॥३०॥

(इन दोनो श्लोको मे 'पञ्चचामर'–नामक छन्द है, एव 'स्वभावोक्ति' अलकार है) ॥२६-२७॥

शरद् ऋतु का वर्णन

उसके वाद, कुछ दूर चलकर तो उसने, अनेक लक्षणो को देखकर, मूर्तिमती शरद् ऋतु को ही आयी हुई समझ लिया । वह शरद् ऋतु, खिले हुए एव निर्मल कास नामक घासरूप वस्त्रो को धारण कर रही थी' कोमलता पूर्वक चलनेवाले चञ्चल सारस पक्षीरूप मालाओ को पहन रही थी, सुमधुर ध्वनि करनेवाले कलहसरूप नूपुरो को धारण कर रही थी, कोमलता पूर्वक खिलते हुए कमलरूप मुख से सुशोभित थी, स्थल मे उत्पन्न होनेवाले कमलरूप चञ्चल नेत्रो से युक्त थी, एव उन कमलोपर निश्चलभाव से वैठे हुए मधुकररूप नेत्र-गोलको से युक्त थी, और मानो स्थलकमलरूप-शय्यापर ही वह विराजमान थी । (इन दोनो श्लोको मे, 'द्रुतविलम्बित'–छन्द है एव साङ्गोपाङ्ग 'रूपक' अलकार है ॥२८-२९॥

और देखो, जिस शरद् ऋतु मे, प्रात काल के समय, अश्रुविन्दुओ के समान, रात्रि मे उत्पन्न हुए ओस के बिन्दुओ से युक्त, अतएव अपने प्रत्येक पत्र के अग्रभाग से निर्मल बिन्दुओ को नहानेवाला, नदी या सरोवर के तीरवाला जो वृक्ष है वह, अपने ऊपर वैठे हुए पक्षियो के समूह की ध्वनि से युक्त होकर, चन्द्रमा से रहित कुमोदिनी का प्रतिदिन इस प्रकार विलाप करता रहता है कि, जिस प्रकार कोई व्यक्ति, विपत्ति से युक्त अपने सग सम्बन्धी का विलाप करता है । यहापर ओस के बिन्दु ही अश्रु बिन्दु स्थानीय हैं, वृक्ष के पत्र ही नेत्र-स्थानीय हैं, पक्षियो का बोलना ही रोना है । इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है, एव 'समासोक्ति' अलकार है ॥३०॥

यत्राऽभृतानि च वनानि च नेत्रकल्पै–,रारूढषट्पदकुलैः कमलैश्च पुष्पैः ।
आलोकयन्ति किल विस्मयवन्ति शोभां,अन्योन्यजां स्वप्रियबन्धुमिवाऽऽदरेण।३१।

यत्र प्रभातपवनाऽऽहतिकम्पिताङ्गा,पीत भृशं कुमुदिनी-गतरेणुयोगात् ।
दूरीकरोति नलिनी कुपितेव भृङ्ग ,न स्वामिन किल सती सहतेऽन्यसक्तम् ।३२।

बिम्बागतैस्तटवनैः किल यत्र शोभां, दृष्ट्वा निजामपहृतां विमलैः पयोभि ।
विस्तारयन्ति हि तटानि सरोजलक्ष्मीं,सामर्षतां प्रकटयन्ति कु-पद्महासैः ।।३३।।

यत्र प्रदत्तमनसं मधुलेहि - गीते, शान्तक्रियं मृगवरं सहसा जिघांसुः ।
आकर्णयन् मुदितहससमूहनादान्,व्याधः शर त्यजति मुग्धतया न लक्ष्ये ।।३४।।

गर्जन् हरि. ससलिले खलु शैलकुञ्जे,यत्र प्रतिध्वनिमन स्वकृत निशम्य ।
उद्योगमाशु तनुतेऽन्यमृगेन्द्रशब्दं, सतर्कयन् परिभवाय सदैव तस्य ।।३५।।

और देखो, जिस शरद् ऋतु मे, जल एव वन, अपने अपने ऊपर बैठे हुए भ्रमर समूहो से युक्त अतएव नेत्रो के समान दिखाई देनेवाले कमल एव पुष्पो के द्वारा, परस्पर की शोभा को आश्चर्य से युक्त होकर, अपने प्रिय वन्धु की तरह, आदर पूर्वक देखते रहते हैं। (इकत्तीसवे श्लोक से लेकर, बावनवे श्लोक तक 'वसन्ततिलका'–नामक छन्द है) ।।३१।।

और जिस शरद् ऋतु मे, प्रभाती वायु की टक्कर से कम्पित अङ्गो-वाली कमलिनी, कुमोदिनी मे विद्यमान पराग के सम्बन्ध से अतिशय पीले वर्णवाले भ्रमर को, कुपित हुई प्रौढा-नायिका की तरह दूर भगा रही है। क्योंकि, यह बात लोक एव शास्त्र मे सर्वत्र प्रसिद्ध है कि, सती नारी, अन्यनारी मे आसक्त हुए अपने पति को बिल्कुल नही सहती है ।।३२।।

और जिस शरद् ऋतु मे, नदी एव सरोवरो के जो तट (तीर) हैं वे सब, निर्मल जलो के द्वारा, अपने मे प्रतिबिम्बितरूप से आये हुए तीरस्थ वनो के बहाने से, अपनी शोभा को चुराई हुई देखकर, अमर्षवाले का-सा भाव प्रकट करते हुए, स्थलकमलरूप परिहासो के द्वारा, जलस्थकमलो की शोभा का विस्तार कर रहे हैं।।३३।।

और जिस शरद् ऋतु मे, भ्रमरो के सुमधुर गीत मे मन को लगाने-वाले, अतएव शान्तक्रियावाले अर्थात् निश्चल शरीरवाले श्रेष्ठ मृग को मारने की इच्छावाला व्याध भी, प्रसन्न हुए हस समूहो की सुमधुर ध्वनियो को सुनता हुआ, विमुग्धता के कारण, अपने लक्ष्यपर भी, बाण को नही छोड रहा है ।।३४।।

और जिस शरद् ऋतु मे, जल से युक्त पर्वत की निकुञ्ज मे गर्जना

नीराणि चाऽल्पसरसां सरसां नदीनां,यातानि चाऽऽत्मप्रकृतिं शरदःप्रभावैः।
भ्रष्टानि योगिहृदयानि कुसङ्गि-सङ्ग-,रष्टाङ्गयोगविधिनेव पुन स्थिराणि॥३६॥
पङ्कं भुवो मलमपां नभसश्च मेघान्, सङ्कीर्णतां जनिमतां च शरज्जहार।
सर्वाश्रमांश्च गृहिणा वनिनां यतीनां, भक्तिर्हरौ हरति यद्वदशेषदुःखम् ॥३७॥
मेघा विरेजुरपहाय जलं समस्तं,त्यक्तैषणा मुनिगणा इव शुभ्रवर्णाः ।
सर्वत्र नैव मुमुचुर्गिरयो जलं स्व,ज्ञानामृतं ददति नैव यथाऽऽत्मरामाः ॥३८॥
न क्षीयमाणमविदञ्जलजा जलं वा, मूढा कुटुम्बिन इवायुरपि क्षयिष्णु ।
प्रापुस्तथाऽल्पजलजा शरदर्कतापं,लोके यथेन्द्रियगणैः कृपण कुटुम्बी ॥३९॥

करता हुआ सिंह, अपने द्वारा की हुई गर्जना की प्रतिध्वनि को विशेषरूप से सुनकर, दूसरे प्रतिद्वन्द्वी सिंह के शब्द की तर्कना करता हुआ, उसके अनादर के लिये शीघ्रतापूर्वक सदैव उद्योग करता रहता है ॥३५॥

और देखो, कुसङ्गियो के सङ्ग से भ्रष्ट हुए योगियों के चित्त, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-रूप अष्टाङ्ग योग की विधि के द्वारा जिस प्रकार पुन. स्थिर हो जाते है, ठीक उसी प्रकार, छोटे बड़े सरोवरो के एव सभी नदियो के जल भी, उस शरद् ऋतु के प्रभावो से पुन अपने स्वरूपको प्राप्त हो गये । अर्थात् शरदृतु के प्रभाव से सभी जल स्वत निर्मल हो गये ॥३६॥

और देखो, श्रीहरि के निमित्त की जानेवाली दृढ-भक्ति, जिसप्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, एवं सन्यासियो के भी समस्त दु ख को हर लेती है, ठीक उसी प्रकार उस शरद् ऋतु ने भी, भूमि के कीचड को, जलो के मल को, आकाश से मेघो को, एव वर्षा के कारण होनेवाले प्राणियो के सम्मेलन, सकोच या भीडभाड को, बिल्कुल हर लिया ॥३७॥

और देखो, पुत्रैषणा, वित्तैषणा एव लोकैषणा को त्यागनेवाले मुनिगण जिस प्रकार शोभा पाते है उसी प्रकार मेघगण भी समस्त जल को छोडकर शुक्लवर्णवाले होकर सुशोभित हो गये । और आत्माराम मनिजन, अपने ज्ञानामृत को जिस प्रकार सर्वत्र नही देते, अर्थात् अनधिकारियो मे नहीं बरसाते, उसी प्रकार पर्वतगण भी शरद् ऋतु मे अपने जल को सर्वत्र (सब जगह) नही छोड रहे थे ॥३८॥

और देखो, विमूढ कुटुम्बीजन, प्रतिक्षण क्षीण होनेवाली अपनी आयु को भी जिस प्रकार नही जान पाते, उसी प्रकार जल मे उत्पन्न होनेवाले मछली आदि जन्तु, प्रतिक्षण क्षीण होते हुए जल को भी नही जान रहे थे । और इस लोक मे कृपण (गरीब) कुटुम्बीजन, जिसप्रकार अपनी इन्द्रियो

आमं जहुश्च लतिकाः स्थलकानि पङ्कं,धीरा यथाऽऽत्मरहिते ममतामहन्ताम् ।
तूष्णीं बभूव जलधिः शरदागमेन,ध्याने निवेशितमना इव वेदघोषात् ॥४०॥

कैदारकाच्च रुरुधुः कृषिका पयांसि, योगीन्द्रियाणि च यथा विषयान्तरेभ्य ।
निर्मेघमम्बरमशोभन निर्मलर्क्ष, कामादिदोषरहितो महतामिवाऽऽत्मा ॥४१॥

आलोकयत् क्वचिदसौ शरदर्कतापं -,स्पृष्णोदकानुपरि शीतजलानथाऽन्त ।
कासारकान् स्थगितचञ्चलचक्रवाकान्,सन्मानवानिव हि दुर्जनवाक्यतप्तान् ।४२।

मेने स यामुनजले शरदब्दबिम्ब, कृष्णाऽवगाहनसुख किमु लब्धुकामा ।
शैव कपर्दमपहाय विचित्रलीला, गङ्गैव गर्भवसति नु समाससाद ॥४३॥

के द्वारा सन्ताप प्राप्त करता रहता है, उसी प्रकार थोडे से जल मे, रहनेवाले मछली आदि जन्तु, शरत्कालीन सूर्य के ताप को प्राप्त कर रहे थे ॥३९॥

और देखो, धीर गम्भीर ज्ञानी व्यक्ति, आत्मतत्त्व से रहित शरीर एव पुत्र पौत्र आदि मे, जिस प्रकार अहन्ता ममता आदि को छोड देते हैं उसी प्रकार उस शरद के आते ही, सभी प्रकार की लताओं ने अपने कच्चेपन को छोड दिया, एव सभी स्थलो ने कीचड को छोड दिया । और ध्यान मे मन को लगानेवाला व्यक्ति जिस प्रकार वेद की ध्वनि करने से चुप हो जाता है, उसी प्रकार शरद के आगमन से समुद्र भी चुप हो गया । कारण—उस समय नदियो का प्रवाह कम हो जाता है ॥४०॥

और देखो, योगीजन जिस प्रकार अपनी समस्त इन्द्रियो को अन्यान्य विषयो से रोकते रहते है, उसी प्रकार किसान लोग भी, अपने अपने खेतो के समूह से बहनेवाले जलो को रोकने लग गये । और महात्माओ का मन जिस प्रकार कामादि दोषो से रहित होकर सुशोभित होता है उसी प्रकार शरद् ऋतु का आकाश, मेघो से रहित होकर अतएव निर्मल-तारागणो से युक्त होकर, सुशोभित हो गया ॥४१॥

उस रामप्रसाद ने चलते चलते, किसी स्थान पर ऐसे सरोवरो को देखा कि, जो ऊपर से तो, शरत्कालीन सूर्य की गर्मी के कारण गरम जलवाले हो रहे थे, एव भीतर से शीतल जल से ही परिपूर्ण थे, तथा चञ्चलता से रहित चकवा चकवी के समूहो से युक्त थे । उस समय वे सरोवर, उस प्रकार से शोभा पा रहे थे कि जिस प्रकार दुर्जनो के वाक्यो से बाहर से ही सन्तप्त हुए सज्जनगण, भीतर से शीतल होकर ही शोभा पाते रहते है ॥४२॥

आगे चलकर, श्रीयमुना के जल मे शरत्कालीन मेघ के प्रतिबिम्ब

विच्छायपहार - गतभ च स नीन कण्ठ,चौरैर्बलाद् हृत-धन जनमेव मेने ।
वाचयम च किल चातकमभ्रचित्तं,ध्यानानुरक्तहृदयं मुनिमेव मेने ॥४४॥

विविध - पङ्कजसौरभ - लालितो, मधुकरस्तवकै स्तवकै स्तुत ।
पवनदिग्गज - मोदविधायक, सुदयति स्म मनोहर - मारुत ॥४५॥

श्रीमधुपुरी-शोभावर्णनम्

एव हि शारदगुणानवलोकमान, श्रीयामुने पयसि बिम्बितसर्वहर्म्याम् ।
श्रीकृष्णजन्ममहितां महता सुखाप्या, मध्येदिन मधुपुरीं स ददर्श गच्छन् ॥४६॥

आकाशचुम्बिशिखरैर्भवनैरुपेता, अट्टालिकाशतवृता हरिमन्दिराढ्याम् ।
कोटीन्दुसुन्दर-निकेतन-कान्तकान्त्या, कैलासपर्वतमपीह विडम्बयन्तीम् ॥४७॥

को देखकर, रामप्रसाद ने अपने मन मे यही मान लिया कि, अपने मे श्रीकृष्ण के स्नान से उत्पन्न होनेवाले सुख को प्राप्त करने की इच्छा से युक्त होकर, अतएव शिवजी के जटाजूट को छोडकर, मानो विचित्र लीलावाली गगा ही, श्रीयमुना के गर्भ मे रहने को अङ्गीकार कर रही है क्या ? यहाँ पर 'उत्प्रेक्षा' अलकार है ॥४३॥

और शरद् के कारण जिसके सारे पङ्ख गिर चुके हैं, अतएव जो शोभा से रहित हो रहा था, उस प्रकार के मयूर को, रामप्रसाद ने, जिसका धन चोरो ने बलपूर्वक हर लिया है मानो उसी प्रकार के जन को ही मान लिया । और जिसका चित मेघ मे ही लगा हुआ है, अतएव मौनी बने हुए चातक (पपीहा) को, उसने, मानो ध्यान मे अनुरक्त हृदयवाले मुनि को ही मान लिया ॥४४॥

उस समय, अनेक प्रकार के कमलो की सुगन्ध से लालित, एव मधुकर समूहो की स्तुतियो के द्वारा प्रशसित, तथा वायु कोण के दिग्गज को प्रसन्न करनेवाला मनोहर वायु, थके हुए रामप्रसाद को सुखी करने लग गया (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४५॥

श्रीमथुरापुरी की शोभा का वर्णन

इस प्रकार शरद् ऋतु के गुणो को अवलोकन करनेवाले रामप्रसाद ने, चलते चलते मध्याह्न के समय उस मधुपुरी (मथुरा) का दर्शन किया कि, जिसके सभी भवन, श्रीयमुनाजी के जल मे प्रतिबिम्बित हो रहे थे, एव जो, अजन्मा श्रीकृष्ण के जन्म से पूजित थी, एव महात्माओ के लिये सुख से प्राप्त करने योग्य थी ॥४६॥

एव वह मथुरा, आकाश का चुम्बन (स्पर्श) करनेवाले शिखरो से युक्त भवनो से युक्त थी, सैकडो अटारियो से युक्त थी श्रीहरि के अनेको

संसिक्त-राजपथ-चत्वर-पण्यवीथीं, सकीर्ण-लाजकुल-तण्डुल-पूगदूर्वाम् ।
उत्फुल्ल-पङ्कजकुलैर्विमलैः सरोभि-,रुद्यान-निष्कुटशतैरभितोऽभिरामाम्॥४८॥
स्रग्गन्धमाल्यविरजोऽम्बर - भूषणाद्यै -,र्जुष्टैर्धनैरुपचितै पुरुषैरुपेताम् ।
उत्तुङ्गतोरणमुखे च बृहत्कपाटां, सर्वत्र केतुकुल-वारित-सूर्यतापाम् ॥४६॥
दृष्ट्वा गवाक्षगलितं किल धूपधूमं, नीराजनोचित-मृदङ्गदरादिशब्दम् ।
श्रुत्वा विचित्रवलभीषु च नीलकण्ठा,नृत्यन्ति यत्र घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥५०॥
यद्वासिनामुदयते हृदये च भक्ति-,मुक्तिं तु दर्शनत एव मुदा ददानाम् ।
काशीशमुख्यसुरवन्दितपादपद्मां, वैकुण्ठनाथमुखकीर्तित - कीर्तिमालाम् ॥५१॥

मन्दिरो से युक्त थी, तथा करोडो चन्द्रमाओ के समान सुन्दर भवनो की सुमनोहर कान्ति के द्वारा तो, यहाँ पर कैलासपर्वत को भी तिरस्कृत कर रही थी ॥४७॥

और उस मथुरा के सभी राजमार्ग, आँगन, चबूतरे, बाजार, एव सभी गलियाँ सुगन्धित जल से सीची हुई थी, सभी जगह खील, तण्डुल, सुपारी एव दूर्वादलो से व्याप्त थी, एव खिले हुए कमल समूहो से परिपूर्ण निर्मल सरोवरो से, तथा फलो के बगीचे एव सैकडो प्रकार की पुष्प-वाटिकाओ से चारो ओर मनोहर लग रही थी ॥४८॥

एव वह मथुरा, मणियो की माला, इत्तर फुलेल तथा पुष्पो की माला, निर्मल वस्त्र, एव अनेकप्रकार के भूषण आदि से युक्त और धनो के द्वारा बढे-चढे पुरुषो से युक्त थी । एव अतिशय ऊँचे बाहिरी दरवाजे पर लगे हुए भारी किवाडो से युक्त थी, तथा उस पुरी मे सभी जगह, सूर्य की धूप, ध्वजा पताकाओ के समूहो से ही दूर की जा रही थी ॥४६॥

और जिस मथुरा मे, विचित्र चन्द्रशालाओ के ऊपर बैठे हुए मयूरगण, भवनो की खिडकियो मे से निकलते हुए धूप के धुआँ को देखकर, एव मन्दिरो की आरती के योग्य, मृदङ्ग, एव शख, घडियाल आदि के शब्द का सुनकर, "ये बादल ही गरज रहे है क्या ?" इस बुद्धि से ऊँचे स्वर से बोलते हुए नृत्य करते रहते हैं ॥५०॥

और उस मथुरा मे निवास करने वालो के हृदय मे, भक्ति महारानी तत्काल प्रगट हो जाती हैं । एव वह मथुरा, मुक्ति को तो, अपने दर्शनमात्र से ही हर्षपूर्वक दे रही थी । और उस मथुरापुरी के चरणकमल, शकर प्रभृति सभी देवताओ के द्वारा वन्दित है तथा उसकी कीर्तिश्रेणी, श्रीवैकुण्ठ-नाथ के श्रीमुख से स्वय गायी गयी है ॥५१॥

एव विलोक्य मथुरामरुणप्रकोष्ठां विश्रान्तिघट्टमुपसृत्य ननाम सौरीम् ।
विश्रम्य यामुनजले बहुपुण्यलभ्ये,स्नात्वाकृतार्थयदसौ जननं स्वकीयम् ॥५२॥

श्रीयमुनाया वर्णनं स्तुतिश्च

श्रीवृन्दावनधामदां च भजतां श्रीकृष्णदृष्टिप्रदां
स्वेभ्यो दर्शनमात्रतोऽपि नितरा श्रीकृष्णभक्तिप्रदाम् ।
श्रीकृष्णस्य सदैव ध्यानवशतः श्यामायमानामिव
दृष्ट्वा श्रीयमुनां च भक्तिसहितस्तुष्टाव सूर्यात्मजाम् ॥५३॥

त्वयि स्नाता ध्याता तव सलिलपाता नमयिता
स्तुतेः कर्ता धर्ता तव रजसि मर्ता रविसुते ! ।
न चैवाऽऽर्यां वक्ता शमनसदने याति यमुने !
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५४॥

मुरारातेः कायप्रतिमललितं वारि दधतीं
कलिन्दाद्रेः शृङ्गादपि पतनशीलां गतिमतीन् ।

इस प्रकार अरुणवर्ण के परकोटावाली मथुरापुरी को देखकर, विश्राम घाट के निकट जाकर, रामप्रसाद ने, सूर्यपुत्री यमुना को नमस्कार किया। कुछ देर विश्राम करके, प्राचीन बहुत से सुकृतो के द्वारा प्राप्त करने योग्य श्रीयमुना जल मे स्नान करके, उसने अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया ॥५२॥

श्रीयमुनाजी का वर्णन एव स्तुति

उसके बाद, अपनी अहैतुकी कृपा से श्रीवृन्दावन धाम को देनेवाली, श्रीकृष्ण के [दर्शन के योग्य दृष्टि को देनेवाली, एव अपने भक्तो के लिये, दर्शनमात्र से ही, श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति को देने वाली तथा मानो, सदैव श्रीकृष्ण के ध्यान से ही श्यावर्णवाली, सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी का दर्शन करके, वह रामप्रसाद, हाथ जोडकर, श्रीयमुनाजी की स्तुति करने लग गया ॥५३॥

हे सूर्यपुत्रि ! यमुना मैया ! देख, तुझ मे स्नान करने वाला, तेरा ध्यान करनेवाला, तेरे ही जलका पान करनेवाला, तुझको नमस्कार करनेवाला, तुम्हारी स्तुति करनेवाला, तुम्हारी स्तुति को धारण करनेवाला, तुम्हारी रेती मे मरनेवाला, एव तुम्हारा नाम-कीर्तन करनेवाला व्यक्ति, यमराज के घर मे नही जाता है। अत नित्यस्वरूपवाली तथा सकलगुण-परिपूर्ण तुमको, हम बारम्बार नमस्कार करते हैं ॥५४॥

स्वपादाब्जं ध्यातुर्जनिमरणशोकं वितुदतीं
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५५॥

कदम्बानां पुष्पावलिभिरनिशं रूषितजलां
विधीन्द्राद्यैर्देवैर्मुनिजनकुलैः पूजितपदाम् ।
भ्रमद्गोगोधुग्भिर्विहगनिकरैर्भूषिततटां
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५६॥

रणद्भृङ्गश्रेणीविकसित - सरोजावलियुतां
तरङ्गान्तर्भ्राम्यन्मकरसफरीकच्छपकुलाम् ।
जलक्रीडद्रामानुज - चरणसंश्लेषरसिकां
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५७॥

तरुश्रेणीकुञ्जावलिभिरभितः शोभिततटां
महोक्षाणां शृङ्गावलिभिरभितो मर्दिततटाम् ।
स्थितां वृन्दाटव्यां सततमभितः पुष्पितवनां
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५८॥

तथा—श्रीश्यामसुन्दर के श्यामवर्णवाले श्रीविग्रह के समान सुन्दर जल को धारण करने वाली, एव 'कलिन्द'-नामक पर्वत के शिखर से भूतल-पर गिरनेवाली, अतएव विशेष गतिवाली, एव अपने चरणकमल का ध्यान करनेवाले जन के, जन्म-मरण के शोक को दूर करनेवाली, नित्यस्वरूपवाली, सकलगुण परिपूर्ण तुमको, हम वारम्बार नमस्कार करते है ॥५५॥

एवं—तीरपर विराजमान कदम्बों की पुष्पश्रेणियों के द्वारा सुशोभित जलवाली, ब्रह्मा, शिव एवं इन्द्र आदि देवता, तथा मुनिजनो के द्वारा पूजित-चरणोंवाली, प्रतिदिन भ्रमण करनेवाले गोगण एवं गोपगण तथा पक्षियों के समूह के द्वारा विभूपित तटवाली, सूर्यपुत्री, तुमको हम वारम्वार नमस्कार करते है ॥५६॥

हे यमुने ! तुम तो, गुञ्जार करनेवाले भ्रमरो की श्रेणी से युक्त एव खिले हुए कमलों की श्रेणी से युक्त हो; तथा तरङ्गों के बीच मे घूमनेवाले मगर, मछली, एव कछुआओ की श्रेणी से युक्त हो; और तुम्हारे जल मे नित्यक्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण के आलिङ्गन की रसिक भी हो, अतएव सकलगुणगणपरिपूर्ण हो, नित्यस्वरूपवाली हो, तुमको हम नित्य नमस्कार करते है ॥५७॥

तुम्हारे सभी तट, अनेक प्रकार के वृक्षों की श्रेणी एव निकुञ्जों की पंक्तियों के द्वारा, चारो ओर से सुशोभित हैं; तथा कही-कही तुम्हारे तट,

निशायां यस्यां बिम्बितममलतारागणमहो
विलोक्योत्कण्ठन्ते सकलसफरा अत्तु मनिशम् ।
विकीर्णं लाजानां निकरमिति मत्वा सरभसं
नमामस्तां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥५९॥

शरन्मेघच्छाया सकलमनुजैर्यत्सलिलगा
हरेः स्वस्यामाप्तुं स्नपनमिति बुद्धया सरभसम् ।
किमायाता गर्भे सुरसरिदिहो तवर्यंत इति
नमामस्तां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥६०॥

नृणामीक्षामात्रदपि सकलसौख्यं विदधतीं
अनायासेनेशऽखिलभुवनभोग्यं प्रददतीम् ।
स्वकान्तीनां व्यूहैर्बलभिदुप न चापि तुदतीं
नमामस्त्वां नित्यां सकलगुणयुक्तां रविसुताम् ॥६१॥

बड़े भारी डीलडौलवाले वेगों में सीगो की श्रेणी के द्वारा, चारो ओर से मर्दित दिखाई दे रहे है, एवं तुम, श्रीवृन्दावन में अपने मूर्तिमान दिव्य रूप से सदा विराजमान रहती हो, आपके तीरवर्ती सभी वन उपवन पुष्पित हो रहे है। इस प्रकार की तुमको, हम बारम्बार नमस्कार करते है ॥५८॥

हम, सूर्यनन्दिनी उन श्रीयमुना को नमस्कार करते है कि, जो नित्य-स्वरूपवाली है, समस्त दिव्यगुणों से युक्त है। एवं रात्रि के समय मे, जिसके जल मे, प्रतिबिम्बित हुए निर्मल तारागणो को, सभी मछलियाँ, किसी के द्वारा फैलाई हुई खीलों के समूह को समझकर, हर्ष एवं वेगपूर्वक निरन्तर खाने की उत्कण्ठा करती रहती हैं ॥५९॥

हम, उस श्रीयमुना को नमस्कार करते हैं कि, जिसके जल मे प्रतिबिम्बित हुई, शरत्कालीन मेघ की छाया को देखकर, तीरवर्ती सभी जन, इस प्रकार की उत्प्रेक्षा करते है कि, "अपने मे श्रीकृष्ण के स्नान को प्राप्त करने के लिये, देवनदी श्रीगंगा ही, श्रीयमुना के गर्भ मे आ गयी है क्या ? ॥६०॥

एवं—मानवमात्र के लिये, अपने दर्शनमात्र से, समस्त सुखों का प्रबन्ध करनेवाली, एवं समस्त भुवनों मे भोगने योग्य पदार्थ को अनायास देनेवाली, तथा अपनी श्यामकान्ति की श्रेणियों के द्वारा, इन्द्रनीलमणि के गर्व का खण्डन करनेवाली तुमको हम नित्य नमस्कार करते है ॥६१॥

ममैषा विज्ञप्तिः पदकमलयोस्ते तरणिजे !
वटे हा भाण्डीरे तव विमलतीरे निवसतः।
हरे कृष्णेत्युच्चैरपि च तव नामानि गदतः
सदा वृन्दारण्ये जननि ! जननं यातु मम वै ॥६२॥

किमायाता कालः स इह जनने मे हतविधे-
र्यदाऽऽयातः कृष्णो मधुमधुरवाङ्निर्झरजलैः।
श्रुतेर्मार्गं सिञ्चन् करकमलयुग्मेन सहसा
मदङ्गं स्वाङ्गे हा व्रततिमिव वृक्षो गमयिता ॥६३॥

इदं स्तोत्रं प्रातः पठति यमुनाया प्रतिदिनं
शरीरी यस्तस्योपरि भवति प्रीता रविसुता।
हरे प्रेष्ठो भूत्वा हरिचरणभक्तिं च लभते
भुवो भोगान् भुक्त्वा व्रजति मरणाऽन्ते हरिपदम् ॥६४॥

पश्चाद् विहाय गृहिणां सदृशं स वेष
सधार्य वर्णिसदृशं स्वयमित्युवाच।

हे सूर्यनन्दिनि ! यमुना मैया ! तुम्हारे चरणकमलो मे, मेरा तो यही विज्ञापन है कि,--"अहह !!! कभी भाण्डीर वट के निकट, एव तुम्हारे निर्मलतटपर निवास करते हुए, एवं उच्चस्वर से 'हरे कृष्ण' इत्यादि महामन्त्र का उच्चारण करते हुए, तथा तुम्हारे नामो का उच्चारण करते हुए, मेरा जीवन तो, सदा वृन्दावन मे ही व्यतीत हो जाय" ॥६२॥

अहह !!! हत भागे मेरे इस जीवन मे, कभी ऐसा वह समय भी आयेगा क्या ? कि, जिसमे मेरे प्यारे श्रीकृष्ण, मेरे सामने आकर, मधु से भी मधुर अपने वचनरूपी जलो के द्वारा, मेरे कानो के मार्ग को सरस बनाते हुए, अपने दोनो करकमलों के द्वारा, मेरे शरीर को अपने शरीर मे अचानक उस प्रकार लिपटा लेंगे कि, वृक्ष जिस प्रकार लता को, अपने अङ्ग मे लिपटा लता है ॥६३॥

जो व्यक्ति, इस यनुनास्तोत्र का पाठ, प्रतिदिन प्रात.काल किया करेगा, उसके ऊपर श्रीयमुनाजी प्रसन्न हो जायेंगी। और वह व्यक्ति, श्रीकृष्ण का अतिशय प्यारा होकर, श्रीकृष्ण के चरणो की भक्ति का लाभ कर लेगा, तथा भूमि के भोगो को भोगकर, अन्त मे श्रीहरि के धाम को, अनायास प्राप्त कर लेगा ॥६४॥

अत्स्यामि नान्नमितरात् किल याचयित्वाऽ-
नापृच्छ्य नैव चटितास्मि च वाष्पयानम् ॥६५॥

श्रीद्वारकाधीश-वर्णनम्

संकल्प्यैवमथाऽऽगमत् स भवनं श्रीद्वारकाऽधीशितु-
र्दृष्ट्वा तं च चतुर्भुजं शशिनिभां मालां दधानं गले।
मेघाभं तडिदम्बरं स्मितमुखं सिंहासनस्थं विभुं
भक्तेच्छाऽनुगतञ्च पिच्छमुकुटं प्रेम्णाऽनमद् दण्डवत् ॥६६॥

कथमहं करवाणि तवस्तवं, स्तव - कथां तव वेद्मि न मूढधी।
मयि तथा कुरु हे भगवन्! कृपां, गुरुवरं समुपैमि यथा द्रुतम् ॥६७॥

श्रीकृष्णनाम निगदन् निगदन्तमन्यं, दृष्ट्वा तुतोष मनुजं हरिदर्शनेच्छुम्।
यो दर्शनं प्रतिदिनं कुरुते मनुष्यः, श्रीद्वारकाप्रभुवरस्य स भूरिभाग्यः ॥६८॥

श्रीयमुनाजी की स्तुति करने के बाद, गृहस्थो के-से वेष को छोड़कर, एव ब्रह्मचारियो के-से वेष को धारण करके वह रामप्रसाद, अपने मन मे स्वय इस प्रकार बोला कि, "मैं, किसी दूसरे से माँगकर कुछ भी अन्न नही खाऊँगा एव टिकट के अभाव मे, बिना पूछे रेलगाडी मे भी नही चढूँगा" ॥६५॥

श्रीद्वारकाधीश का वर्णन

पूर्वोक्त प्रकार का सकल्प करके वह रामप्रसाद, श्रीद्वारकाधीश के मन्दिर मे चला आया। और चतुर्भुजधारी प्रभु का दर्शन करते ही उसने प्रेमपूर्वक दण्डवत् प्रणाम किया। उस समय श्रीद्वारकाधीश, अपने गले मे, चन्द्रमा के समान सफेदकान्तिवाली पुष्पमाला को धारण किये हुए थे, सजल-जलधर के समान थे, बिजली के समान चमकीला पीताम्बर धारण कर रहे थे, उनके मुखारविन्दपर मन्द-मुसकान झलक रही थी; सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान थे, एव भक्तो की इच्छा के अनुगत थे, और मस्तकपर मोरमुकुट से सुशोभित थे ॥६६॥

दर्शन करते ही प्रार्थना करता हुआ रामप्रसाद बोला कि, हे भगवान्! मैं, आपकी स्तुति किस प्रकार करूँ, क्योंकि, मूढबुद्धिवाला मै, तुम्हारी स्तुति की कथा को ही नही जानता हूँ। अत प्रभो! मेरे ऊपर तो आप उस प्रकार से कृपा करो कि, जिस प्रकार सद्गुरुदेव को शीघ्र ही प्राप्त कर लूँ ॥६७॥

पश्चात् श्रीकृष्ण का नाम कीर्तन करता हुआ रामप्रसाद, श्रीहरि के दर्शन की इच्छावाले एव मुख से नाम कीर्तन करनेवाले दूसरे पुरुष को

सन्ध्या-वर्णनम्

दिनान्त - मेघाम्बर - संवृताङ्गी, विहङ्गमालाभिरलंकृताङ्गी।
के सूर्यसिन्दूरमहो दधाना, समागता मूर्तिमतीव संध्या ॥६९॥

प्रदोष-वर्णनम्

अपिदधानमिवाऽसितवाससा, भुवनमेव प्रदोषमवासृजत्।
दिनमणिः क्रमशो विगतप्रभ-, स्त्वनुसृतस्तमसाऽस्तमवाप च ॥७०॥

न निर्यति क्रमितुं क्षमते जनो, जगति कोऽपि बलादिति शिक्षयन्।
त्रिजगतामुपरि प्रथयन् यशो, निविविशे चरमाऽद्रिगुहां रवि ॥७१॥

दिनपतौ विलयं गतवत्यहो, दिवसभाऽप्यसकृद् विकलस्वना।
मलिनकान्तिकला विरहाकुला, समभवत् सहसा सह सारिणी ॥७२॥

देखकर, सन्तुष्ट हो गया। क्योंकि जो मनुष्य, प्रभुवर-श्रीद्वारकाधीश के प्रतिदिन दर्शन करता है, वह महान् सौभाग्यशाली है ॥६८॥

संध्या का वर्णन

इतने मे ही, सायकालीन-मेघरूप वस्त्रो से ढके हुए अगोवाली, एव अपने-अपने घोसलाओ मे जानेवाले पक्षियो की मालाओ से अलकृत अगोवाली, तथा अपने मस्तकपर, सायकालीन सूर्यरूप सिन्दूर को धारण करती हुई, मानो मूर्तिमती सध्यादेवी, आकर उपस्थित हो गई। (इस श्लोक मे 'उपजाति' छन्द है एव साङ्गोपाङ्ग रूपक' अलकार है ॥६९॥

प्रदोष का वर्णन

सध्या देवी के आते ही सूर्य भगवान्, मानो भुवनमात्र को काले वस्त्र से ढकनेवाले प्रदोष को उत्पन्न करते हुए, क्रमशः प्रभा से रहित होकर, एव अन्धकार से अनुगत होकर अस्त हो गये। अर्थात् उनके अस्त होते ही पीछे से अन्धकार आ गया। (७०वे श्लोक से ७४वे श्लोक तक *'द्रुतविलम्बित'* छन्द हैं) ॥७०॥

"इस ससार मे, कोई भी जन, बलपूर्वक भी, दैव का अतिक्रमण नही कर सकता, अर्थात् विधि के विधान को नही टाल सकता" इस बात की शिक्षा देते हुए सूर्य भगवान्, अपने यश को तीनो लोको के ऊपर विस्तारित करते हुए, अस्ताचल की गुफा मे, प्रविष्ट हो गये ॥७१॥

अहह! दिनपति (सूर्य) के अस्त होते ही, दिन की कान्ति भी, विकलस्वरवाली होकर, मलिन कान्ति की कला से युक्त होकर, एव दिनरूप पति के विरह से व्याकुल होकर, अचानक दिन के साथ ही चली गई ॥७२॥

वधिरितश्रवणः सततस्त्वनै-, रतिसमीपजनो जन - सकथाम् ।
जलनिमग्न इवाऽम्बुदगर्जितं, किमदपि व्यशृणोत् कियदन्वमात् ॥७३॥

चलति रात्रिपतावुदयाचलं, मदुलहासकृतो नवतारकाः ।
स्वमिव वस्तु निवेदयितुं क्रमात्, समुदगुर्गगने प्रियबन्धवे ॥७४॥

रात्रि-वर्णनम्

ज्योत्स्नाऽम्बरावृततनुः किल चन्द्रपुण्ड्रा,नक्षत्र-दन्तप्रकटीकृत-हास्यलीला ।
शान्तिप्रदा कुमुदिनी-रचिताऽवतंसा,प्रावर्तताऽऽशु ननु मूर्तिमतीव रात्रिः॥७५॥

शममगाच्छरदर्कनिपीडितः कुमुदिनी मुमुदे सहकौशिका ।
नु नलिनी दुदुवे सरथाङ्गका, नहि विधेर्विधिरस्ति सदा सम. ॥७६॥

सूर्यस्त के वाद होनेवाले निरन्तर शब्दो के द्वारा बहरे कानोवाला प्रत्येक जन, अतिशय निकटवर्ती होकर भी, दूसरे जनो की बात चीत को, जल मे डूबे हुए व्यक्ति की तरह, कुछ सुनता था एव कुछ अ श को अनुमान से ही समझता था। अर्थात् जल मे डुबकी लगानेवाला जन, जिस प्रकार मेघ की गर्जना को कुछ थोडी सी ही सुन पाता है, एवं कुछ अनुमान भी लगा लेता है, उसी प्रकार सबकी दशा हो गई ॥७३॥

रात्रि के पति चन्द्रमा जब उदयाचल की ओर चल दिये तब कोमल परिहास करनेवाले नवीन नवीन तारागण, मानो अपने प्रियबन्धु को अपनी प्रिय वस्तु निवेदन करने के लिये, आकाश मे क्रमश प्रगट हो गये ॥७४॥

रात्रि का वर्णन

उस समय मानो मूर्तिमती रात्रिदेवी शीघ्र ही प्रवृत्त हो गई। क्योकि, उसका सारा शरीर, चन्द्रमा की चन्द्रिकारूप सफेद वस्त्र से ढका हुआ था, उसके मस्तकपर पूर्णचन्द्रमारूप तिलक लगा हुआ था, एव वह, अनेक तारारूप दन्त पंक्ति के द्वारा अपनी हास्य-लीला को प्रगट कर रही थी, एव वह रात्रि, सभी को शान्ति प्रदान कर रही थी, तथा कुमोदिनी के पुष्पो के द्वारा अपने कर्णफूलो की एव मुकुट की रचना कर रही थी। (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है, एव साङ्गोपाङ्ग 'रूपक' अलकार है) ॥७५॥

दिन मे शरत्कालीन सूर्य के द्वारा पीडित हुआ जन-मात्र, उस रात्रि मे शान्त हो गया. एव उलूक के सहित कुमुदिनी, प्रसन्न हो गयी। और कमलिनी, चकवा चकवी के सहित सन्तप्त हो गयी। क्योकि, विधिका विधान सदैव समान नही होता है। (इस ७६वे श्लोक से ८४वे श्लोक तक 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥७६॥

तदनुकेऽपि जना हरिदर्शनं, विदधते ह्यपरे हरिकीर्तनम् ।
इति विधाय यथारुचि नित्यवन्मधुपुरी - पुरुषा सुषुपुर्मुदा ॥७७॥

विषयिणो विषयं परिचिन्वते, हरिरता हरिमेव विचिन्वते ।
इति विचार्य हृदा कविनाऽमुना, व्यतिकरादि - सुखं नहि वर्णितम् ॥७८॥

यदपि चित्रमलङ्कृतिमद् वचो, भवति यत्र हरेर्न यशोऽमलम् ।
परमहंसकुलैरनिषेवितं, तदिह वायस - तीर्थमुदीरितम् ॥७९॥

यदनलंकृतिमद् वचनं समं, परमनन्तयशोऽङ्कित - नामवत् ।
सदसि साधुजना निगदन्ति त-, न्निखिलपापिजनाघविनाशनम् ॥८०॥

तदनन्तर—कोई जन तो श्रीहरि के दर्शन करने लग गये, तथा दूसरे जन श्रीहरि का नाम सकीर्त्तन करने लग गये । इस प्रकार मथुरापुरी के सभी लोग, नित्य की भाति, अपनी अपनी रुचि के अनुसार कार्य करके आनन्दपूर्वक सो गये ॥७७॥

"विषयी लोग विषयो को ही बटोरते है, एव हरि के अनुरागी हरि को ही ढूँढते रहते है" अत इस काव्य के रचयिता 'श्रीवनमालिदास' कवि ने, अपने मन मे, पूर्वोक्त प्रकार का विचार करके ही, अपने काव्य मे, स्त्री-पुरुष के सयोग से जायमान सभोग–शृगारादिमय, सुख का किंचित् भी वर्णन नही किया है ॥७८॥

क्योकि, जो वाक्य–विन्यास अर्थात् काव्य, यद्यपि पद्मबन्ध, मुरज-बन्ध, खड्गबन्ध गोमूत्रिकाबन्ध आदि अनेक प्रकार के चित्र-बन्धो से युक्त है, एव अनुप्रास, यमक, तथा उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो से परिपूर्ण है, तथापि जिसमे श्रीहरि का निर्मल यश यदि नहीं गाया गया है तो वह काव्य, भागवत-परमहसो के द्वारा सेवित न होने के कारण, यहाँपर, काक-तीर्थ-तुल्य तुच्छ ही है, ऐसा श्रीमद्भागवतादि शास्त्रो मे कहा गया है॥७९॥

और जो काव्य, पूरा का पूरा ही अलकारो से रहित है, परन्तु यदि अनन्त भगवान् के यश से अकित नामोवाला है तो, साधुजन अपनी सभा मे, उस काव्य को, समस्त पापियो के पापो को दूर करनेवाला ही कहते हैं । (इन दोनो श्लोको मे (भा० १।५।१०,११) के दोनो श्लोको का अविकल प्रतिबिम्ब आ गया है ॥८०॥

मयि कृपा समभूत् करुणानिधे-, रहह ! नूनमचिन्त्य - पराक्रमा ।
स्वजन - मातृ - कलत्र - निबन्धनं, क इह कर्तयितुं क्षमतेऽन्यथा ॥८१॥

अयि हरे ! त्वयका कृपया यया, गृहनिबन्धनतो बहिरापित. ।
तव पदाब्जयुगाधिगते सृति, लघु तया कृपयैव निदर्शय ॥८२॥

प्रभात-वर्णनम्

इति विचिन्तयतोऽविरत हरिं, गतवती निखिलाऽपि निशीथिनी ।
बहिरुपेत्य ददर्श ततो गृहा-, दुरसि सूर्यमुषां दधतीमसौ ॥८३॥

उदयपर्वतमञ्चति भास्करोऽ-, नुदयपर्वतमञ्चति चन्द्रमा ।
युगपदुद्गमतो विगमादिमौ, कथयतश्चलतां सुख - दु खयो ॥८४॥

पदन्यासं मेरोरपि शिरसि य पूर्वमकरोत्
समाक्रान्त येन क्षपिततमसा विष्णुपदकम् ।
स एवाऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पकिरण
सदैवाऽत्यार्ल्द्धिर्जगति नहि कस्यापि भवति। ॥८५॥

उस रात्रि मे, अपने मनमे विचारता हुआ रामप्रसाद बोला कि, अहो हो ! मेरे ऊपर तो, करुणा के निधि प्रभु की वह करुणा, निश्चितरूप से ही हो गई है कि, जिसका पराक्रम अचिन्त्य है। अन्यथा यदि उस प्रभु की करुणा न होती तो, अपने भाई बन्धु, माता-पिता, स्त्री आदि के दृढ-बन्धन को काटने के लिये कौन समर्थ हो सकता है ? ॥८१॥

परन्तु हे हरे ! आपने मुझको, अपनी जिस अनिर्वचनीय कृपा के द्वारा, घर के बन्धन से बाहर निकाल दिया, अब उसी कृपा के द्वारा मुझको, आप अपने दोनो चरण कमलो की प्राप्ति के मार्ग को, कृपया शीघ्र ही दिखा दीजिये। आपके श्रीचरणो मे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है ॥८२॥

प्रभात-वर्णन

इस प्रकार निरन्तर श्रीहरि का स्मरण करते हुए रामप्रसाद की वह समस्त रात्रि यो ही व्यतीत हो गयी। तदनन्तर घर से बाहर आकर उसने, अपने वक्ष स्थलपर सूर्यदेव को धारण करनेवाली उषादेवी का दर्शन किया। अर्थात् उसने, 'भोर हो गया' ऐसा समझ लिया ॥८३॥

सूर्यदेव उदयाचल की ओर जा रहे हैं, एव चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहे है, ये दोनो, एक साथ ही उदय एव अस्त होने के द्वारा, मानो सुख-दु ख की अस्थिरता ही कह रहे हैं ॥८४॥

उद्गच्छता हि तमसोऽपगमाय पूष्णा,तारागणोऽतिरमणोऽपि बलादपास्त ।
इच्छोररिं निरसितुं हि तदाश्रयेण,प्राप्ता श्रियं य इह तेऽपि च वध्यकोटौ ।।८६।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
नायकस्य वैराग्योपक्रम-वनर्णपूर्वक सूर्योदय-शरदृतु-मधुपुरी-
यमुना-द्वारकाधीश-सन्ध्या-प्रदोष-रात्रि-प्रभातादि-
वर्णन नाम चतुर्थ सर्ग सम्पूर्ण ।।४।।

और देखो, जिस चन्द्रमा ने अपने अधिकार के समय, सुमेरु पर्वत के सिर के ऊपर भी पदार्पण कर दिया था, एव अन्धकार को दूर करनेवाले जिसने सारे आकाश का आक्रमण कर लिया था, वही चन्द्रमा अब, थोडी सी किरणो से युक्त होकर, आकाश से नीचे गिर रहा है, क्योकि इस क्षण-भगुर ससार मे, किसी व्यक्ति की भी, सदैव अतिशय उन्नति नही होती है (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है एव 'अर्थान्तरन्यास' अलकार है)।।८५।।

और देखो, केवल अन्धकार को दूर करने के लिये उदय होनेवाले सूर्य ने, अत्यन्त रमणीय तारागण को भी बलपूर्वक दूर भगा दिया। क्योकि, "शत्रु का विनाश करने की इच्छावाले तेजस्वी राजा की दृष्टि मे तो, जो अपने शत्रु के सहारे से सम्पत्ति को प्राप्त कर चुके है, व व्यक्ति भी, वध्य की कोटि मे ही आ जाते है" यह बात प्रसिद्ध है (इस श्लोक मे 'वसन्त-तिलका' छन्द है, 'दृष्टान्त' अलकार है) ।।८६।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचित–श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ–महाकाव्ये नायकस्य वैराग्योपक्रमाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम
चतुर्थ सर्ग सम्पूर्ण ।।४।।

अथ पञ्चमः सर्गः

श्रीगंगातीर-गमनम्

अथ चचाल विधाय मुदाऽऽह्निकं, समधिरुह्य च वाष्पगयानकम् ।
हृदि हरिं स जपन् मथुरां नमन्, गुरुवराऽधिगति मनसा स्मरन् ॥१॥
नहि गतेऽहनि तेन यथाऽशितं, किमपि नैव तथाऽद्य किलाऽशितम् ।
गुरुवराऽऽप्ति - पिपासिकयाऽऽकुल, जठरजा न चकार तमाकुलम् ॥२॥
गुरुवराऽऽप्ति - समाकुल - चेतसे, किमपि रोचत एव न तस्मकं ।
पतिवरे परदेशमुपेयुषि, नहि सती विषयानुपसेवते ॥३॥
पुरवरं त्वय हाथरसाख्यक, स घटिका - त्रितयेन समासदत् ।
अवततार च वाष्पगयानका-, दय च कोऽपि वणिक् तमुवाच ह ॥४॥
अयि महाशय ! पीडयति क्षुधा, ननु भवन्तमिति प्रतिभाति मे ।
कथय किं मधुरान्नमुपानये, समुपभुङ्क्ष्व यथारुचि भोजनम् ॥५॥

पाँचवाँ सर्ग

चरित्रनायक का गंगातीरपर जाना

तदनन्तर वह रामप्रसाद, प्रात कालीन कृत्य को करके, अपने मन मे हरिनाम का जाप करता हुआ, चलते समय मथुरापुरी को नमस्कार करता हुआ, एव सद्गुरुदेव की प्राप्ति को मन से ही स्मरण करता हुआ, रेलवेगार्ड की अनुमति से रेलपर चढकर श्रीगङ्गाजी की ओर चल दिया । (**इस सर्ग मे पहले श्लोक से लेकर नब्बे के श्लोक तक 'द्रुतविलम्बित' छन्द हैं किन्तु ६० ६१ ६२ वाले तीन श्लोको मे 'वंशस्थ' छन्द हैं**) ॥१॥

उस रामप्रसाद ने, जिस प्रकार पहले दिन कुछ नहीं खाया उसी प्रकार आज भी कुछ नही खाया । किन्तु श्रीगुरुदेव की प्राप्तिरूप पिपासा (प्यास) से व्याकुल हुए उसको, पेट की भूख ने व्याकुल नही किया ॥२॥

क्योंकि, उस समय श्रेष्ठ गुरुदेव की प्राप्ति के लिये व्याकुल चित्तवाले उसको, कोई भी वस्तु रुचिकर नहीं लग रही थी । इस विषय मे यही दृष्टान्त है कि, अपने प्रियतम के परदेश मे चले जानेपर, सती नारी, माला, एव चन्दन आदि किसी भी विषयो का सेवन नही करती ॥३॥

तदनन्तर वह तीन घडी मे 'हाथरस'—नामक श्रेष्ठपुर मे पहुँच गया । पहुँचते ही रेलगाडी से नीचे उतर गया । पश्चात् कोई सेठ उससे बोला कि, हे महाशय ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, आपको क्षुधा (भूख) सता रही

स तत आह विरक्तिमुपेयुषा, नहि मया मधुराऽन्नमपेक्ष्यते।
यदि तवाऽऽग्रह एव ममाऽदने, सु - चणकान् पणकस्य तदाऽऽपय ॥६॥

इति निशम्य वचः सुविरक्तिमत्, स वणिगाशयमस्य समस्तवीत्।
अहह पूर्णविधु - प्रतिमाननो, ननु युवैष विरज्यति भोगतः ॥७॥

तदनुमत्यनुसारत एव स, वणिगदाच्चणकान् खलु भर्जितान्।
स हरये मनसाऽर्प्य चखाद ह, तदनु गन्तुमनाः समजायत ॥८॥

सुरधुनीं प्रति - यायिनि यानके, तदधिपाऽनुमतेन चचाट सः।
तदनु जह्नुसुतां समवाप्य च, सरभसं स्नपनार्थमवातरत् ॥९॥

बहव एव जना समवातरन्, सुरसरित्स्नपनाऽऽकुलचेतसः।
जय जयाऽऽरवपूर्वमयाऽवलन्, तदनुताननु सोऽपि चचाल ह ॥१०॥

है। कहिये [1] मैं तुम्हारे लिये कौन-सी मिठाई लाऊँ, आप अपनी रुचि के अनुसार भोजन कर लीजिये ॥४-५॥

पश्चात् रामप्रसाद बोला कि, मैं तो अब विरक्त हो रहा हूँ, मुझे किसी भी मिठाई की अपेक्षा नही है। यदि मेरे खाने के विषय मे ही तुम्हारा आग्रह है तो, मुझे एक पैसे के, भुने हुए चने दिलवा दीजिये। इस प्रकार वैराग्य भरे हुए उसके वचन को सुनकर, उस सेठ ने, रामप्रसाद के अन्त करण की एव अभिप्राय की भारी प्रससा की, और बोला कि, हाय! पूर्णचन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाला यह व्यक्ति, युवक होकर भी भोगो से वैराग्य कर रहा है, इसको धन्य है? पश्चात् उस सेठ ने, उसकी अनुमति के अनुसार ही, भुने हुए चने दे दिये। उसने भी, मन से ही श्रीहरि के अर्पण करके खा लिये, खाते ही गङ्गाजी की ओर जाने के मन से युक्त हो गया ॥६-८॥

उसके बाद वह, रेलवे-गार्ड की अनुमति से, श्रीगङ्गाजी की ओर जानेवाली गाडीपर चढ गया। तदनन्तर श्रीगङ्गाजी के निकट पहुँचते ही स्नान करने के ध्येय से सहर्ष गाडी से उतर पडा। श्रीगङ्गा स्नान के लिये आकुल चित्तवाले और भी बहुत से लोग उतर पडे। और "श्रीगङ्गा मैया की जय"२ इस प्रकार की ध्वनि करते हुए श्रीगङ्गाजी की ओर चल दिये। उसके बाद, रामप्रसाद भी, उन्ही के पीछे-पीछे चल दिया ॥९-१०॥

श्रीगंगातीर-निवासि-महात्मना वर्णनम्

तदनु चेतसि चिन्तयति स्म स, सुरसरित्तटवर्त्ति - महात्मनाम् ।
सविधमेत्य पुरा हि करिष्यते, सुरसरित्स्नपनं तदनन्तरम् ॥११॥

इति विचार्य शनैः क्रमशश्चल-, न्नमरसिन्धुतटे विनिवासिनः ।
परपदाब्जमनोऽलिनिवेशिनः, स विविधान् हि ददर्श महात्मनः ॥१२॥

कमपि रामपरं जटिलं मुनिं, कमपि कृष्णपरं नहि केशवम् ।
कमपि दण्डकमण्डलु - धारिणं, कमपि भस्ममृगाऽजिन - धारिणम् ॥१३॥

कमपि शैवमयाऽक्षविधारिणं, कमपि गैरिकवस्त्र - विधारिणम् ।
कमपि शास्त्र - विचारपरायणं, कमपि शिष्य - निरीक्षण - तत्परम् ॥१४॥

कमपि वल्कल - मौञ्जसुमेखलं, कमपि योगिनमात्मरतं तथा ।
कमपि कम्बलमात्र - विधारिणं, कमपि दीर्घदिगम्बर - धारिणम् ॥१५॥

अतिथि - सत्कृति - तत्परमेककं, परमथ - कृतभोग - विलासकम् ।
कमपि दीर्घसमाधिपरं परं, परमुमापति - नामपरं परम् ॥१६॥

श्रीगंगातीर-निवासी महात्माओं का वर्णन

उसके बाद, रामप्रसाद ने अपने मन मे यह विचार किया कि, "मैं पहले, श्रीगङ्गाजी के तटपर रहनेवाले महात्माओं के निकट जाकर, उनके दर्शन करके ही *श्रीगङ्गा-स्नान करूँगा ।*" इसप्रकार विचार करके, धीरे-धीरे क्रमश चलते चलते उसने, श्रीगङ्गाजी के तीरपर निवास करनेवाले अनेक प्रकार के महात्माओं का दर्शन किया; उन सब महात्माओं ने, अपने *मनरूपी भ्रमर को, परमात्मा के श्रीचरण-कमलों में ही लगा रखा* था ॥११-१२॥

उनमें से कोई रामोपासक मुनि तो जटाधारी था एवं कृष्णोपासक कोई मुनि मुण्डित था, कोई कमण्डलु धारण कर रहा था, कोई शिवोपासक मुनि, भस्म-मृगछाला धारण कर रहा था, कोई रुद्राक्ष धारण कर रहा था, कोई गेरुआ वस्त्र पहन रहा था, कोई शास्त्रों के विचार मे तत्पर था, कोई अपने शिष्यों की देखभाल मे तत्पर था, कोई वल्कल वस्त्र एवं मूँज की मेखला पहन रहा था, कोई योगी परमात्मा में रमण कर रहा था, कोई कम्बल मात्र ही पहन रहा था, कोई दीर्घ दिगम्बर ही पहन रहा था अर्थात् बिल्कुल नङ्गा था, कोई अतिथिओं के सत्कार मे लगा हुआ था, कोई समस्त प्रकार के भोग-विलासों को छोड चुका था, कोई लम्बी समाधि

उटज - मार्जन - लेपनतत्परं, हुतभुजः परिप्रीणन - तत्परम् ।
हरिकथा - कथकं श्रवणाकुल, कमपि तस्य हि बीजनतत्परम् ॥१७॥

इति तमाश्रमवासिजनं सम, समवलोक्य पवित्रतमाऽऽशयम् ।
हरिण - धेनु - समूह - निषेवितं, स्वमपि धन्यममन्यत सोऽधिकम् ॥१८॥

वनभवा अपि यत्र महात्मनां, सहज - सङ्गवशात् समतां ययुः ।
सह चरन्ति निसर्ग - विरोधिनो, हरि - मृगाऽऽखु - बिडालमुखा अपि ॥१९॥

स परित. करुणारस - पूरितं, तरणसेतुमपारभवाम्बुधे. ।
सहनता - जलधिं परशुं तृष., शमतरोरपि मूलमचञ्चलम् ॥२०॥

अनभिमानममत्सरमक्रुधं, शुभकुलाऽऽयतनं नरकार्गलम् ।
स्वशरणागत - मोहतमोपहं, मुनिजनं सकलं समतर्कयत् ॥२१॥

लगा रहा था, कोई श्रीमन्नारायण के नाम कीर्तन में ही संलग्न था, कोई अपनी पर्णशाला के झाड़ने, बुहारने, एवं लीपने मे लगा हुआ था, कोई नित्य-नैमित्तिक हवन से अग्नि को प्रसन्नकर रहा था, कोई वक्ता मुनि, श्रीहरि की कथा कह रहा था, कोई श्रवण मे तत्पर था, कोई, कथा वाचक के बीजना करने मे संलग्न था, उन सभी महात्माओं का अन्त.करण अतिशय पवित्र था, एवं महात्माओं का वह समुदाय, हरिण एव गोगण से सेवित था । इस प्रकार उस आश्रम मे निवास करनेवाले, समस्त जन मात्र को देखकर, रामप्रसाद ने, अपने को भी अतिशय धन्य मान लिया ॥१३-१८॥

जिस स्थानपर महात्माओ के स्वाभाविक सग के प्रभाव से, वन में उत्पन्न होनेवाले जन्तु भी, समता को प्राप्त हो गये हैं । वहाँ पर तो, सर्वदा स्वभाव से ही परस्पर विरोध करनेवाले, सिंह-मृग, चूहा-बिल्ली आदि प्राणी भी, एक साथ ही विचरण करते रहते है ॥१९॥

रामप्रसाद ने, वहाँ के सभी मुनिजनों को, चारों ओर करुणा रस से पूरित, अपार संसाररूप सागर के तरने के सेतु, सहनशीलता के समुद्र, तृष्णा के छेदन के कुठार, शान्तिरूप वृक्ष के अचल-मूल, एव अभिमान, डाह, क्रोध से रहित, शुभ समूह के स्थान, नरक से रोकने के अर्गल (अडवंगा) स्वरूप, तथा अपने शरणागतो के मोहरूप अन्धकार को दूर करनेवाले ही समझ लिया ॥२०-२१॥

तत्र नायकस्य सत्कारः

तदनु कोऽपि महात्मसमूहतः-, स्त्वरितमस्य हि सत्कृति - हेतवे ।
चलितवानमुनाऽपि स चाऽग्रतः, समुपसृत्य पुरैव नमस्कृत. ॥२२॥

तत उवाच महात्मवरः स तं, सुसुखयन्निव स्वागतपूर्वकम् ।
अयि! समेहि मयाऽद्य विलोकित-, स्त्वमु स एव हि यः स्वपता निशि ॥२३॥

निगदितं च हि मां प्रवि केनचिद्, अतिथिरेष्यति श्वस्तव शोभनः ।
परदिने भविता तव चोत्सवो, ह्यशनमर्पय सत्कृति - पूर्वकम् ॥२४॥

गृहम नं - कुरु तच्चल मे द्रुतं, समुभुङ्क्ष्व यथारुचि भोजनम् ।
इति महात्मगिरा सुखित. स तं, ह्यनुजगाम गिरा बहु मानयन् ॥२५॥

उटजमेत्य सहर्षमयाऽस्मकं, प्रथममासनमर्पितवान् मुनिः ।
तदनु चार्घ्य - समर्पण - पूर्वया, सबहुमानमपूपुजदर्चया ॥२६॥

स च पलाशदले मुनिनाऽर्पितं, बहुविधं मधुरं बुभुजेऽशनम् ।
समुपभुज्य तयाऽऽचमनं व्यधाद्, हरिकथां मुनितोऽप्यनुशुश्रुवान् ॥२७॥

वहाँपर चरित्रनायक का सत्कार

उसके बाद, उन महात्माओं के समूह में से, कोई महात्मा, रामप्रसाद का सत्कार करने के लिये शीघ्र ही चल दिया । रामप्रसाद ने भी, आगे से ही उस महात्मा के निकट जाकर, उस को पहले ही नमस्कार कर दिया ॥२२॥

पश्चात् उस मपात्मा ने, स्वागत–पूर्वक सुखी करते-करते ही, रामप्रसाद से कहा कि, हे अतिथिवर ! आइये ! पधारिये ! तुमतो मुझको वही मालूम पडते हो कि, जो आज मैंने रात मे सोते समय स्वप्न मे देखे थे । और स्वप्न मे मुझसे किसी ने यह कहा था कि, कल तुम्हारे यहाँ कोई सुन्दर अतिथि आयेगा । और कल तुम्हारे स्थान मे उत्सव भी होगा; अतः तुम उस अतिथि को सत्कार पूर्वक भोजन देना । इसलिये हे अतिथिवर्य ! तुम शीघ्र ही चलो, अपने पदार्पण से मेरे घर को सुशोभित कर दो, एव अपनी रुचि के अनुसार भोजन कर लो । इस प्रकार उस महात्मा की सुमधुर वाणी से आनन्दित हुआ रामप्रसाद भी, अपनी वाणी से, उस महात्मा का विशेष सम्मान करता हुआ, उसके पीछे-पीछे चल दिया ॥२३-२५॥

उस महात्मा ने, अपनी पर्णशालापर पहुँचकर, पहले तो रामप्रसाद के लिये सहर्ष आसन दे दिया । पश्चात् अर्घ समर्पण पूर्वक अनेक प्रकार की पूजा से उसका विशेष सम्मान-पूर्वक पूजन किया । रामप्रसाद ने भी, उस

सायकालीन-गगास्नानम्

तदनु सांध्यविधि हि विधित्सवो, मुनिजना सुरधिन्धुतटेऽचलन् ।
कलश - वल्कल - मौञ्जसुमेखलं, समुपगृह्य च शिष्यगणा ययु ॥२८॥
स मुनिनाऽपि च येन हि सत्कृत, सुरधुनीं प्रति तेन समं ययौ ।
स मुनिभि सममाशु चकार च, सुरसरित्सलिले स्नपन - क्रियाम् ॥२९॥

सूर्यास्त-वर्णनम्

अथ महोष्णरुचिर्निज - तेजसा-, मसहमान इवाऽऽतपसम्पदम् ।
पयसि पित्सुरिवाऽऽशु सरित्पते, शिखरमस्तगिरे समशिश्रियत् ॥३०॥
उपगते हि विधौ प्रतिकूलतां, व्रजति निष्फलतां बहुसाधनम् ।
करसहस्रमपि स्थितिकारण, दिवसभर्तुरभून्न पतिष्यतः ॥३१॥
मुनिजनेन हि यत् स्नपनान्तर, समुपपादयताऽर्घविधिं भुवि ।
जलमदायि सुलोहितचन्दनं, तदवहद् रविरम्बर एव किम् ॥३२॥

महात्मा के द्वारा ढाक की पत्तलपर परोसे हुए अनेक प्रकार के मिष्टान्न का भोजन किया । भलीप्रकार भोजन करके आचमन किया । कुछदेर विश्राम करने के बाद, उसी महात्मा से श्रीहरि की कथा भी सुनी ॥२६-२७॥

सायंकालीन गंगास्नान

तदनन्तर सायकालीन सन्ध्या वन्दन आदि करने की इच्छावाले अनेक मुनिजन, श्रीगगाजी के तीर को ओर चल दिये । कलस, वल्कलवस्त्र एव मूँज की बनी हुई मेखला (आडबन्ध) लेकर, उनके शिष्यगण भी, उनके पीछे-पीछे चल दिये । रामप्रसाद भी श्रीगगाजी की ओर, उमी महात्मा के साथ चल दिया कि, जिसने इसका सत्कार किया था । और उसने, उन सभी मुनि-महात्माओ के साथ, श्रीगगाजल मे शीघ्र ही स्नान भी कर लिया ॥२८-२९॥

सूर्यास्त का वर्णन

उसके बाद, मानो अपने अनन्त तेजो की धूपरूप सम्पत्ति को न सहते हुए सूर्यदेव ने, समुद्र के जल मे शीघ्र ही कूदने की इच्छा से युक्त होकर, अस्ताचल के शिखर का आश्रय ले लिया ॥३०॥

देखो, दैव के प्रतिकूल (विरुद्ध) हो जानेपर, अनेक साधन निष्फल हो जाते हैं । अतएव, अस्ताचल के शिखर से गिरते हुए सूर्य के लिये, उनके हजारो कर (हाथ या किरण) भी, उनको स्थिति के कारण नही बन सके ॥३१॥

बहुभिरूर्ध्वमुखैरपि चोष्मपै, रविसमर्पितदृष्टि - तपोधनैः ।
परिनिपीत - मयूख इवोष्णगुः, सुतनिमानमयाद् विरलातप. ॥३३॥

समुदयन्मुनिसप्तक - पृक्तिता, परिहरन्निव संहृतपादकः ।
अपि जवाकुसुमावलिपाटलो, रविरवाऽतरदम्बर - पृष्ठतः ॥३४॥

तदनु बिम्बमलक्ष्यत भानव, जलधिपाथसि बिम्बित - तानवम् ।
समधिकं विगलन्मधुधारकं, मुररिपोरिव नाभिसरोरुहम् ॥३५॥

अनिल - लोल - लताऽङ्गुलिसञ्ज्ञया, स्वनिलयाय समाह्वयते द्रुतम् ।
विटपिने विपिनेऽमलशाखिने, खगकुलानि गिरो ददुराकुलाः ॥३६॥

अस्त होते समय सूर्यमण्डल लाल वर्ण का हो गया। कवि, उसकी लालिमा की उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि, श्रीगंगास्नान के अनन्तर, भली प्रकार अर्घ देने की विधि का सम्पादन करनेवाले मुनिजनों ने, सुन्दर लाल चन्दन से युक्त जो जल, भूमिपर दिया था, मानो सूर्यदेव ने उस जल को आकाश में से ही साक्षात् ग्रहण कर लिया है क्या ? ॥३२॥

सूर्य उस समय अतिशय कृश हो गया था, एवं उसकी धूप भी कमजोर हो गई थी। उसकी उत्प्रेक्षा करता हुआ कवि कहता है कि, सूर्य की गर्मी का पान करने वाले, अतएव ऊपर की ओर मुखवाले, अतएव सूर्य की ओर नेत्रलगानेवाले बहुत से तपस्वियों ने ही मानो, सूर्य की समस्त किरणों का पान कर लिया है, अतएव यह सूर्य महान् कृश हो गया है एवं थोडी धूपवाला हो गया है ॥३३॥

सूर्यदेव की आकाश से उतरने की दूसरी उत्प्रेक्षा करता हुआ कवि कहता है कि सायंकाल में उदय होनेवाले सप्तर्षियों से मेरे किरणरूप चरणों का स्पर्श न हो जाय, मानो सूर्यदेव इसी भाव से अपने किरण-रूप चरणों को समेटता हुआ, एवं जवासे के पुष्पों की पंक्ति के समान श्वेत-रक्त वर्णवाला होकर ही आकाशतल से नीचे उतर पडा ॥३४॥

उसके बाद, सूर्य का मण्डल, समुद्र के जल में प्रतिबिम्बित हुए छोटेपन से युक्त होकर दिखाई देने लगा। वह सूर्य-मण्डल, उस समय, अधिकरूप से झरती हुई मधु की धारा से युक्त, मुरारि भगवान् के नाभिकमल के समान प्रतीत हो रहा था ॥३५॥

सूर्यास्त के समय, प्रत्येक वन में, निर्मल शाखाओंवाला प्रत्येक वृक्ष, अपने ऊपर निवास करनेवाले पक्षियों को, सायंकालीन वायु के द्वारा हिलती

पयसि चार्धनिमग्नतनो रवे-, द्रुतसुवर्णनिभं वपुराबभौ।
विधिकराग्रविदारित - शोभनं, भुजगदण्डकखण्डमिवैकलम् ॥३७॥

कमलिनीवनमम्बरमेव च, रविकरा अपहाय दिनान्तके।
तरुमुखेषु च पर्वतमस्तके, स्थितिमकुर्वत नीडभवा इव ॥३८॥

दिनकरेऽस्तमुपेयुषि संध्यया, ह्यजनि विद्रुम - पाटलवर्णया।
सुरविकीर्णमिवाऽऽकुसुमोत्करं, वियदराजत तारकितं द्रुतम् ॥३९॥

कमलिनी सवितुः शुचयाऽऽकुला, सितगरुत् - सितवस्त्र - विधारिणी।
मुकुलमेव कमण्डलु - धारिणी, व्रतमिवाऽऽचरदागतये रवेः ॥४०॥

हुई अपनी शाखा रूप अ गुली के इशारे से, मानो अपने-अपने घोसलाओ के लिये शीघ्रतापूर्वक बुला रहा था. मानो उसके इशारे को समझकर, सभी पक्षीगण, उसके प्रति, उत्तर-रूप मे आकुल वाणियाँ प्रदान करने लग गये ॥३६॥

पश्चिमी समुद्र के जल मे, आधे निमग्न हुए सूर्य का, गोलाकार वह आधा शरीर, पिघले हुए सुवर्ण के समान होकर उस प्रकार शोभा पाने लगा कि, मानो, विधाता के कर के अग्रभाग से विदारित होकर एव सुन्दर होकर, जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का एक खण्ड (टुकड़ा) ही शोभा पाता है ॥३७॥

सूर्यास्त के समय, सूर्य की सभी किरणे, कमलिनियों के वन को एव आकाश को छोडकर, वृक्षो के अग्रभाग मे एव पर्वतो के मस्तको के ऊपर, पक्षियो की तरह निवास करने लग गयी ॥३८॥

सूर्य के अस्त होते ही, सध्या भी, विद्रुम (मू गा व प्रवाल) के समान सफेद एव लाल वर्णवाली हो गई। तत्काल ताराओ से युक्त हुआ आकाश भी, देवताओ के द्वारा बरसाये हुए पुष्पो के समूहो की तरह सुशोभित हो गया ॥३९॥

उस समय कमलिनी भी, प्रोषित-भर्तृका नायिका की तरह, अपने पतिरूप सूर्य के विरह से उत्पन्न हुए शोक से व्याकुल होकर, अपने ऊपर बैठे हुए हसरूप सफेद वस्त्रो को धारण करनेवाली होकर, एव अपनी कलिकारूप कमण्डलु को धारण करनेवाली बनकर, अपने पतिरूप सूर्यदेव के शीघ्र आगमन के लिये मानो कठोर व्रत ही कर रही है। (इस श्लोक मे 'उत्प्रेक्षा' सवलित 'साङ्गरूपक'-एव 'समासोक्ति' अलकार है) ॥४०॥

सुखमतापकरं दधतं वपु-, नंयनयोरनुरागिणमप्यहो ! ।
रविमपेतवसुं वियदालया-, दपरदिग्गणिका निरकासयत् ॥४१॥

दिनमगादनुमित्रमहो ! लयं, विरहदुःखमनाकलयद् हृदा ।
बत मयाऽबलया किमिहाऽऽस्यते, न्यशमि चेति विचार्य हि संध्यया ॥४२॥

अन्धकार-वर्णनम्

विरहितेव निशा लघु सध्यया, धृतवती तिमिरं ह्यसिताऽजिनम् ।
समपहाय मनांसि महात्मनां, निखिलमेव तमो द्रुतमावृणोद् ॥४३॥

जलनिधौ पतितेऽर्कमृगाधिपे, गजसमूहनिभं तम आक्रमीत् ।
समयधर्ममुपेयुषि राजनि, लघु - नृपो बहु विक्रमते यथा ॥४४॥

परम सुखदायक एव सन्ताप से रहित तथा नेत्रो मे अनुराग भरे परम सुन्दर व्यक्ति का भी, धन से रहित हो जाने के कारण "निःस्व त्यजन्ति गणिका.' (भा०१०।४७।७) इस उक्ति के अनुसार, गणिका (वेश्या) जिस प्रकार अपने स्थान से बाहर निकाल देती है, ठीक उसी प्रकार—पश्चिम-दिशारूप गणिका ने, सुखदायक एव सन्ताप को न देनेवाले शरीर को धारण करनेवाले एव नेत्रो मे अनुराग रखनेवाले सूर्य को, किरणो से रहित होने के कारण, आकाशरूप स्थान से बाहर निकाल दिया। (यहाँ पर 'वसु'—शब्द का धन एव किरण अर्थ हैं। इस श्लोक मे 'समासोक्ति' अलकार है) ॥४१॥

दिन भी, अपने हृदय से अपने मित्ररूप सूर्य के विरह का अनुभव न करता हुआ, अपने मित्ररूप सूर्य के पीछे-पीछे ही समाप्त हो गया। "हाय' हाय !! मै अबला, यहाँ पर अकारण ही क्यो बैठी हूँ" ऐसा विचार करके सन्ध्या भी समाप्त हो गई। (यहाँ पर भी 'समासोक्ति' अलकार है) ॥४२॥

अन्धकार का वर्णन

सध्या के जाते ही, केवल महात्माओ के मन को छोडकर, अन्धकार ने सम्पूर्ण जगत् को शीघ्र ही ढक लिया। तात्पर्य–महात्माओ के मनपर अज्ञानरूपी अन्धकार भी अपना अधिकार नही कर पाता। कवि, अन्धकार की उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है कि, रात्रिदेवी ने, अपनी सखीरूप सध्या-देवी से मानो विरह से युक्त होकर, अन्धकाररूप काले मृग की मृगछाला ही धारण करली है ॥४३॥

चक्रवती राजा जब परलोकगामी हो जाता है तब छोटा-सा राजा भी जिस प्रकार बहुत-सा पराक्रम दिखाता है, ठीक उसी प्रकार, सूर्य-रूप

विपुलपङ्कसदृक् किमिदं तमो, गिरिगुहान्तरतो बहिरायथौ ।
किमथवा बहिरेत्य गुहामगा-, न्निखिलदिग्भ्य उ तिर्यगुताऽऽगमत् ॥४५॥
गगनलग्नमधः प्रससार किं, किमुपरि प्रययावनवीतलात् ।
तत इदं प्रससार बलादिति, न निरधारि जनैर्विपुलीभवत् ॥४६॥
विधुमभूषयदाशु निशीथिनी, सपदि तामपि भूषितवानसौ ।
प्रकृतिसिद्धमिदं तु परस्परो-, पकृतिमच्चरितं हि महात्मनाम् ॥४७॥
विधिमुपास्य स सांध्यमनन्तरं, सुरधुनीं च प्रणम्य तमाश्रमम् ।
मुनिजनेन हि तेन समाययौ, प्रथममेव हि येन सुसत्कृत ॥४८॥

मुनि-नायकयोः परस्परं वार्तालापः

अथ मुनिः शयनाऽऽसनमादित, स च समाविशदाशु तदाज्ञया ।
तदनु सम्मुख एव विवक्षया, स्वकमलंकृतवान् मुनिरासनम् ॥४९॥

सिंह जब पश्चिमी समुद्र के जल में गिर पड़ा तब, हाथियों के समूह के समान अतिशय काले अन्धकार ने, सम्पूर्ण संसार-रूप वनपर आक्रमण कर दिया ॥४४॥

भारी पंक (कीचड) के समान काला यह अन्धकार, पर्वतों की गुफाओं से ही बाहर निकल कर आया है क्या ? अथवा बाहर आते ही गुफाओं में चला गया है क्या ? अथवा सभी दिशाओं से टेढा होकर आ गया है क्या ? अथवा आकाश मे लगा हुआ ही नीचे की ओर फैल रहा है क्या ? अथवा, भूतल से ही ऊपर को ओर चला गया है क्या ? "यह अन्धकार उस स्थान से बलपूर्वक फैला है" इस बात का निश्चय, उस समय के जन, अधिक होते हुए उस अन्धकार के विषय में नहीं कर पाये । (इन दोनों श्लोकों में 'अनिश्चयान्त-सन्देहालकार' है) ॥४५-४६॥

उस समय रात्रिदेवी ने, चन्द्रमा को शीघ्र ही विभूषित कर दिया, चन्द्रमा ने भी, रात्रिदेवी, तत्काल विभूषित कर दी ।"परस्पर के उपकार से भरा हुआ, महात्माओं का यह आचरण, स्वभाव से ही सिद्ध है" यह बात प्रसिद्ध है । (इस श्लोक मे, 'अन्योन्य' अलंकार है) ॥४७॥

तदनन्तर वह रामप्रसाद, सायंकालीन सध्योपासना करके, एवं श्रीगङ्गाजी को प्रणाम करके, उसी महात्मा के साथ, उसी पूर्वोक्त आश्रम-पर चला आया कि, जिस महात्मा ने, दिन में, पहले इसका सत्कार किया था ॥४८॥

उस महात्मा एवं चरित्रनायक का परस्पर वार्तालाप

उस महात्मा ने अपने आश्रमपर आते ही, रामप्रसाद को, सोने के

त्वमिह भद्र ! कथ कुत आगतः, क्व च गमिष्यसि किं च तवेप्सितम् ।
कथय वृत्तमये ! निजमादितो, नहि तवाऽऽगमनं लघुकारणम् ॥५०॥

तत उवाच स सांञ्जलिबन्धनं, धवलयन्निव दन्तमरीचिभिः ।
अयि मुने ! व्रजवासि-जनोऽस्म्यहं, व्रजत एव मयाऽऽगमनं कृतम् ॥५१॥

इह च संसृतिचक्र-मुमुक्षया, गुरावराऽऽप्तय एव मयाऽऽगतम् ।
उपदिश त्वमतो हरिप्राप्तये, बहिरुपैमि यथा गृहबन्धनात् ॥५२॥

मुनिरुवाच तत कथयाऽङ्ग ! मे, तव गृहे कति सन्ति शरीरिण ।
परिणय समभूत् तव नोऽथवा, भरसि केन गृहं ननु कर्मणा ॥५३॥

कथयति स्म यथायथमेव स, मम जरा जननी खलु वर्तते ।
लघुवयस्कमपास्य जनं त्विमं, जनयिता परलोकमुपेयिवान् ॥५४॥

लिये आसन दे दिया । वह भी, उनकी आज्ञा से, उस आसनपर शीघ्र ही बैठ गया । तदनन्तर उस महात्मा ने भी, कुछ कहने की इच्छा से, उमके सम्मुख ही बैठकर, अपने आसन को अलकृत कर दिया ॥४६॥

वह महात्मा प्रश्न करता हुआ बोला कि, हे मङ्गलमय अतिथे ! कहिये ? तुम किस प्रकार, किस कारण से एव कहाँ से आ रहे हो ? और यहाँ से कहाँ जाओगे ? एव तुम्हारा अभीष्ट क्या है ? तुम अपने वृत्तान्त को पहले से ही कह दो ? क्योकि, तुम्हारा आगमन किसी छोटे मोटे कारण से नही है ॥५०॥

तदनन्तर—रामप्रसाद, अपने दाँतो की किरणो से, अपने निकट के प्रदेश को सफेद सा करता हुआ, हाथ जोडकर बोला कि, हे मुनिजी ! मैं तो एक व्रजवासी व्यक्ति हूँ, एवं मैंने व्रज से ही आगमन किया है । और यहां पर भी मैं, ससार के चक्र से छूटने की इच्छा से, श्रीसद्गुरुदेव की प्राप्ति के लिये ही आया हूँ । इसलिये आप मुझे, श्रीहरि की प्राप्ति के लिये उस प्रकार सदुपदेश दीजिये कि, मैं, जिस प्रकार घर गृहस्थी के बन्धन से बाहर हो जाऊँ ॥५१-५२॥

तदनन्तर वह मुनि बोला कि, हे प्रियवर ! मुझसे ठीक ठीक बताओ कि तुम्हारे घर मे, तुम्हारे सहित कितने प्राणी है ? तुम्हारा विवाह हुआ है या नही ? और तुम, अपने घर का पालन पोषण, कौन से कर्म से करते हो ? रामप्रसाद ने भी यथा-योग्य उत्तर देते हुए कहा कि, मेरी माता वृद्धा है, और मेरा पिता, मुझको छोटी-सी अवस्थावाला ही छोडकर, परलोकगामी हो गया । मेरे एक छोटा भाई और है, मेरा विवाह भी,

मम कनिष्ठ-सहोदर एव च, परिणयोऽप्यजनिष्ट सुशीलया।
कुलपरम्परया कृषिकर्मणा, गृहमवामि च पाठनकर्मणा ॥५५॥

मृतिमगामिव चात्मगृहे ज्वराद्, भगवत. कृपया परिजीवितः।
अत इदं क्षणभङ्गुरमाधिद, जगदवेत्य विरक्तिमुपेयिवान् ॥५६॥

यतिरुवाच ततः शृणु हे बुध !, जगदिदं यदपि क्षणभङ्गुरम्।
तदपि गाढविरागसुखं विना, न सहसा-करणं तव साम्प्रतम् ॥५७॥

अपि च शास्त्रविधिं परिहाय यो, न पितरौ बलवानपि सेवते।
स नरकं ध्रुवमेति गदन्ति च, मृतमिवेह सजीवमहो जना. ॥५८॥

सुतमभावयता भवता तथा, नहि ऋणत्रितयात् कुलमुद्धृतम्।
सुतविहीनजनस्य करार्पितं, न सलिलं पितरोऽपि पिबन्त्यहो ॥५९॥

अतस्त्वयोत्पाद्य च पुत्रमेकजं, विधाय दुःखाद् रहितां च मातरम्।
ऋणाद् विमुक्तेन विधेयमुत्तरं, मुरारिपादाम्बुजयुग्मचिन्तनम् ॥६०॥

अच्छे स्वभाववाली कन्या के साथ हो गया। तथा मैं, अपने घर की रक्षा, कुल की परम्परा से आये हुए खेती के काम से तथा, अध्यापन के काम से करता हूँ। और देखो, मैं कुछ दिन पहले, अपने घर मे, भारी ज्वर के कारण मानो मर ही चुका था, किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपा ने ही मुझको पुनर्जीवित किया है, अत. इस जगत् को, क्षणभगुर एव अनेक प्रकार की मानसिक पीडाओं को देनेवाला समझकर, वैराग्य को प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् मेरे घर मे, मेरे सहित चार ही प्राणी है ॥५३-५६॥

तदनन्तर प्रयत्नशील वह महात्मा बोला—हे भैया ! तुम समझदार हो, सुनो. यद्यपि यह जगत् क्षणभगुर है, तथापि गाढे वैराग्य-मय सुख के बिना, तुमको यह कार्य, सहसा करना उचित नही है। और देखो, जो व्यक्ति, शास्त्र की विधि को छोडकर बलवान् होकर भी, अपने माता-पिता की सेवा नहीं करता, वह निश्चय ही नरक मे जाता है, और सज्जन व्यक्ति, इस लोक मे, उसको जीते हुए भी, मरे के समान ही कहते है। इस विषय मे (भा० १०।४५।७)–"मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्। गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः" यह भगवदुक्ति ही प्रमाण है। और तुमने, अपनी स्त्रीके द्वारा, एक पुत्र भी उत्पन्न न करतेहुए, देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण,–नामक, इन तीनों ऋणो से, अपने कुल का उद्धार भी नही किया है। और देखो, पुत्र से रहित व्यक्ति के हाथ से अर्पण किये हुए जल को

इतीरयित्वा मुनिराप मौनितां, तत स वाक्यं परमार्थमाददे ।
भवादृशां वाक्यमये ! महीतले सुधीस्तिरस्कर्तुमलं क्षमेत क. ॥६१॥
अनुत्तरात् ते वचसोऽवहेलना, तदुत्तरात् स्यात् प्रकटैव धृष्टता ।
अतस्त्वया मे कथनं हि मृष्यतां, यदुच्यते बालतया महामुने ! ॥६२॥
य उ समाप्य जनो जगत क्रिया-, मभिलषेत् परलोकगतामये ! ।
गततरङ्ग - तरङ्गवतीजले, स भविता विफलः स्नपनार्थिवत् ॥६३॥
यदि रजांसि भुवश्च सतारकाः, परिगणय्य बुध. परिशेषयेत् ।
अपि तथापि कथंचिदये ! यते !, न किल संसृति - कार्य - कलामपि ॥६४॥
अतिबुधोऽपि च शास्त्रपथानुगो, न भव - कर्म समाप्तुमधीश्वर. ।
न जलधिं मनुजो लघुनौकया, तरितुमर्हति कोऽपि महीतले ॥६५॥

तो, पितर भी नही पीते हैं । इसलिये तुमको, घर में जाकर, एक पुत्र उत्पन्न करके, एव अपनी माता को दु ख से रहित बनाकर, तीनों ऋणो से विमुक्त होकर ही श्रीकृष्ण के दोनों चरणारविन्दों का चिन्तन करना चाहिये ॥५७-६०॥

मुनिजी तो इतना कहकर मौनी हो गये। तदनन्तर रामप्रसाद, परमार्थमय वचन बोला कि हे भगवान् ! आप जैसे विज्ञजनों के वाक्य को भूमि मे ठुकराने के लिये, कौन-सा बुद्धिमान् समर्थ हो सकता है ? तथापि तुम्हारे वचनका कुछ भी उत्तर न देने से तो तुम्हारे वचन की अवहेलना हो जायेगी; एवं उसका उत्तर देने मे धृष्टता भी स्पष्ट ही हो जायेगी । इस-लिये हे महामुने ! अब मैं बालकपन से जो कुछ कह रहा हूँ, आप मेरे उस कथन की क्षमा कर दीजियेगा ॥६१-६२॥

देखिये ! हे मुनिजी ! जो व्यक्ति, इस ससार की सभी क्रियाओं को समाप्त करके ही, पारलौकिक क्रिया की अभिलाषा करता है, वह तो, बिना तरङ्गोंवाली नदी के जल मे स्नान करने की इच्छावाले की तरह निष्फल मनोरथवाला ही हो जायेगा । अर्थात् नदी की तरङ्गों की तरह संसार के कार्य भी समाप्त नहीं हो सकते । और देखिये ! कोई बुद्धिमान् योगी, अपने योग साधन के बल से, भूमि के रजो को, एवं आकाश के ताराओं को गिन-कर भले ही परिसमाप्त कर सकता है, तथापि हे मुनिजी! ससार के कार्यों की कला(लेश)को भी किसी प्रकार भी समाप्त नहीं कर सकता । और कोई अतिशय बुद्धिमान् विद्वान् व्यक्ति भी, शास्त्र के मार्गका अनुगामी होकर भी, संसार के कामोंको समाप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इस विषयमे यही

सदनकार्यसमाप्ति - समीहया, ह्यकरवं तदु नान्तमवाप्तवान् ।
ज्वलितमग्निमये ! व्यजनेन क', शमयितुं मनुजोऽर्हति भूतले ॥६६॥
प्रथममस्ति सुताऽऽननदर्शनं, तदनु तस्य विवाह - निदर्शनम् ।
तदनु तस्य सुतोद्भव - दर्शनं, मम तु कार्यमशेषमशेषितम् ॥६७॥
इति विचारपरम्परया जनो, न शममीप्सितमाप्तुमिहार्हति ।
इति निगद्य गिरं भवनाशिनीं, स विरराम रमापति - संश्रय ॥६८॥
यतिरुवाच तत शृणु हे सखे !, यदुदितं भवता गृहधर्मिणाम् ।
कृतिरनन्ततरा इति तत्र सा, तदपरे नहि शेषरमेशयोः ॥६९॥
यदपि ते नहि चेतसि रागता, तदपि मे वचनाद् व्रज भो ! व्रजम् ।
तव निशम्य जरा जननीमहो !, उदयते हृदये महती दया ॥७०॥

दृष्टान्त है कि—"इस भूतलपर, अपार सागर को, छोटी सी नौका के द्वारा, पार करने को, कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं है" ॥६३-६५॥

मैं तो, घर के कार्यो की समाप्ति की अभिलाषा मे ही कार्य करता रहा, परन्तु मैं तो उनका अन्त नही प्राप्त कर पाया । क्योंकि, हे मुनिजी ! इस भूतलपर, जलती हुई अग्नि को, बीजने को द्वारा शान्त करने को, कौन सा मनुष्य समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नही । तात्पर्य—बीजने के द्वारा, अग्नि जिस प्रकार बढती ही रहती है घटती नही, इसी प्रकार सासारिक कार्य करते करते बढते ही रहते हैं, किन्तु समाप्त नही हो पाते । उनकी असाप्ति का प्रकार यह है कि, "पुत्र के मुख का दर्शन करना तो मेरा पहला कार्य है, तदनन्तर उसके विवाह का देखना, मेरा दूसरा कार्य है, उसके बाद नाती का दर्शन करना तीसरा कार्य है, किन्तु और समस्त कार्य तो मेरे अधूरे ही पडे है" बस, इस प्रकार की विचारधारा के द्वारा, कोई भी व्यक्ति, अपने अभीष्ट सुख को, यहां प्राप्त नही कर सकता । इस प्रकार सासारिक रोग को विनष्ट करनेवाली वाणी को बोलकर, श्रीकृष्ण का आश्रय लेनेवाला वह रामप्रसाद, चुप हो गया ॥६६-६८॥

तदनन्तर वह यति बोला कि, हे सखे! सुनिये, आपने गृहस्थो के कार्यो की जो अनन्तता कही, वह अनन्तता तो, शेष एव रमेश भगवान् के सिवाय दूसरे मे नही है । तात्पर्य, अनन्त शब्द से तो शेष, रमेश को कहे जाते है, क्योकि, वे ही अनन्त हैं, और सब कार्य तो सान्त हैं । यद्यपि तुम्हारे चित्त मे, ससार के प्रति आसक्ति का भाव नही है, तो भी हे भैया ! तुम मेरे वचन से व्रज मे हो चले जाओ । हाय ! हाय !! तुम्हारी वृद्धा माता को

तव वधूर्युवती पुरि रोदिति, विकलधीश्च कनिष्ठ - सहोदरः।
सुखय तान् गृह एव चसंश्चिरं, स्वमपि मोचय शीघ्रमृणत्रयात् ॥७१॥
सदन एव तनु त्वमरागितां, तव च सेत्स्यति तत्र मनोरथः।
करगते विषयेऽपि विरागिता, भवति यस्य स एव जनो महान् ॥७२॥
बहव एव गताः परमेश्वर, सदन एव विरागपरा जनाः।
स्वपिहि साम्प्रतमस्तु ततः प्रगे, सुरसरित्स्नपनं च विधाय भो ! ॥७३॥
हृदि निधाय हरिं व्रजमेष्यसि, स्वजननीं च जरां सुखयिष्यसि।
इति निगद्य यति स्वपिति स्म स, तदनु सोऽपि हताश इवाऽस्वपीत् ॥७४॥

चरित्र नायकस्य दयालुताया वर्णनम्

शयनमेत्य तत समजागरीत्, समुदिते विमले रविमण्डले।
सुरसरित्स्नपनान्तरमाह्निकं, विधिमुपास्य ददर्श कमप्यसौ ॥७५॥
प्रवयसं बहुरुग्णमवाससं, बहुरुजा विलपन्तमनाथवत्।
समवलोक्य दयाऽऽर्द्रमना ह्यसौ, हुतभुजा परितापयति स्म तम् ॥७६॥

सुनकर तो मेरे हृदय मे भारी दया प्रगट हो रही है; और देखो, तुम्हारे गाव मे, तुम्हारी युवती वधू तुम्हारे विरह मे रो रही है, एव तुम्हारा छोटा भाई भी, विकलवृद्धिवाला होकर ढीक फोडकर रो रहा है। अतः चिरकाल तक घर मे ही रहकर उन सबको सुखी कर दो, तथा अपने को भी तीनो ऋणो से शीघ्र ही मुक्त करलो। तुम तो घर मे ही वैराग्य का विस्तार कर लो, तुम्हारा मनोरथ वहीं पर सिद्ध हो जायेगा। और देखो, जिस व्यक्ति के हृदय मे, विषयो के हस्तगत होनेपर भी, वैराग्य होता है, वही व्यक्ति महात्मा कहलाता है। क्योकि घरमे रहकर ही वैराग्यमे तत्पर रहने वाले भी बहुत से जन, परमेश्वर को पा चुके हैं। अस्तु, अब तो तुम सो जाओ, रात बहुत बीत गई है। पश्चात् प्रातःकाल उठकर, गङ्गा-स्नान करके, हृदय मे हरि को धारण करके, व्रज मे चले जाओगे, अपनी वृद्धा माता को भी सुखी करोगे। इस प्रकार कहकर, वह यति महात्मा सो गया। पश्चात् वह रामप्रसाद भी हताश की भाँति सो गया ॥६९-७४॥

चरित्रनायक की दयालुता का वर्णन

रामप्रसाद सोकर भली प्रकार जाग उठा। पश्चात् निर्मल रविमण्डल के उदय होते ही गगा-स्नान के अनन्तर, दैनिक कृत्य करने के बाद उसने, किसी ऐसे वृद्ध पुरुष को देखा कि, जो बहुत रोगी था, वस्त्रो से रहित था, एव बहुत से रोग के कारण, गगातीरपर, अनाथ की भाँति विलाप कर रहा

विगतपीडमिवाऽऽशु विधाय तं, प्रवयस सलिलादिक - सेवया।
उपदिदेश च त परिसान्त्वयन्, मधुरया च गिरा सुखयन्निव ॥७७॥
त्यज न धैर्यमये! विपदाकुलो, न रुगियं भविता तव सर्वदा।
स्वकृतमत्र जनो लभते ध्रुवं, विधि - लिपिं नहि मार्जयितु क्षमः ॥७८॥
स्मर हरिं स रुजं व्यपनेष्यति, भवरुजश्च हि यस्तु भिषक्तमः।
इति निबोध्य तमाकुलितं जनं, स विमना इव गेहमुपाययौ ॥७९॥
अहह! भक्तगणेषु निसर्गत', शुभगुणा निवसन्ति दयादिका'।
हरिमयं जगदाहुरतस्त्विमे, न परदु खमुपेक्षितुमीशते ॥८०॥

गृहे निवसतोऽपि विराग-प्रगाढता

गृहगतोऽपि पुनः स च पाठयन्, स्वजननीं सुखयन्निव बाह्यत ।
हृदि गत स्वकभावमदर्शयन्, निवसति स्म जले हि सरोजवत् ॥८१॥

था। उसको देखते ही इसका मन, दया से पिघल गया, तदनन्तर उसने, उस बुड्ढे का अग्नि से तपा दिया ॥७५-७६॥

जल आदि की सेवा के द्वारा, उस बुड्ढे को शीघ्र ही पीडा से रहित सा बनाकर, चारो ओर से सान्त्वना देते हुए एव मधुर भाषा के द्वारा भली प्रकार सुखी सा करते हुए रामप्रसाद ने उसके प्रति उपदेश दिया कि हे वृद्धपुरुष! तुम विपत्ति से व्याकुल होकर भी धैर्य को मत छोडो। क्योकि, तुम्हारी यह बीमारी सदा स्थायी नही रहेगी। इस ससार मे, जनमात्र ही अपने किये हुए कर्म के फल को ही निश्चितरूप से प्राप्त करता रहता है। क्योकि, विधाता के लेख को कोई भी नही मिटा सकता। इसलिये जो ससार भर के जन्म-मरण आदि सभी रोगो का, वैद्यराज है, तुम उन्ही श्रीहरि का स्मरण करो, वह तुम्हारे इस राग को भी दूर कर देगा। व्याकुल हुए उस वृद्ध पुरुष को, पूर्वोक्त प्रकार से समझाकर, वह रामप्रसाद, अपना मनोरथ पूरा न होने के कारण, उदास की भाँति, अपने घरपर लौट आया। अहो हो! देखो, दया, क्षमा आदि जो शुभगुण है, वे श्रीहरि के भक्तगणो मे, स्वभाव से ही निवास करते है, क्योकि, वे "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इस उक्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् को श्रीहरिमय ही कहते हैं। इसीलिये ये भक्तजन, दूसरो के दु खा की उपेक्षा नही कर सकते ॥७७-८०॥

घर मे रहकर भी वैराग्य की प्रगाढता

वह रामप्रसाद, उस समय घर मे रहकर भी, वाहिरी ओर से अपनी माता को सुख देता हुआ भी, हृदय मे विद्यमान अपने भाव को न दिखाता हुआ, जल मे कमल की तरह निवास करता रहा ॥८१॥

वशयितुं च वधूरपि तस्य त, रचयति स्वमुपायशतं सदा।
तदपि नैव कथंचिदपारयद्, हरिवशं स्ववशं क इहाऽऽनयेत् ॥८२॥
कुसुमधन्व - निपीडितया तया, न वशमर्थित आगतवानसौ।
मदन आशु विवेक - विशोधितं, न कलुषीकुरुते हृदयं सताम् ॥८३॥
मनसि चिन्तयतश्चिरमीश्वरं, वसितुमैष्ट न तस्य मनोभवः।
समधिकं तरणौ हि समुद्यति, किमपि कर्तुमल नहि कौशिकः ॥८४॥
बलवता पवनेन परिष्कृते, विमल - भक्ति - विकाशनतोऽथवा।
सुलघुना रजसाऽपि तदास्पदं, मनसि तस्य मनाक् समलम्भि नो ॥८५॥
मनसि सत्त्वगुणेन बलीयसा, त्वधिकृते ह्युषसीव विवस्वता।
अरममुष्य हि निर्मलतेजसा, निखिलमेव तमः समवासरत् ॥८६॥

उसको नववधू, उसको वश मे लाने के लिये, अपने सैकड़ों उपायों को सदा ही रचती रहती थी, तो भी उसको अपने वशीभूत करने को, किसी प्रकार भी समर्थ नही हो पायी। क्योकि, श्रीहरि के वश में रहनेवाले व्यक्ति को, इस ससार मे, अपने वश मे कौन ला सकता है ? ॥८२॥

कामदेव के विषम बाणो से पीडित हुई उसके द्वारा प्रार्थित होने पर भी, वह उसके वश मे नही आया। क्योकि, विवेक रूप जल के द्वारा, विशेष-रूप से शुद्ध किये हुए सन्तों के हृदय को, कामदेव शीघ्र ही कलुषित नही करता ॥८३॥

चिरकाल तक ईश्वर का स्मरण करने वाले रामप्रसाद के मन मे, कामदेव निवास करने को समर्थ नही हुआ। क्योकि, सूर्यदेवके विशेषरूप से उदित हो जानेपर कौशिक (उल्लू) कुछ भी करने को समर्थ नहीं हो पाता ॥८४॥

प्राणायामरूप प्रबल वायु के द्वारा विशुद्ध किये हुए, अथवा निर्मल भक्ति के प्रकाशन के द्वारा विशुद्ध किये हुए उसके मन में, थोड़ा से रजोगुण को भी, थोडा सा भी स्थान नही मिल पाया। अर्थात्–प्रबल वायु के द्वारा परिशोधित पक्की सडक पर जिस प्रकार थोड़ी सी धूल को भी स्थान नही मिल पाता, उसी प्रकार प्रबल भक्तिरूप वायु के द्वारा परिशोधित सन्तों के हृदय मे, रजोगुण को, किंचिद् भी स्थान नहीं मिल पाता ॥८५॥

निर्मल तेजवाला सूर्य जब प्रात.कालपर अधिकार कर लेता है तब, उसके तेज से जिस प्रकार सारा अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार, अतिशय प्रबल सत्त्वगुण के द्वारा उसके मनपर अधिकार कर लेने पर, उसके भक्तिरूप निर्मल तेज से, सारा ही अज्ञानरूप अन्धकार शीघ्र ही भाग गया ॥८६॥

हरिपदाब्जरताय न तस्मकै, विषयसौख्यमरोचत वेश्मनि ।
नहि जनः क्वचिदम्लविशेषका - नमृतपूर्णमना परिषेवते ॥८७॥
प्रतिजलं जलज नहि जायते, प्रतिवनं न फन फलतीह चेत् ।
नहि तदात्मनि पण्डितताभवाऽ-, भवदहङ्कृतिरीषदये ! तदा ॥८८॥
ज्वलनजाऽस्तु जलेऽप्यतितप्तता, जलभवाऽस्त्वनलेऽप्यतिशीतता ।
परममुष्य मनो न मनागपि, विकृतिमञ्चति सत्यपि कारणे ॥८९॥
सहज - दूषणकानि शरीरिणां, षडपि तत्र विशेष - जितेन्द्रिये ।
ज्वरवरे हि विषाणि महोषधे-, र्गुणगणानिव तूर्णमजोजनन् ॥९०॥
काम श्रीहरिदर्शने समभवत् क्रोधो जने नास्तिके
लोभ श्रीहरिनामकीर्तिगणने मोहो वियोगे सताम् ।
श्रीमद्भागवताऽवलोकनविधौ शश्वन्मदोन्मत्तता
भक्तिद्वेषि - जनेऽप्यमुष्य नितरा मात्सर्यलीलावली ॥९१॥

श्रीहरि के चरणारविन्दो मे रमण करनेवाले रामप्रसाद के लिये, घर मे रहकर भी विषयो का सुख रुचिकर नही लगता था। इस विषय मे यही दृष्टान्त है कि, जिसका मन अमृत से परिपूर्ण हो गया है, वह व्यक्ति, खट्टे पदार्थो को कभी एव कही भी सेवन नही करता ॥८७॥

और देखो, इस ससार मे, प्रत्येक जल मे ही जब कमल नही होता, एव प्रत्येक वन मे ही जब फल नही लगते तब ऐसी साधारण स्थिति मे, उस रामप्रसाद के मन मे, पाण्डित्य से होनेवाला थोडा सा भी अहकार नही था तो, इस विषय मे कोई आश्चर्य नही है ॥८८॥

अग्नि से उत्पन्न होने वाली भारी गर्मी, जल मे भले ही हो जाय, एव जल के द्वारा उत्पन्न होनेवाली अतिशय शीतलता, अग्नि मे भले ही हो जाय, परन्तु इस रामप्रसाद का मन तो, विकारो के कारणो के उपस्थित होनेपर भी, किंचित् भी विकृत नही होता था ॥८९॥

और देखो, देह धारण करनेवाले मनुष्यो के, काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, एव मात्सर्य, ये छ, स्वाभाविक दोष कहे जाते है, परन्तु विशेष जितेन्द्रिय, रामप्रसाद मे तो, इन दोषो ने, शीघ्रतापूर्वक गुणगणो को ही उस प्रकार से उत्पन्न कर दिया था कि, जिस प्रकार श्रेष्ठ ज्वर मे, विशेष गुणकारी औषधि के विष भी, गुणो को ही उत्पन्न कर देते है ॥९०॥

अतएव, रामप्रसाद का काम (अभिलाष, या तृष्णा) श्रीहरि के दर्शन करना-रूप विषय मे परिणत हो गया था, क्रोध, केवल नास्तिकजन के ऊपर

ससार हि तितीर्षतो मतिमतो लावण्यलक्ष्मीवतोऽ-
प्यस्य द्वेष इवाऽभवद् वनितया सनम्रया कम्रया ।
सच्छास्त्रार्थ-विचिन्तया मतिमता ससेवया वा दिन
श्रीकृष्ण - स्मरणेन नामगणनेनाऽसावनैषीन्निशाम् ॥६२॥
त्रियामा नो चेष्टा विरचयति घस्रे निवसितु
त्रियामाया नैव द्युतिरपि तथाऽऽस्ते तरणिजा ।
न चेच्चेष्टा लोके विरचयति वै कोऽप्यविषये
हरिप्रेष्ठे काऽपि व्यजनि न तदा दुर्जनकृतिः ॥६३॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये नायकस्य
श्रीगगातीरगमना-तत्रस्थमहात्मदर्शन-तत्कृतमत्कृतिस्वीकृति-साय-
कालीन-गगास्नान-सूर्यास्त-तमोवर्णन मुनिनायकवार्तालाप-
वर्णनपूर्वक गृहे निवसतोऽपि विरागप्रगाढता प्रथन नाम
पञ्चम सर्ग सम्पूर्ण ॥५॥

ही होता था, एव उसका लोभ, श्रीहरि के नामो की सख्या एव श्रीहरि की कीर्ति की गणना के विषय मे ही सलग्न हो गया था, मोह, सन्तो के वियोग मे होता था, निरन्तर होनेवाली मदोन्मत्तता भी, श्रीमद्भागवत के अवलोन की विधि मे एव विशिष्ट वैष्णवो के दर्शन के समय ही होती थी, तथा उसकी परोत्कर्षाऽसहन-रूप जो मात्सर्य की लीला-श्रेणी थी वह भी विशेष करके, भक्ति से द्वेष करनेवाले जनो के ऊपर ही हो गयी थी । इस प्रकार ये अवगुण भी गुणरूप मे परिणित हो गये थे । (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥६१॥

क्योकि, वह रामप्रसाद तो ससार से पार होना चाहता था, बुद्धिमान् था, सौन्दर्य की शोभा से युक्त था, उसकी भार्या भी विशेष नम्र थी एव परमसुन्दर थी, इतने पर भी, उसके साथ, इसका द्वेष-सा ही बना रहता था । (यहाँपर 'विशेषोक्ति' अलकार है) अतएव वह, अपने दिन को तो, सत् शास्त्रो के अर्थो के विचार के द्वारा, एव बुद्धिमान् विज्ञानियो की सेवा के द्वारा बिता देता था तथा रात्रि को, श्रीकृष्ण के स्मरण के द्वारा, एव उनके नामों की गिनती के द्वारा ही बिता देता था । (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥६२।

और देखो, रात्रिदेवी, दिन मे निवास करने की कभी भी चेष्टा नही करती, एव सूर्य का प्रकाश भी अर्थात् दिन भी, रात्रि मे निवास करने की

अथ षष्ठः सर्गः

सद्गुरु-प्राप्तिचिन्ता

'निजगेहगतोऽप्यसौ तदा, मनसा चिन्तयति स्म सर्वदा ।
इदमेव मया कदाऽऽप्स्यते, गुरुवर्यो भव - ताप - हारक ॥१॥

यतिना यदपि प्रबोधितो, सुरसिन्धोस्तट - वासिना पुरा ।
स्थितये गृह एव सर्वदा, तदपि स्वीकुरुतेऽस्य नो मनः ॥२॥

अथवा कथमत्र भुज्यते, विषयस्तेन जनेन साऽऽग्रहम् ।
नहि जन्मनि येन पूर्वके, सुखमास्वादि विरक्तिकारणात् ॥३॥

चेष्टा, कभी भी नही करता । इस स्थिति के अनुसार, इस लोक मे, कोई भी व्यक्ति, अपने अधिकार से बाहर के स्थान मे, जब किंचित् भी चेष्टा नही करता, तब, श्रीहरि के अतिशय प्यारे उस रामप्रसाद मे, कोई भी दुर्गुण नही था तो, इस विषय मे आश्चर्य ही क्या है ? (इस श्लोक में 'शिखरिणी' छन्द है) ॥६३॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहित श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये नायकस्य गंगातीरगमनाद्यनेकविषय-वर्णनं नाम पञ्चम सर्गं सम्पूर्ण ॥५॥

छठवां सर्ग

सद्गुरु की प्राप्ति की चिन्ता

उस समय वह रामप्रसाद, अपने घर मे रहकर भी, अपने मन से सदा सर्वदा, इसी बातपर विचार करता रहता था कि, " सासारिक सतापो को हरनेवाला सद्गुरु, मुझे कब मिल पायेगा ।" (इस सर्ग मे, ६६ श्लोक तक 'वियोगिनी'-नामक छन्द हैं, किन्तु 'श्रीशकर-स्तुति' के छ श्लोक 'वसन्त-तिलका'-छन्द के हैं) ॥१॥

श्रीगगा तीरपर रहनेवाले उस सन्यासी महात्मा ने पहले, यद्यपि सदा घर मे ही रहने के लिये, रामप्रसाद को समझाया था, तो भी इसका मन उस बात को अगीकार नहीं करता था । अथवा जिस व्यक्ति ने, परम वैराग्य के कारण पहले जन्म मे, विषयो का आस्वादन नहीं किया, वह व्यक्ति, इस जन्म मे, आग्रहपूर्वक विषयो का उपभोग किस प्रकार कर सकता है अर्थात् किसी प्रकार भी नही ॥२-३॥

पितृगेहमगात् तदा वधू-, रिति हेतोरपि तस्य धारणा।
गृहमाशु जहामि नोऽथवा, विचिकित्सा - रहिता बभूव ह ॥४॥

गुरवो भवितुं यदप्यहो, बहवः सन्ति वसुन्धरातले।
परमिच्छति यादृशं ह्यसौ, नहि तादृग् दृशमस्य विन्दति ॥५॥

सद्गुरु-लक्षणानि

निगमागम - सिन्धुपारग, रहितं काममुखादि - दुर्गुणं ।
परतत्त्वविदं विदां वरं, नितरां सत्यपरं परायणम् ॥६॥

शुभवेषमुदारचेतस, चलितं द्वन्द्वपथात् कृपाऽऽकरम् ।
अतिसुन्दरमात्मबाह्यतो, वचन यस्य सुधासमं मतम् ॥७॥
स्पृहणीयगुण च वैष्णवं, हरिलील - स्मृतिगद्गदाक्षरम् ।
पुलकाञ्चितमीशचिन्तया, हरिपादाम्बुजमानसौकसम् ॥८॥

उस समय उसकी बहू, अपने पिता के घर चली गई थी, इस हेतु से भी उसकी धारणा, 'मैं अपने घर को शीघ्र ही छोड़ूँ अथवा नहीं' इस प्रकार के सन्देह से रहित हो गई थी। अर्थात् घर को छोड़ने का विचार ही निश्चित हो गया था ॥४॥

इस भूतलपर, गुरु होने के लिये तो बहुत से व्यक्ति तैयार है, परन्तु यह रामप्रसाद, जैसा सद्गुरु चाहता था, वैसा सद्गुरु, इसकी दृष्टि मे अभी तक प्राप्त नही हो रहा था ॥५॥

सद्गुरु के लक्षण

वह तो इस प्रकार का सद्गुरु चाहता था कि, जो वेद, पुराण एव समस्त शास्त्ररूप-समुद्र का पारगत हो, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुणो से रहित हो, परमात्मा के तत्त्व को भली प्रकार जानता हो, विद्वानो मे या विज्ञानियो मे श्रेष्ठ हो, विशेषकर सत्यवादी हो, भगवत्परायण हो, शुभमङ्गलमय वेष धारण करनेवाला हो, उदार चित्त-वाला हो, भूख-प्यास, सुख-दु ख, शोक-मोह, जाडा-गरमी आदि द्वन्द्व के मार्ग से दूर हो अर्थात् सब प्रकार के द्वन्द्वो से रहित हो, कृपा का आकर (खजाना) हो, बाहर एव भीतर से भी अतिशय सुन्दर हो, एव जिसका वचनमात्र ही अमृत के समान हो, दया, दाक्षिण्य आदि स्पृहणीय (वाञ्छनीय) गुणो से युक्त हो, परमवैष्णव हो, श्रीहरि की लीला के स्मरणमात्र से गद्गद होकर बोलनेवाला हो, परमेश्वर के स्मरणमात्र से पुलकित होने वाला हो, एव जिसके मनरूप सरोवर मे, श्रीहरि के चरणरूप-कमल, सदैव विकसित रहते हो, तथा श्रीहरि की कथा एव श्रीहरि का नाम-सकीर्तन ही

हरि - कीर्तिकथैक - जीवनं, शरणापन्न - जनैकजीवनम् ।
हरिभक्तिविरोधिनश्च नु-, विचिकित्सानुदमात्मनैपुणैः ॥९॥
निजशिष्यग - संशयच्छिदं, भिदुरं पापगिरेर्हि दर्शनात् ।
विदुरं खलु देशकालयो-, र्गुरुमेतादृशमैच्छदेषकः ॥१०॥

सद्गुरुप्राप्तये शिवार्चा

इति - लक्षण - लक्षितो गुरु-,र्लभते नैव कृपां विना विभो. ।
परिभाव्य हृदेदमेषक, शरणं शंकरमाशुतोषमैत् ॥११॥
प्रतिवासरमेष सादरं, स्नपनाद्यामवसान - दीपकाम् ।
प्रणमन् वपुषा स्तुवन् गिरा-, तनुताऽर्चां शिवपादपद्मयोः ॥१२॥

श्रीशंकर-स्तुतिः

सर्वैः समर्चितपदाम्बुजसर्वकाल !,गंगाकपर्दपरिशोभितचन्द्रभाल ! ।
दाक्षायणीसमभिभूषितवामभाग !,हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम्॥१३

जिसका जीवन-स्वरूप हो, एव जो अपनी शरण मे आनेवाले जनमात्र का जीवन-स्वरूप हो, और जो, अपने हृदय मे विद्यमान शास्त्र की युक्तिरूप निपुणता (चतुराई) के द्वारा, श्रीहरि की भक्ति से विरोध करनेवाले मनुष्य-मात्र के विचिकित्सा (सन्देह) को दूर करनेवाला हो, एवं अपने शिष्य मे रहनेवाले संशय का छेदन करनेवाला हो, अपने दर्शनमात्र से, दर्शकजन के पापरूप-पर्वत का भेदन करनेवाला हो, तथा देश-काल का ज्ञाता हो ॥९-१०॥

सद्गुरुदेव की प्राप्ति के लिये शंकर-पूजा

"पूर्वोक्त प्रकार के समस्त लक्षणों मे युक्त श्रीगुरुदेव की प्राप्ति, श्रीशंकर भगवान् की कृपा के बिना नही होती" वह रामप्रसाद, अपने मन से यह विचार करके, अपने भक्त मात्र पर ही प्रसन्न होनेवाले श्रीशकर की शरण मे चला गया। अर्थात् उनकी आराधना करने लग गया। वह रामप्रसाद, प्रतिदिन, शिवजी को स्नान कराने से आरम्भ करके, दीपक-दान पर्यन्तवाली शिवजी की पूजा को, शिवजी के चरण कमलों मे, शरीर मे प्रणाम करता हुआ, एव वाणी से उनकी स्तुति करता हुआ, आदरपूर्वक विस्तारित करने लग गया ॥११-१२॥

श्रीशंकरजी की स्तुति

हे प्रभो ! आपके चरणारविन्द, सभी के द्वारा सदैव पूजित होते रहते हैं, आपका जटाजूट, श्रीगङ्गाजी के द्वारा एव आपका मस्तक चन्द्रमा के द्वारा सदैव सुशोभित रहता है ! तथा आपका वामाङ्ग, पार्वतीदेवी के

जाज्वल्यमानमभितो गरलाग्निना त्वं,लोक विलोक्य सहसा कृपया परीत ।
पीत्वा गर समभिरक्षितसर्वलोक!,हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम्॥१४॥

खिन्न यदा जगदिद त्रिपुरासुरेण, दृष्ट तदा करुणयापि भृशं परीतः ।
हत्वा द्रुत तमसुर सुखित चकर्थ,हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम्॥१५॥

गगावतारसमयेऽपि भगीरथेन, सम्प्रार्थित करुणया जगदुद्दधर्थ ।
धृत्वा कपर्दविवरे बहु गागमम्भो,हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम्॥१६॥

गण्डूषवारिपरिप्रेक्षिणि वैजनाम्नि,म्लेच्छेऽपि तुष्टिमगम किमु पूजके तु ।
नाम्ना ततोऽसि विदित खलु वैजनाथ ,हे विश्वनाथ!किमनाथमुपेक्षसे माम्॥

द्वारा भलीप्रकार विभूषित रहता है । अत हे विश्वनाथ ! (ससार भर के स्वामिन् !) केवल मुझ अनाथ की ही उपेक्षा क्यो कर रहे हो ॥१३॥

क्षीरसागर से निकले हुए जहर की अग्नि के द्वारा, समस्त विश्व को चारो ओर से विशेषरूप से जलता हुआ देखकर, आप अचानक करुणा से व्याप्त होकर, उस जहर को पीकर सभी जनो की रक्षा करनेवाले हो ! अत हे विश्वनाथ ! आप ससार भर के सरक्षक होकर भी, केवल एक मुझ अनाथ की ही उपेक्षा (लापरवाही) क्यो कर रहे हो ॥१४॥

आपने जब इस जगत् को, त्रिपुरासुर के द्वारा पीडित देखा था, तब भारी करुणा से व्याप्त होकर, उस असुर को शीघ्र ही मारकर, आपने इस जगत् को सुखी कर दिया था । अत हे दयालो ! विश्वनाथ ! ऐसी स्थिति मे, केवल एक मुझ अनाथ की ही उपेक्षा क्यो कर रहे हो ॥१५॥

श्रीगङ्गाजी के अवतरण के समय, श्रीभगीरथ के द्वारा भली प्रकार प्रार्थित हुए आपने, बहुत से गङ्गाजल को, अपने जटाजूट के छिद्र मे धारण करके, अपनी अहैतुकी कृपा के द्वारा, जगत् भर का उद्धार कर दिया था । अत हे परमकृपालो ! विश्वनाथ ! केवल एक मुझ अनाथ की ही उपेक्षा क्यो कर रहे हो ॥१६॥

और देखो एक 'वैज'-नामक किरात जगल मे रहता था, वह भोजन करने के बाद आचमन करते समय अपने मुख की कुल्ली के जल को, प्रतिदिन नियम पूर्वक आपके ही ऊपर फेंका करता था । आपने उसके इस प्रकार के बुरे व्यवहार पर भी प्रसन्न होकर वर मांगने को कहा था, तब उसने, सदैव अपना नाम चलाने का वर आपसे माँगा था, आपने उसको भी सहर्ष वही वरदान दे दिया था । इसलिये आप उसी दिन से 'वैजनाथ' नाम से प्रसिद्ध हो गये हो । अर्थात् उस किरात का नाम चलाने के लिये

य, पञ्चकं त्रिनयनस्य मुदा ब्रवीति,तस्योपरि त्रिनयन करुणां करोति।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,रित्याह शंभुकृपया वनमालिदास.॥१८॥

शंकरकृपया सद्गुरुप्राप्तेरुपक्रमः

तदनु द्रुतमाशुतोषजां, प्रथयन् प्रीतिमिवाऽस्य कर्हिचित्।
लघु भाविगुरोर्हि शिष्यक, सुखमध्यापनकाल आययौ ॥१९॥
अमुनार्ऽपितमासन स च, कृतवान् तूर्णमल ततस्त्वसौ।
उपविश्य निजासने द्रुत, मधुरा वाचमुवाच तर्पयन् ॥२०॥
अयि विज्ञ! सतां हि संगति, मम चेतो नितरामिहेच्छति।
यत ईशपदारविन्दयो, रतिदा सगतिरीरिता सताम् ॥२१॥

आपने, उसके नाम को अपने नाम के पहले ही जोड लिया है। तात्पर्य–आप जब ऐसे म्लेच्छ के ऊपर भी प्रसन्न हो जाते हो तब, अपने पुजारी के ऊपर प्रसन्न हो जाओगे, इस विषय मे तो फिर कहना ही क्या है? अत हे विश्वनाथ! केवल एक मुझ अनाथ बालक की ही उपेक्षा क्या कर रहे हो। मेरे ऊपर भी शीघ्र ही कृपा करके, सर्वलक्षण-सम्पन्न सद्गुरुदेव की प्राप्ति करा दो प्रभो! ॥१७॥

जो व्यक्ति, इस, 'विश्वनाथ-पञ्चक' का प्रसन्नतापूर्वक प्रतिदिन पाठ करता है, या करेगा, उसके ऊपर त्रिनेत्रधारी श्रीशंकरजी शीघ्र ही कृपा कर देते है। इस बात को 'श्रीवनमालिदास'–नामक वही कवि कहता है कि, जिसको कविता शक्ति का लाभ, श्रीवृन्दावन–वास करने के लोकोत्तर प्रभाव से ही हुआ है ॥१८॥

श्रीशंकर की कृपा से सद्गुरुप्राप्ति का उपक्रम

उसके बाद किसी दिन, मानो शीघ्र ही शंकरजी की कृपा से होनेवाली प्रीति (अनुकम्पा) का विस्तार करता हुआ कोई पण्डित, रामप्रसाद के अध्यापन कराने के समय मे ही सुखपूर्वक आ गया। वह पण्डित, रामप्रसाद के भावी (आगे होनेवाले) श्रीगुरुदेव का शिष्य था एवं उसका नाम–'श्रीरमणलाल' था ॥१९॥

पश्चात् रामप्रसाद के द्वारा दिये हुए आसन को पण्डितजी ने अलंकृत कर दिया। उसके बाद वह रामप्रसाद, शीघ्र ही अपने आसन पर बैठकर, पण्डितजी को प्रसन्न करता हुआ मीठी वाणी बोला कि, हे पण्डितजी! देखिये, मेरा मन, विशेष करके सन्तो की संगति को ही चाहता रहता है. क्योंकि, सत्संगति, परमेश्वर के पदारविन्दो मे प्रीति प्रदान करनेवाली कही गई है ॥२०-२१॥

स उवाच तत पर बुध-, स्तव चेदिच्छति सत्सभां मनः ।
मम तर्हि सभामुपेत्य भो !, महतां संगतिमाप्स्यसि द्रुतम् ॥२२॥
तमुवाच ततस्त्वसौ द्रुत-, महमध्यापनकार्यपृष्ठतः ।
अयमागत एव भो बुध !, इदमाकर्ण्य स पण्डितो ययौ ॥२३॥
द्रुतमेव समाप्य सोऽपि च, स्वकमध्यापनकार्यमाययौ ।
समिति विदुषा ददर्श च, लिपिमूर्ति त्विह भाविनो गुरो ॥२४॥
अवलोक्य स चित्रमाधुरी-, मपि सौन्दर्यममूमुहद् भृशम् ।
वरमाह तत सभासदं, रमणादि किल लालपण्डितम् ॥२५॥
अयि विज्ञ ! वद प्रभाश्रितं,त्विदमास्ते किल कस्य चित्रकम् ।
निधिरेव हि तेजसां भृश, भविता कश्चन योगवान् महान् ॥२६॥
अपि यस्य प्रमेह चित्रके, स दृशोरस्ति रसायनं किल ।
स उवाच बुधस्त्वमु प्रति, प्रतिबिम्ब किल मे गुरोरिदम् ॥२७॥
तत आह स पण्डितं प्रति, मयकाऽप्येव गुरुः करिष्यते ।
जननान्तर - संगवानय, हृदयग्राहितया 'मतो मम ॥२८॥

तदनन्तर उन पण्डितजी ने कहा कि, हे भैया ! यदि तुम्हारा मन, सज्जनों की सभा को चाहता है तो तुम मेरे पास आया करो, क्योंकि, हमारी सभा मे आकर के तुम, महात्माओं की सगति को शीघ्र ही प्राप्त कर लोगे । पश्चात् रामप्रसाद ने उनके प्रति कहा कि, "हे पण्डितजी ! देखो, मैं, अपने पढ़ाने के कार्य के पीछे ही आपके निकट आ ही रहा हूँ" यह बात सुनते ही पण्डितजी अपने घर चले गये ॥२२-२३॥

रामप्रसाद भी अपने अध्यापन के कार्य को शीघ्र ही समाप्त करके, उस विद्वत्सभा मे चला आया। और आते ही, वहाँ पर उसने अपने भावी श्रीगुरुदेव की, चित्रमयी मूर्ति का दर्शन किया । वह, उस चित्र की माधुरी को एव चित्रगत श्रीगुरुदेवके सौन्दर्य को देखकर भारी विमुग्ध हो गया । पश्चात् सभा म बैठे हुए प० श्रीरमणलालजी से उसने कहा कि, कहिये पण्डित जी !, लोकोत्तर प्रभा से युक्त यह चित्र, किस महानुभाव का है ? देखने से तो यह प्रतीत होता है कि, यह महानुभाव, विशिष्ट तेजो का विधान, एव कोई महान् योगी ही होगा । क्योंकि, जिसकी कान्ति, इस चित्र मे भी इतनी है, वह महानुभाव, दर्शन मात्र से ही नेत्रों का रसायन स्वरूप है । पण्डितजी ने रामप्रसाद के प्रति कहा कि, यह तो हमारे श्रीगुरुदेव का चित्रपट है ॥२४-२७॥

अत ईक्षणमाशु कारय, क्व नु ते वर्तत एव भो ! गुरुः ।
इति चाऽस्य विचारधारणां, परिभाव्येदमभाषत द्विजः ॥२९॥

अधुना गुरवो महाशय !, पचहाराख्यपुरे वसन्ति मे ।
हरि-भक्ति-विरोधिनो जनान्,बहु सम्बोध्य नयन्ति सत्पथम् ॥३०॥

यदि ते विपुला हि लालसा, तदवेक्षार्थमजीजनद् हृदि ।
सममेव मया तदा व्रज, गुरुवर्यं मम पश्य सुन्दरम् ॥३१॥

इति तस्य निशम्य भाषितं, गमनायाऽनुरुरोध त द्रुतम् ।
अथ जग्मतुराश्रमं गुरो- र्मुदितौ चापतुराश्रमं प्रगे ॥३२॥

सद्गुरु-शोभादर्शनम्

अथ शोधित - काञ्चनद्युति, विपुलोरस्कमुदारमानसम् ।
सुललाट - कपोल - नासिकं, स्वधरं दीर्घदृश विमत्सरम् ॥३३॥

तदनन्तर रामप्रसाद ने, पण्डितजी से कहा कि, मैं भी, 'चित्रपट मे दिखाई देने वाले' इन्ही महानुभाव को, श्रीगुरुरूप मे अंगीकार करूँगा । मैं तो, "मेरा हृदय ग्रहण कर लेने के कारण, ये महानुभाव, मेरे दूसरे जन्म के भी सगी हैं," ऐसा ही मानता हूँ । इसलिये हे पण्डितजी ! आप मुझे शीघ्र ही उनका दर्शन करा दीजिये, तुम्हारे गुरुजी इस समय कहाँपर है ? । रामप्रसाद की, इस प्रकार की विचारधारणा को विचारकर, पण्डितजी ने कहा कि, हे महाशय ! इस समय हमारे श्रीगुरुदेव, 'पचहरा'–नामक ग्राम मे निवास कर रहे है, वहाँपर रहकर वे, श्रीहरि की भक्ति के विरोधीजनो को विशेष समझाकर सन्मार्गपर ला रहे हैं । यदि तुम्हारे मन मे, उनके दर्शन करने के लिये भारी लालसा उत्पन्न हो गई है तो, मेरे साथ ही चलो, एव परमसुन्दर मेरे श्रीगुरुदेव का दर्शन करो ! इस प्रकार पण्डितजी के वचन को सुनकर, रामप्रसाद ने, पण्डितजी के प्रति शीघ्र ही चलने का अनुरोध किया । उसके बाद, वे दोनो प्रसन्न–होकर, श्रीगुरुदेव के निवास-स्थान की ओर चल दिये, अर्थात् 'पचहरा'–ग्राम की ओर चल दिये, प्रात काल के समय श्रीगुरुदेव के आश्रम पर पहूँच गये ॥२८-३२॥

सद्गुरुदेव की शोभा का दर्शन

तदनन्तर उन दोनो ने श्रीगुरुदेव का भलीप्रकार दर्शन किया । श्रीगुरुदेवकी कान्ति विशुद्ध सुवर्णके समान थी, उनका वक्ष स्थल विशाल था, उनका मन लोकमात्र के उद्धारके लिये परम उदार था, उनका विशाल-भाल, गोल-कपोल, एव नासिका आदि परम सुन्दर थे, अधरोष्ठ सुन्दर था ; तथा

स्मितहासमुदात्तमुन्नत, वृषभस्कन्धमहस्वदोर्युगम् ।
सितवाससमाकृताह्निकं, मृदुवाचं लसदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥३४॥

शरणागतलोक - वत्सल, भवमारम्य च ब्रह्मचारिणम् ।
हृदयस्थित - शास्त्रतिग्मगु-, निखिलप्राणि - मनस्तमोनुदम् ॥३५॥

निजसिद्धिविशेषनिर्मितै-, रभितः शिष्यगणैरिवाऽऽवृतम् ।
हृदि कृष्ण - विधुर्हि वर्तते, कथयन्त दशनांऽशुकैरिव ॥३६॥

अपि नास्तिकलोकमास्तिक, रचयन्तं श्रुतिवाक्य - दर्शनै ।
अवलोकनतोऽघनाशनं, गुरुवर्यं परिपश्यतः स्म तौ ॥३७॥

सद्गुरुदेव-प्राप्ति.

उपसृत्य पदारविन्दयो-, रवलोकेन विशुद्धमानसौ ।
पुलकाञ्चित - विग्रहावुभौ, कनकं दण्डमिवाऽऽशु पेततुः ॥३८॥

उनके नेत्र विशाल थे एव ज्ञान भी विशाल ही था; वे, परोत्कर्षाऽसहनरूप-मत्सर (डाह) से रहित थे; मन्द मुसकान मे युक्त थे; भक्ति के विषय मे परम उदार दाता थे. उनका शरीर बहुत ऊँचा था; उनके कन्धे वृषभ के समान थे, दोनो भुजाये बहुत लम्बी थी. उनके वस्त्र सफेद थे; प्रात कालीन भजन-पूजन आदि कर चुके थे; उनकी वाणी कोमली थी. उनके मस्तकपर श्रीहरि-मन्दिराकृति ऊँचा तिलक सुशोभित था; एव वे श्रीमध्वसम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीनित्यानन्द महाप्रभु के परिवार मे दीक्षित हुए परम वैष्णव थे. वे, अपनी शरण मे आनेवाले जनमात्र के ऊपर वात्सल्यरस बरसा रहे थे. आजन्म ब्रह्मचारी थे, एव अपने हृदय मे स्थितसकल-शास्त्र-रूप सूर्य के द्वारा, प्राणीमात्र के मन के अज्ञानरूप अन्धकार को दूर भगानेवाले थे. मानो अपनी किसी सिद्धिविशेष के द्वारा ही बनाये हुए शिष्यगणो के द्वारा, चारो ओर से घिरे हुए थे, "उनके हृदय मे श्रीकृष्णरूप पूर्णचन्द्रमा सदा विद्यमान रहता है" इस बात को वे, मानो अपने दांतो की सफेद किरणो के द्वारा ही कह रहे थे. एव अनेक श्रुतियो के वाक्यों को दिखाकर, अनेक नास्तिक लोगो को आस्तिक बना रहे थे, और अपने दिव्य मङ्गलमय दर्शन मात्र से ही, दर्शक जनों के पापों को विनष्ट करने वाले थे । उन दोनो ने, इस प्रकार की झांकी वाले श्रीगुरुदेव का दर्शन सर्वतोभाव से किया ॥३३-३७॥

सद्गुरुदेव की प्राप्ति

वे दोनों, पूर्वोक्त प्रकार के श्रीगुरुदेव के दर्शनमात्र से, विशुद्ध मनवाले होकर, पुलकावलियो से युक्त शरीरवाले होकर, उनके निकट जाकर, उनके

सुचिर विनिपत्य पादयो–, र्हरिप्रेष्ठो नयनाऽम्बुधारया ।
अभिषेकमिवाऽतनोद् ददा –,वुपहारे निजमुत्तमाङ्गकम् ॥३९॥
शनकैरथ दूरमास्थितो, नयनाभ्यां गुरुरूपमापिबन् ।
मनसेदमसावचिन्तयद्, निजभाग्यं परिशंसयन् भृशम् ॥४०॥
स्वमनोरथपूर्तिमेति ना, भुवि जीवन्ननु वत्सरैरपि ।
इति वागपि नैव निष्फला, यदहं पूर्णमनोरथोऽभवम् ॥४१॥
अननुष्ठित - पूर्वपुण्यकै–, र्दुरवापो गुरुरीदृशो जनैः ।
अपि चेदृशदर्शनादृते, नहि वन्ध्यत्वमपैति नेत्रयोः ॥४२॥
सफलो मम भाग्य - पादपः, सफला शंकरभक्तिरद्य मे ।
सफलं मम जन्म भूतले, सफलं नेत्रयुगं च दर्शनात् ॥४३॥
अयि शंकर ! तेऽल्पधीरहं, गुणलेशानपि वक्तुमक्षम ।
करवै नम एव केवलं, कृतकृत्यः समपादिपि त्वया ॥४४॥

चरणारविन्दो मे, सुवर्ण के दण्ड की तरह शीघ्र ही गिर पडे । श्रीहरि के अतिशय प्यारे रामप्रसाद ने, श्रीगुरुदेव के चरणो मे वहुत देर तक गिरकर, प्रेमाश्रुओ की धारा के द्वारा, श्रीगुरुदेव के चरणो का मानो अभिषेक ही कर दिया, एव भेट मे मानो अपना मस्तक ही समर्पण कर दिया ॥३८-३९॥

उसके बाद धीरे से उठकर, अपने नेत्रो से श्रीगुरुदेव की रूप-माधुरी का पानकरता हुआ, एव अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशसा करता हुआ रामप्रसाद, अपने मन के द्वारा यह विचार करने लगा कि,—"**एति जीवन्त-मानन्दो नरं वर्षशतादपि**" "श्रीभरतजी की इस उक्ति के अनुसार, भूतलपर जीता हुआ मनुष्य मात्र ही, अपने मनोरथ की पूर्ति को प्राप्त कर लेता है" शास्त्रो की यह वाणी भी निष्फल नही है । कारण–मै भी तो पूर्णमनोरथवाला हो गया हूँ । और जिन व्यक्तियो ने पहले जन्मो मे पुण्य नही किये है, उनको इस प्रकार का लोकोत्तर गुरुदेव दुर्लभ ही है । और इस प्रकार के महानुभाव के दर्शन के विना, नेत्रो का वन्ध्यापन भी दूर नही होता, अर्थात् ऐसे महात्माओ के दर्शन के विना, नेत्र निष्फल ही माने जाते हैं । मेरा भाग्यरूपी वृक्ष, आज सफल हो गया, श्रीशकरजी की भक्ति भी सफल हो गई । इस भूतलपर मेरा जन्म लेना भी सफल हो गया, एव इनके दर्शन से दोनो नेत्र भी सफल हो गये । हे भगवन् शकर ! मैं तो अल्प वुद्धिवाला हूँ, अत. तुम्हारे गुणो के लेशमात्र को भी कहने मे असमर्थ हूँ, इसलिये मैं तो केवल नमस्कार ही करता हूँ । आपने तो मुझको कृतकृत्य (कृतार्थ) ही कर दिया ॥४०-४४॥

इति चिन्तनतत्परो ह्यसौ, गुरुणा स्निग्धदृशा विलोकितः।
अमुना सह यायिना बुधात्, समवैद् वृत्तममुष्य देशिक ॥४५॥
परिभाव्य ततोऽस्य हृद्गतं, गुरुवर्यो वयुनेन चक्षुषा।
निज शिष्यतया विधानतो, मनुदानेन समग्रहीदमुम् ॥४६॥
गुरुवर्य - समीप एव नु, निवसामि स्वकुटुम्बमुत्सृजन्।
इति चेतसि चाऽस्य यद्यपि, तदपि प्राकटि नो गुरोर्भिया ॥४७॥
तदनु स्वगृहं स दीक्षितो, गुरुवर्येण भृशं सुशिक्षितः।
नतिभिः परिपूज्य सद्गुरुं,गुरु - विश्लेष - निपीडितो ययौ ॥४८॥

सद्गुरु प्राप्य स्वगृहमागत्य गुरो समक्षे पुन स्वाभिप्रायप्रकाश

अथ भूभ्रमण - क्रमेण च, हरि - भक्ति प्रतिपादयञ्जने।
गुरुवर्य उदारमानसो, जगम्पा - नगरीमपेयिवान् ॥४९॥
स निशम्य समीपमागतं, गुरुवर्यं हि विलोकितुं पुन।
समयात् समवाप्य तत्पुरं, गुरुवर्यं प्रणनाम दण्डवत् ॥५०॥

अपने मन मे इस प्रकार का विचार करनेवाले रामप्रसाद को, श्रीगुरुदेव ने स्नेह भरी दृष्टि से देख लिया। और गुरुदेव ने, इसके सम्पूर्ण वृतान्त को, इसके साथ मे आनेवाले पण्डितजी के द्वारा भलीप्रकार जान लिया ॥४५॥

तदनन्तर श्रीगुरुदेव ने, इस रामप्रसाद के मन के भाव को, अपने ज्ञानरूप नेत्र के द्वारा पहचानकर विचार करके, विधिपूर्वक महामन्त्र देकर, इसको अपने शिष्य के रूप से ग्रहण कर लिया ॥४६॥

उस समय, रामप्रसाद के मन मे, यद्यपि यह बात आरही थी कि, "मैं तो अपने कुटुम्ब को छोडकर, श्रीगुरुदेवजी के निकट ही निवास करूं" तो भी उसने यह बात, श्रीगुरुदेव के भय से उनके सामने प्रगट नही की। उसके वाद तो दीक्षित हुआ वह रामप्रसाद, श्रीगुरुदेव के द्वारा विशेष करके भलीप्रकार सुशिक्षित होकर, साष्टाङ्ग प्रणामो के द्वारा सद्गुरुदेव की पूजा करके, श्रीगुरुदेव के विरह से पीडित होकर, अपने घर को ही लौट आया ॥४७-४८॥

सद्गुरु को पाकर, अपने घर मे आकर पुनः गुरुदेव के सामने जाकर अपने अभिप्राय का प्रकाशन

तदनन्तर सनातन-धर्म के प्रचार के निमित्त, भूमिपर भ्रमण करने के क्रम से, प्रत्येक जन मे श्रीहरि की भक्ति का प्रतिपादन करते हुए, अतएव उदारमनवाले हमारे श्रीगुरुदेव, 'जगम्पा'-नामक नगरी मे आ गये थे।

रहसि स्वगुरुं व्यजिज्ञपत्, विनिधायाञ्जलिमेष मस्तके।
गुरुवर्य ! तवाङ्घ्रिपद्मयो-, र्भमरं मां परिभाव्य रक्षय ॥५१॥

मन नैव मनो मनागपि, रमते गेहसुखे तपोधन !।
अत इच्छति सेवितुं सदा, तव पादाम्बुरुहं मनोहरम् ॥५२॥

सद्गुरुदेवोपदेशः

प्रतिवाचमवक्त तत्परं गुरुवर्यः शृणु हे हरिप्रिय !।
गृह एव वसाऽल्पकालकं, हरिभक्ति नितरां समाचरन् ॥५३॥

तव यद्यपि नो मनो गृहे, रमते कर्हिचिदित्यवैम्यहम्।
मनसो न तथापि प्रत्ययं, कुरु विश्वस्तमदो निहन्ति यत् ॥५४॥

मनसो वशगाः समे सुरा, वशमायाति न कस्यचिन्मनः।
अपि यस्य मनो वशं गतं, स महादेव इवाऽपरो भुवि ॥५५॥

रामप्रसाद भी, अपने निकटवर्ती गाँव में ही आये हुए सुनकर, श्रीगुरुदेव के दर्शनार्थ, वहाँ चला गया। उस गाँव में जाते ही उसने श्रीगुरुदेव को दण्डवत् प्रणाम किया ॥४६-५०॥

पश्चात् उसने, अपने मस्तकपर अञ्जलि धारण करके अर्थात् हाथ जोड़कर, अपने गुरुदेव के प्रति, एकान्त में निवेदन किया कि, हे गुरुदेव ! मुझको आप अपने चरणारविन्दों का भ्रमर समझकर, मेरी रक्षा कीजिये। क्योंकि, हे तपोधन ! मेरामन, घर गृहस्थी के सुख मे किंचित् भी नही रमता है। इसलिये, तुम्हारे परमसुन्दर चरणकमल की ही सदा सेवा करना चाहता है ॥५१-५२॥

सद्गुरुदेव का उपदेश

तदनन्तर श्रीगुरुदेव ने उत्तर देते हुए कहा कि, हे हरिप्रिय ! सुनो देखो भैया ! तुम अभी थोड़े से दिनों तक घर मे ही निवास करो, एवं वहीं पर विशेषतापूर्वक श्रीहरि की भक्ति का आचरण करते रहो। "यद्यपि तुम्हारा मन, घर में कभी भी नही रमता है" इस बात को मैं भलीप्रकार जानता हूँ, तथापि तू, मन का विश्वास मतकर कि, यह मेरे वश मे हो गया है। क्योंकि, यह मन, अपने ऊपर विश्वास करनेवाले को ही पछाड देता है। क्योंकि, समस्त देवगण भी मन के वशीभूत हैं, किन्तु यह मन किसी के वश मे नहीं आता है। हाँ यह मन, जिसके वश मे आ गया वह तो इस भूमिपर

इति तात ! विचार्य भाषितं, ह्यधुना याहि निज निकेतनम् ।
परमेष्यसि पक्वमानसः, सविधं मे हरिप्राप्तिहेतवे ॥५६॥

गुरोराज्ञया पुन. स्वगृहागमनम्

तदनु प्रणिपत्य पादयो,-, गुरुवर्यस्य मुहुर्मुहु रुदन् ।
स्वगृह विमना इवाऽऽययौ,गुरुवर्यस्य हि वाक्य - गौरवात् ॥५७॥

गुरुवर्य - वचांसि चाऽस्य हृद्,हृदयग्रन्थि - विदारकाण्यलम् ।
निजमन्दिरमित्यवेत्य वै, सहसा स्वीकृतवन्ति सादरम् ॥५८॥

निजगेहगतश्च पाठय-, न्नपि नो निर्वृतिमेति कर्हिचित् ।
रमते नहि यत्र यन्मनः, स कथ तत्र समेतु निर्वृतिम् ॥५९॥

न गृह न च रोचते वधू - रिति सत्यं निगदामि मे गुरो ! ।
उररी कुरु तज्जन त्विम, त्विति पत्रेण गुरु व्यजिज्ञपत् ॥६०॥

मानो दूसरे महादेव के समान ही है। इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० ११।२३।४८)

"मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा, मनश्च नाऽन्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहस सहीयान्, युञ्ज्याद् वशे त स हि देवदेव.॥"

इसलिये हे पुत्र ! मेरे इस वचन को विचारकर, अब तो अपने घर पर ही चले जाओ। उसके बाद, मन के परिपक्व हो जानेपर, श्रीहरि की प्राप्ति के लिये मेरे निकट स्वय ही चले आओगे ॥५३-५६॥

उसके बाद, वह रामप्रसाद, श्रीगुरुदेव के श्रीचरणो मे साष्टाङ्गप्रणाम करके, श्रीगुरुदेव के गौरव से, उदास की भांति, अपने घर को ही चला आया ॥५७॥

क्योंकि, श्रीगुरुदेव के वचन तो, हृदय की ग्रन्थियों का छेदन करनेवाले थे, अत उन वचनों ने, रामप्रसाद के मन को, निश्चित रूप से अपना घर ही समझकर, सहसा (अचानक) स्वीकार कर लिया। अपने घर मे रहकर, प्राइमरी के स्कूल मे छात्रो को पढाता हुआ भी वह, कभी भी सुख को नही प्राप्त कर पाता था। क्योंकि, जिस व्यक्ति का मन जहाँपर नहीं लगता है वह, वहाँपर सुख को किस प्रकार प्राप्त सकता है। उस समय,उसने अपने श्रीगुरुदेव के प्रति, पत्र के द्वारा यह निवेदन किया कि,—हे पूज्यपाद श्रीगुरुदेव ! मैं आपके प्रति यह सत्य कहता हूँ कि, मुझको अपना घर एव अपनी बहू भी अच्छी नही लगती है। इसलिये इस दीनजन को, अपने सेवक रूप मे अङ्गीकार कर लीजिये ॥५८-६०॥

पुन सद्गुरवे स्वाभिप्राय निवेदनम्

अथ कर्हिचिदेष शुश्रुवान्, करहारी - नगरीगत गुरुम् ।
अथ तत्र समेत्य तत्क्षण, गुरुदेव प्रणनाम दण्डवत् ॥६१॥

निशि चार्थितवान् गुरु रहो, गुरुवर्याऽतिकृपासरित्पते ! ।
प्रकटीकुरु ता कृपालुता, ययका स्याद् वसति पदाब्जयो ॥६२॥

सद्गुरोरादेश

हृदयस्थित - भाव - भावको, गुरुदेव प्रतिवाचमादित ।
हृदय तव मा यथेच्छति, मम तत् त्वा हि तथैव पुत्रक ! ॥६३॥

मम चेतसि किन्तु वासना, जगत, क्षेमकरा हि वर्तते ।
यदि पूरयितु त्वमिच्छसि, मम पार्श्वे वस तर्हि निर्भय ॥६४॥

हरिभक्तिमह यथा भुवि, परितोऽटामि ददज्जनाय भो ! ।
समधीत्य तथैव सस्कृतं, हरिभक्ति त्वमपि प्रचारय ॥६५॥

अनधीत्य न सस्कृत जनो, दलितु नास्तिकलोकमर्हति ।
पठितु यदि सस्कृत तत, प्रतिजानासि तदेहि मेऽन्तिकम् ॥६६॥

सद्गुरुदेव के लिये पुन. अपने अभिप्राय का निवेदन

उसके बाद उसने, किसी समय, अपने श्रीगुरुदेव को 'करहारी'-नामक गांव मे आये हुए सुना। तदनन्तर सुनते ही तत्काल उनके निकट जाकर, उसने श्रीगुरुदेव को दण्डवत् प्रणाम किया। और रात्रि मे, एकान्त मे, श्रीगुरुदेव के निकट प्रार्थना की कि, हे कृपासिन्धो ! श्रीगुरुदेव ! आप मेरे ऊपर उस कृपालुता को प्रगट कर दो कि जिस कृपालुता के द्वारा आपके चरणारविन्दो मे निवास हो जाय ॥६१-६२॥

प्राणीमात्र के हृद्गत-भाव को जाननेवाले श्रीगुरुदेव, प्रत्युत्तर देते हुए बोले कि, हे प्रियपुत्र ! देखो, जिस प्रकार तुम्हारा मन मुझको चाहता है, उसी प्रकार मेरा मन भी तुझको चाहता है। किन्तु मेरे मन मे जगत् का कल्याण करनेवाली एक वासना विद्यमान है। यदि तू उसको पूरी करना चाहता है तो मेरे निकट, निर्भय होकर निवास कर। देख भैया ! मेरे मन मे तो यही वासना है कि, 'इस भूतलपर जनमात्र के लिये, श्रीहरि की भक्ति का दान करता हुआ, जिस प्रकार मैं चारो ओर भ्रमण करता रहता हूँ, उसी प्रकार तू भी, मेरेपास रहकर, संस्कृतका अध्ययन करके, श्रीहरि की भक्ति का प्रचार कर। क्योंकि, संस्कृत का अध्ययन किये बिना, कोई

ज्ञात्वा गीर्वाणवाणीरसमपि निगमस्तोम-शास्त्राण्यधीत्य
द्वित्रांश्छात्रान् हि विज्ञानभिलषति मनो लोककल्याणहेतोः ।
देशे देशे भ्रमन्तो हरिगुणनिकरान् स्थापयन्तो जनान्तः
पश्चात् ते चाऽऽज्ञया मे हरिपदनिरता जीवन यापयेयुः ॥६७॥

गुरुः कदाचिद् यदि निम्बवृक्ष-, मश्वत्थवृक्षोऽयमितीरयेत ।
तथैव वक्तव्यमशंकितेन, शिष्येण नूनं गुरुभक्तिभाजा ॥६८॥

गुरूणां सेवाया जगति बहव. सन्ति सरला
उपायास्तान् कर्तुं सपदि सकलोऽपि प्रभवति ।
गुरूणामाज्ञापालनमय - सुधर्मस्तु कठिनः
सदाचार्या रूप्यैर्नहि मनसि प्रीतिं विदधति ॥६९॥

इत्थं श्रीमद्गुरोर्भाषितममृतसमं कर्णकंसेन पीत्वा
वाक्यं तेऽहं करिष्ये त्विति गुरुपुरतः स प्रतिज्ञाय हर्षात् ।

भी व्यक्ति, नास्तिक-लोगों का दमन नहीं कर सकता । इसलिये, यदि तू, संस्कृत पढने की प्रतिज्ञा करता है तो, मेरे निकट सहर्ष चला आ ॥६३-६६॥

मेरा मन, लोककल्याणार्थ, दो या तीन, इस प्रकार के विज्ञानी छात्रों को चाहता है कि जो, गीर्वाणवाणी(देववाणी)अर्थात् संस्कृत भाषा के सरस रस को जानकर वेदसमूह को एवं समस्त शास्त्रों को पढ़कर, प्रत्येक देश में भ्रमण करते हुए, एव श्रीहरि के गुणगणो को भक्तजनों के हृदय में स्थापित करते हुए, पश्चात् वे, मेरी आज्ञा से, श्रीहरि के चरणों मे संलग्न होकर, अपना जीवन यापन करते रहे (इस श्लोक में **'स्रग्धरा'** -नामक छन्द है) ॥६७॥

और देख, गुरुजी, परीक्षा की दृष्टि से, यदि नीम के वृक्ष को भी, यह पीपल का वृक्ष है, ऐसा कहे तो, श्रीगुरुदेवें की भक्ति का सेवन करने-वाले शिष्य को; अर्थात् गुरुभक्त को, निःशंक होकर निश्चय ही, उसी प्रकार कह देना चाहिये कि, हाँ गुरुदेव ! यह पीपल का ही पेड़ है । (इस श्लोक में, **'उपजाति'** छन्द है) ॥६८॥

और देख भैया ! इस ससार मे, श्रीगुरुदेवजी की सेवा के सरल उपाय तो, बहुत से है, उन सबको, सर्व साधारण जनमात्र भी, तत्काल कर सकता है । किन्तु गुरुओ की आज्ञा पालन करना रूप जो धर्म है वह तो कठिन ही है । क्योंकि, सच्चे गुरुदेव, अपने मन मे, रुपयो के द्वारा ही प्रसन्नता नही धारण करते । (इस श्लोक में, **'शिखरिणी'** छन्द है) ॥६९॥

श्रीकृष्णानन्ददासाभिध-गुरुवरकाद् गेहयानाऽभ्यनुज्ञां
नीत्वा दुःखेन गेहं पुनरपि च गुरोः पार्श्वमायातुमायात् ॥७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचिते श्रीहरिहरेन्द्र-महाकाव्ये सद्गुरुप्राप्तिचिन्ता-मद्गुरुलक्षणाद्यनेक-विषय-वर्णनं नाम षष्ठ सर्ग सम्पूर्ण ॥६॥

अथ सप्तमः सर्गः

अध्यापक-पदतो विरक्तिः

आगत्य गेहमय सोऽर्चितकृष्णचन्द्रो, विद्यालये सकललोकसमक्षमूचे ।
अध्यापकत्वमपहाय च गेहभारं, वैराग्यमार्गपथिको भवितास्मि नूनम् ॥१॥

श्रुत्वेदमस्य वचनं बहवोऽपि वृद्धा,लोकाः समेत्य परिबोधयितुं प्रवृत्ताः ।
किं दु:समस्ति भवतो यदकाण्ड एव,ह्यध्यापकत्व-गृहतश्च विरज्यते भोः॥२॥

इस प्रकार श्रीयुक्तगुरुदेव के, अमृत के समान वचन को, कानरूपी कटोरे के द्वारा पीकर, एवं "मैं, आपके वचन का अवश्य पालन करूँगा" इस प्रकार की प्रतिज्ञा, श्रीगुरुदेव के सामने हर्षपूर्वक करके, वह रामप्रसाद, प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद १०८ 'श्री श्री कृष्णानन्ददासजी महाराज'-नामक अपने श्रीगुरुदेव से, अपने घर को जाने की अनुज्ञा लेकर, फिर भी श्रीगुरुदेव के निकट आने के लिये, दुःख पूर्वक अपने घर चला आया (इस श्लोक में, 'स्रग्धरा' छन्द है)॥७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचित–श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीहरिहरेन्द्र–महाकाव्ये सद्गुरुप्राप्तिचिन्ता–सद्गुरुलक्षणाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम षष्ठ सर्ग सम्पूर्ण ॥६॥

सातवाँ सर्ग

अध्यापक-पद से वैराग्य

उसके पश्चात् अपने घरपर आकर, श्रीकृष्णचन्द्र की पूजा करके रामप्रसाद ने, 'हिण्डौल'-नामक गाँव में विद्यमान अपने विद्यालय में आकर, सभी लोगों के सामने यह कहा कि, देखो, भाइयो ! मैं तो अध्यापक के पद को एवं अपने घर के समस्त भार को छोड़कर, वैराग्य-मार्ग का ही पथिक बन जाऊँगा; यह निश्चित समझो। (इस सर्ग में ५४वें श्लोक तक 'वसन्ततिलका' छन्द हैं, आगे दूसरे छन्द हैं) ॥१॥

इनके वचन को सुनकर, बहुत से वृद्ध लोग एकत्रित होकर, इनको समझाने के लिये प्रवृत्त होकर बोले कि, कहो भैया ! आपको यहाँपर क्या

अध्यापनं च तव शीलगुणं भणन्त ,स्नेहाद् रुदन्ति शिशवस्त्वयि चाऽस्मदीया. ।
नाऽध्यापकः पुनरिहेदृश एष्यतीति,छात्रानिमान् हि रुदतः किमुपेक्षसे भोः॥३॥

यद्यस्मदीय-नगरे रमते मनो नो, तर्हि द्वितीय-नगरे हरि-भक्ति-युक्ते ।
अध्यापनस्य परिवृत्तिरये ! विधेया,वैराग्य-वर्त्मनि परन्तु रुचिर्न देया ॥४॥

अध्यापनस्य तव वृत्तिरुपैति वृद्धि,शीघ्रं तथापि हृदये तव कः प्रविष्टः ।
यत्प्रेरणा-विकलधीरपि वृद्धवाचो,नाकर्णयस्यहह किं भविता विधात ! ॥५॥

रामप्रसाद इति वृद्धवचो निशम्य, रामप्रसादगतये यतमान ऊचे ।
श्रीकृष्णचन्द्रपदभक्तिरुपैति वृद्धि,यस्याऽऽत्मनीच्छति न कामपि सोऽत्र सिद्धिम्।६।

वाचाऽनया स परिभाव्य समस्ततोकं, संवत्सरेऽपि शर-सिद्धि-निधीन्दुगण्ये ।
श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपतेरकार्षी-,दध्यापकस्य पदतश्च विरक्तिभावम् ॥७॥

दु ख है ? क्योकि जिसके कारण आप, अकाण्ड (अचानक या असमय) मे हो, अध्यापक के पद मे एव अपने घर से भी विरक्त हो रहे हो ? ॥२॥

और देखो, तुम्हारे पढाने की शैली को एवं तुम्हारे शील स्वभावमय गुण को कहते हुए ये हमारे बालक, तुम्हारे मे अधिक स्नेह होने के कारण रो रहे है, और कहते है कि, "यहाँपर इस प्रकार का सौम्य अध्यापक दुबारा नही आयेगा" इसलिये हे भैया ! तुम्हारे विरह मे रोते हुए इन छात्रो की उपेक्षा (लापरवाही) क्यो कर रहे हो ? ॥३॥

यदि तुम्हारा मन, हमारे गाँव मे नही लगता है तो, श्रीहरि की भक्ति मे युक्त किसी दूसरे गाँव मे, अपने पढाने की बदली करवा लो, परन्तु वैराग्य के मार्ग मे रुचि मत लगाओ । और तुम्हारे अध्यापन के वेतन की शीघ्र ही वृद्धि होने जा रही है, तो भी न जाने तुम्हारे हृदय मे कौन प्रविष्ट हो गया है ? क्योकि, जिसकी प्रेरणा से तुम, विकल बुद्धिवाले होकर, हम सब वृद्धो की बातो को भी नहीं सुन रहे हो । हाय ! हाय ! हे विधाता ! अब न जाने क्या होगा ? ॥४-५॥

इस प्रकार उन वृद्ध-पुरुषो के वचनों को सुनकर, श्रीबलरामजी की की प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाला रामप्रसाद बोला कि, 'हे वृद्ध पुरुषो ! देखो, जिस व्यक्ति के मन मे, श्रीकृष्णचन्द्र के चरणो की भक्ति, वृद्धि को प्राप्त हो रही है वह व्यक्ति, इस ससार मे किसी प्रकार की सिद्धि को भी नहीं चाहता ।" इस प्रकार की वाणी के द्वारा सभी लोगो को समझाकर, उस रामप्रसाद ने, विक्रम सवत् १९८५ मे, अपने अध्यापक-पने के पद मे वैराग्य का भाव अगीकार कर लिया ॥६-७॥

गृहतो विरक्ति

दैवादमुष्य शुभवर्त्मनि विघ्नरूपा,भार्या समागतवती स्वपितुर्निकेतात् ।
हिण्डौलतः स्वपुरमागत एषकोऽपि, ग्रामे स्वके स्वकमनोरथमाततान ॥८॥

हेमातृ-वृद्ध-सुहृदादिसमस्तलोका !,अन्त्योऽयमञ्जलिरमुष्य पदाब्जयोर्वः ।
क्षन्तव्य एष जन आकलभाषणाद् व ,कर्ताऽपराधनिवहस्य विरज्यते यत्॥९॥

"देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमति त्यज त्व,जाया-सुतादिषु कृतां ममता विमुञ्च ।
पश्याऽनिशं जगदिद क्षणभङ्गनिष्ठं,वैराग्य-राग-रसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

धर्मान् भजस्व सतत त्यज लोकधर्मान्, सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा, सेवाकथारसमहो नितरा पिब त्वम् ॥"

घर से वैराग्य

उस समय, उसके भगवत्-प्राप्तिरूप मङ्गलमय मार्ग मे, मूर्तिमान् विघ्नस्वरूपा उसकी भार्या, दैवयोग से अपने पिता के घर से, उसके घरपर आ गयी थी। इस, रामप्रसाद ने भी, 'हिण्डौल' से अपने गाव मे आकर, अपने मनोरथ को अपने गांव मे फैला दिया। और हाथ जोडकर सबके सामने बोला कि, हे माताजी ! हे वृद्ध-पुरुषो ! एव हे मित्र भाई वन्धु आदि समस्त लोगो ! देखो, तुम सबके चरणारविन्दो मे, तुम्हारे इस बालक की यह अन्तिम अञ्जलि है, अर्थात् अन्तिम प्रणाम है। क्योकि, तोतली बोली बोलने से लेकर, तुम सबके प्रति अनेक अपराधो को करनेवाला यह तुम्हारा बालकजन, घरबार से विरक्त हो रहा है, अत इसको क्षमा कर दीजिये ॥८-९॥

और देखो, श्रीगोकर्णजी ने अपने पिता को समझाते हुए यही उपदेश दिया है कि, "हे पिताजी ! यह शरीर हड्डी, माँस और रुधिर का पिण्ड है. इसे आप 'मैं' मानना छोड दे और स्त्री पुत्रादि को 'अपना' कभी न माने। इस ससार को रात-दिन क्षणभगुर देखे, इसकी किसी भी वस्तु को स्थायी समझकर उसमे आसक्ति न करें। बस, एकमात्र वैराग्य-रस के रसिक होकर भगवान् की भक्ति मे ही लगे रहे। भगवद्-भजन ही सबसे बडा धर्म है, निरन्तर उसी का आश्रय लिये रहे। अन्य सब प्रकार के लौकिक धर्मो को त्याग दे, सदा साधुजनो की सेवा करते रहे, कामनामयी तृष्णा को छोड दे, और दूसरे जनो के दोष एव गुणो के विचार को भी शीघ्र ही छोडकर केवल भगवान् की सेवा तथा भगवान् की कथाओ के रस को ही विशेष करके पीते रहिये।"

इत्यादिभिः खलु पुराणवचोभिरात्मा,गेहीकृतो न रमते मम गेहिसौख्ये ।
श्रीकृष्णचन्द्रमुखचन्द्रसुधापिपासु-,र्नाऽहं चकोर इव भिन्नपदे सुखी भोः॥१०॥

एवं निशम्य वचनं स्वसुतस्य मातुः, स्नेहादतीव विधुरं हृदयं चकम्पे ।
यस्या गृहस्थभरवाहनभूत एकः,पुत्रः स एव विरजेद् यदि सा कथं स्यात्॥११॥

पत्नी रुरोद भृशमस्य हि सा नवोढा,लज्जाभरात् किमपि वक्तुमपारयन्ती ।
वृद्धैश्च बन्धुभिरयं परिबोधतोऽपि,नैवोच्चलाल मनसाऽपि दृढप्रतिज्ञः ॥१२॥

आगत्य केचन विपश्चित एनमूचु-,र्भ्रातर्विहाय जननीं च वधूमकाण्डे ।
वैराग्य-वर्त्मनि पदं यदि धास्यसि त्वं,त्वत्तः परो नहि तदा भुवि पापकारी॥१३॥

आसीन्मनस्यपि च ते यदि पूर्वमेव,गेहं विहाय भवितास्मि हठाद् विरागी ।
भ्रातस्तदा कथमकारि विवाहलीला,किञ्चिद् विचार्य करणीयमतःस्वबुद्धया॥१४॥

बस, इत्यादि प्रकारवाले पुराणो के वचनों ने, मेरे मन को अपना घर ही बना लिया है, अर्थात् पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के, ये पूर्वोक्त वचन मेरे मन मे बस गये हैं, इसीलिये अब मेरा मन, गृहस्थ के सुखो मे नही रमता है। क्योकि, हे बन्धुओ ! मै तो, श्रीकृष्णचन्द्र के मुखरूप चन्द्रमा की सुधा को पीने की इच्छा कर रहा हूँ। अतएव मैं, चकोर की भाति दूसरे स्थान पर सुखी नही हूँ ॥१०॥

अपने पुत्र के इसप्रकार के वचन को सुनकर, उनकी माता का हृदय, स्नेह के कारण विकल होकर, अतिशय कम्पित हो गया। क्योकि देखो, जिस माता के गृहस्थ के भार बोझे को ढोनेवाला एक ही मुख्य पुत्र हो, एव यदि वह भी वैराग्य लेने जा रहा हो, तब ऐसी स्थिति मे वह माता किस प्रकार स्थिर रह सकती है ? ॥११॥

इस रामप्रसाद की वह नवविवाहिता पत्नी, लज्जा के भार से दबकर कुछ भी कहने को समर्थ न होकर, केवल अधिकरूप से रोने ही लग गयी। उस समय वृद्ध-पुरुषो के द्वारा एव भाई-बन्धुओ के द्वारा विशेष समझाया हुआ भी यह रामप्रसाद, दृढप्रतिज्ञावाला होने के कारण, अपने मन से भी विचलित नही हुआ ॥१२॥

उस समय, उसके गाँव के आसपास के कुछ विद्वान् लोग आकर, इसको समझाते हुए बोले कि, हे भैया ! तुम असमय मे अचानक ही, अपनी वृद्धा माता को एव नवोढा बहू को छोडकर यदि वैराग्य के मार्ग मे पदार्पण करोगे तो, इस भूतलपर तुमसे दूसरा कोई भी पापी नहीं है। और यदि तुम्हारे मन मे, "मैं घर को छोडकर हठपूर्वक वैरागी बन जाऊँगा" ऐसा

प्रेष्ठो हरेरयमुवाच ततो विरज्यन्,ज्ञानाकदकार्यमिह भो न विवाहलीलाम् ।
किन्त्वज्ञभाव इह मे जननी चकार, तत्र ब्रुवन्तु विबुधा! मम कोऽपराध ॥१५॥

धर्मान् विहाय शरणं व्रज मां समस्तां-,स्त्वा पार्थ! पापनिवहात् परिशोधयिष्ये ।
गीतावचो मुहुरिद मनसाऽऽकलय्य, वैराग्य-वर्त्मनि पद निदधामि धीरा ! ।१६

"लब्ध्वा सुदुर्लभमिद बहुसम्भवान्ते, मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीर ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु-याव-, न्नि श्रेयसाय विषयः खलु सर्वत. स्यात्"
(भा० ११।९।२९)

विचार पहले से ही था, तो भया ! तुमने अपना विवाह ही क्यो करवाया ?
इसलिये अब कुछ अपनी बुद्धि से विचारकर ही कार्य करो ॥१३-१४॥

उसके बाद, वैराग्य लेनेवाला यह 'हरिप्रेष्ठ' बोला कि, हे विद्वज्जनो ! मैंने अपने विवाह की लीला जान बूझकर ज्ञानपूर्वक नही की है, किन्तु मेरी छोटी सी अज्ञानमयी अवस्था मे, मेरी माता ने ही इस लीला की रचना कर दी थी। अत हे विज्ञजनो ! आप ही बताओ ? उस विषय विषय मे मेरा कौनसा अपराध है ? ॥१५॥

और हे धीर गभीर बुद्धिवाले विज्ञजनो ! देखो, मैं तो श्रीगीताजी के—(१८।६६)

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥" अर्थात्

"हे अर्जुन ! तू, सभी धर्मों को छोडकर केवल एकमात्र मेरी ही शरण मे आ जा, मैं तुझको सभी प्रकार के पापो से छुड़ा दूँगा, तू किसी प्रकार का शोक मत कर" इस प्रकार के वचन को, अपने मन से बारम्बार विचार करके ही, वैराग्य के मार्ग म पदार्पण कर रहा हूँ ॥१६॥

"यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही, मृत्यु सदा इसके पीछे ही लगी रहती है। परन्तु इससे परम पुरुषार्थ भगवत्सम्बन्धी प्रेम तक की प्राप्ति हो सकती है, इसलिये अनेक जन्मो के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि, शीघ्र से-शीघ्र, अर्थात् मृत्यु के पहले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य, श्रीहरि की प्राप्ति रूप मोक्ष ही है। विषय भोग तो सभी योनियों मे प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके सग्रह मे ही, यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये"

अक्ष्णो पदं किमिति भागवतीय-पद्यं,युष्माकमंत्र गदताऽवितथं सुविज्ञाः ! ।
दृष्ट तदा किमिति विस्मयमागता स्थ, स्वाचार्यवर्यमुखतःश्रुतवानहं तु ॥१७॥
जातानि तानि हि वचांसि विचक्षणाना-मेतस्य हृन्नभसि विद्यु दिवाऽस्थिराणि ।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणद्वयपुण्डरीके, भृङ्गायमानमनसां क इहोपरोद्धा ॥१८॥

पुत्रवियोगविकलाया मातुर्विज्ञैः प्रबोधनम्

नायान्तमेनमभिवीक्ष्य विचक्षणानां वाचां वशं स्वशिशुकं जननी करोद ।
विज्ञाश्च रोदनपरां जननीममुष्य नानेतिहासवचनैः स्म विबोधयन्ति ॥१९॥
मातर्भृशं रुदिहि नो त्वमसीह धन्या, प्रह्लादभक्त इव तेऽजनि भक्तपुत्रः ।
यस्याः सुतो हरिपरो न विशिष्टविद्वान् वीरो न दाननिपुणो भुवि सा तु वन्ध्या॥२०
माता तु सैव भुवि पुत्रवती प्रसिद्धा, यस्याः सुतो भवति कृष्णपदाब्जभृङ्गः ॥
यस्याः सुतस्य गणना न विशिष्टलोके,सा तेन चेत् सुतवती वद काऽथ वन्ध्या ।

हे सुविज्ञजनो ! सत्य कहिये ? श्रीमद्भागवत का यह श्लोक, आपके सामने नहीं आया है क्या ? यदि आपने देखा है तो विस्मित क्यो हो रहे हो ? । मैंने तो यह श्लोक, अपने श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से सुना है । अर्थात् मैं तो अभी संस्कृत पढा भी नहीं हूँ ॥१७॥

उन विद्वानो के द्वारा कहे हुए वे पूर्वोक्त वचन, इस रामप्रसाद के हृदयरूप आकाश मे, बिजली की तरह अस्थिर ही हो गये । क्योकि, जिन भक्तो का मन, श्रीकृष्णचन्द्र के दोनो चरणकमलों मे, भ्रमर की तरह आसक्त हो गया है, उन भक्तजनो को, इस संसार मे, कौन रोकने वाला है ? ॥१८॥

पुत्र के वियोग से विकल हुई माता को विद्वानोंके द्वारा समझाना

अपने पुत्र को, उन विद्वानो की बातो के वश मे न आता हुआ देखकर, उसकी माता रोने लग गयी । उपस्थित हुए वे सब विज्ञजन भी, रोती हुई उसकी माता को, अनेक प्रकार के इतिहासो के वचनो के द्वारा समझाने लगे कि, अरी मैया ! तू अधिक मत रो ! इस गाँव मे तू ही तो धन्य है । क्योकि, तेरे ही तो प्रह्लादभक्त के समान भक्तपुत्र उत्पन्न हुआ है । और देख, जिस नारी का पुत्र न हरिभक्त है, न विशिष्ट विद्वान् है, एवं न शूरवीर है, न दानवीर है, वह नारी तो इस भूतलपर बाँझ के समान ही है ॥१९ २०॥

और देख, इस भूमि मे पुत्रवती माता तो वही प्रसिद्ध कही जाती है कि, जिसका पुत्र, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दो का भ्रमर बन जाता है ।

गोत्रं पवित्रमथ तत्पितरौ कृतार्थौ, नृत्यन्ति तस्य पितरोऽपि च स्वर्गभाजः।
पृथ्वी च तस्यजनुषा समुपैति हर्षं,योऽजीजनद् भुवि हि वैष्णव-नामधेयः॥२२॥

शक्ता न पुत्रविरहं भृशमस्मि सोढु-, मेवं ब्रवीषि यदि तर्हि तु मुग्धता ते।
भाग्येऽस्य यद् विलिखितं तव बालकस्य,तन्मार्जितुं जननि!कोऽपि न को समर्थः।

उत्पत्ति-मृत्यु-सुख-दुःख-वियोग-लाभा ,संयोग-मित्र-रिपु-हानि-शुभाऽशुभाश्च।
मातर्भवन्ति किल कालवशात् क्रमेण,रात्रिन्दिवं खलु यथा परिवर्ततेऽत्र॥२४॥

जिसके पुत्र की गणना, विशिष्ट लोगो मे नही है, वह माता उस निरर्थक पुत्र के द्वारा ही यदि पुत्रवती कही जाती है तो बता, फिर बांझ कौन-सी कही जायगी। अतएव रामायण में भी ठीक ही कहा है कि—

"पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई॥
बांझ भली वरु बाद बियानी। राम विमुख सुत ते बडु हानी॥"॥२१॥

और देख भैया! इस भूतलपर जो व्यक्ति, 'वैष्णव'—नाम धराकर उत्पन्न हो गया, अर्थात् जो, वैष्णव-गुरुदेव से दीक्षा लेकर वैष्णव बन गया, उस व्यक्ति का गोत्र-मात्र ही पवित्र हो गया, उसके माता-पिता कृतार्थ हो गये; और स्वर्ग मे विद्यमान उसके समस्त पितरजन भी नाचने लग जाते हैं कि, हमारे कुल मे यह वैष्णव उत्पन्न हो गया, तथा उसके जन्म से, पृथ्वी भी हर्ष को प्राप्त हो जाती है। इस विषय मे यह पुराण वचन प्रसिद्ध है—

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
स्वर्गे स्थितास्ते पितरोऽपि धन्या,यस्मिन् कुले वैष्णव.नामधेयः"॥२२॥

और यदि तू कहती है कि, मैं अपने पुत्र के विरह को सहन करने को अधिक समर्थ नहीं हूँ, तब तो तेरी विमुग्धता ही है, अर्थात् तेरे मोह का ही कारण है। क्योंकि, देख मैया! तेरे इस बालक के भाग्य मे, विधाता ने, जो कुछ लिख दिया है, उसको मिटाने के लिये, इस भूमिपर कोई भी समर्थ नही है। अतएव यह उक्ति प्रसिद्ध है—

"धात्रा यल्लिखितं ललाटपटले तन्मार्जितुं कः क्षमः" ॥२३॥

अरी मैया! सावधान होकर धैर्य धारण करके सुन, देख, इस ससार मे काल के क्रम से जिस प्रकार रात-दिन परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् आते जाते रहते है, ठीक उसी प्रकार, प्राणीमात्र के लिये काल के क्रम से, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, सयोग-वियोग, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, शुभ एव अशुभ आदि द्वन्द्व होते ही रहते हैं ॥२४॥

श्रुत्वा नलस्य चरितं दमयन्तिकाया, भिद्येत वज्रहृदयोऽपि जनो नितान्तम् ।
राजाऽपि रोहितसुतः किल सत्यसार-श्चाण्डालगेह-वसतिं समवाप काश्याम् ।२५।

संशोधिते गुरुवशिष्ठविदा मुहूर्ते, रामस्य राज्यसमये विपिने निवासः ।
मृत्युः पितुश्च हरणं जनकात्मजायाः, सौमित्रिरागमदहो बत शक्तिलक्ष्यम् ।।२६।।

ओजःपराजितसदिक्पतिदिग्गजाश्च, चत्वार एव किल यस्य सहोदराश्च ।
कृष्णः सुहृद्भवति यस्य सदैव वश्य आपत्तिभागहह सोऽपि युधिष्ठिरोऽभूत् ।२७।

और देख, प्राचीन महापुरुषों के चरित्र को तो सुन ? हाय ! हाय ! नल एवं दमयन्ती के वनवास के चरित्र को सुनकर, प्रायः वज्र के समान कठोर हृदयवाला जन भी महान् पिघल जाता है । और देख, सत्य को ही सार माननेवाला एवं रोहित का पिता सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र भी, काशी में चाण्डाल के घर में निवास प्राप्त कर गया । यह बात प्रसिद्ध ही है ।।२५।।

और देख, परमविज्ञानी गुरुवर्य श्रीवशिष्ठजी के द्वारा मुहूर्त के संशोधित करनेपर भी उसी मुहूर्त में, राज्याभिषेक के समय, श्रीरामजी का वनवास हो गया । पिता दशरथजी की मृत्यु हो गयी, श्रीजानकीजी का हरण हो गया, आगे चलकर लंका में, सुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी, रावण की शक्ति के लक्ष्य बन गये थे । अतएव श्रीसूरदासजी ने भी ठीक ही कहा है—

करम-गति टारे हु नाहिं टरै ।।टेक।।
कहाँ वे राहु कहाँ वे रवि शशि, आन सयोग परै ।
राजा हरिश्चन्द्र सो दानी, नीच के पानी भरै ।।
गुरुवशिष्ठ पण्डित अति ज्ञानी, रचि पचि लगन धरै ।
पिता मरण अरु हरण सिया को, वनमें विपति परै ।।
'सूरदास' होनी सो होइहै, क्यों करि सोच मरै ।।२६।।

और देख, जिस युधिष्ठिर के चार भाई थे, वे चारों ही, अपने लोकोत्तर ओज (सामर्थ्य या शक्ति) के द्वारा, चारों दिशाओं के स्वामी इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि के सहित चारों दिशाओं के दिग्गजों को भी पराजित करनेवाले थे, एवं अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी, जिस युधिष्ठिर के, निरपेक्ष हितकारी मित्र तथा सदैव वश में रहनेवाले थे, अतः इस प्रकार के गुणोंवाला राजाधिराज वह श्रीयुधिष्ठिर भी, काल के क्रम से वनवास आदि अनेक प्रकार की आपत्तियों का भागी बन गया था ।।२७।।

दुर्योधनस्य समितौ द्रुपदात्मजाया, दुःशासनेन सहसा वसनाऽपहारः।
इत्यादि-पूर्वचरितावलिमाकलय्य,मातर्मनागपि न शोचितुमर्हसि त्वम् ॥२८॥

परिबोधिताया अपि मातुर्विलाप

एवं हि तस्य जननी परिबोधिताऽपि, नैवाऽऽप शोकजलधरेपि पारमीषत्।
हा हेति कर्णकटु वै रुदती समन्ताद्,ग्रामीणलोकमपि रोदयति स्म सर्वम् ॥२९॥

हे ग्राम - वृद्धपुरुषाश्चरणाब्जयोर्वो, विज्ञापन परमिद मम दुःखितायाः।
यत्न स एव नितराक्रियतां भवद्भि-,रत्र स्थितो भवति येन ममैष बालः॥३०॥

अध्यापनं यदि न वाञ्छति चैष कर्तुं, मा वा करोतु किमनेन पराश्रयेण।
कृत्वाऽहमन्यदिह कार्यमतीव हृष्टा,कर्तास्मि पोषणममुष्य सुखं सुतस्य ॥३१॥

अस्वामिकाऽपि मुखमस्य विलोकयन्ती, रात्रिन्दिवं सुखमहं ननु यापयामि।
पत्नीं स्विकां यदि न वाञ्छति पुत्रको मे,सम्प्रेषयामि पुरि ता पितुरेव तस्याः॥

और देख, दुर्दान्त दुर्योधन की दुर्दमनीय सभा मे, द्रुपद-पुत्री द्रौपदी के वस्त्रो का अपहरण, दुष्ट दुःशासन के द्वारा अचनानक ही तो हो गया था। वहाँ पर भी प्रभु ने ही रक्षा की थी। इत्यादि रूपवाली पूर्व पुरुषों की चरितावली के ऊपर विचार करके, अरी मैया ! तू नेक भी शोक करने के योग्य नही है। क्योकि, तेरा पुत्र तो तुझसे आज्ञा माँगकर सहर्ष वन मे जा रहा है ॥२८॥

विद्वानो के द्वारा समझाई हुई माता का भी पुन विलाप

इस प्रकार विद्वानो के द्वारा खूब समझाई हुई भी रामप्रसाद की माता, शोकरूप सागर के किंचित् भी पार नही पहुँच पायी। बल्कि उसने तो, "हा मेरे लाल ! तुम कहां जा रहे हो ? अकेली बुढिया को छोडकर क्यो जा रहे हो ?" इस प्रकार कर्ण-कटु रुदन करते करते, चारो ओर सभी ग्रामवासी जनो को भी रुला दिया ॥२९॥

और वह रोती हुई बोली कि, हे मेरे गांव के वृद्ध पुरुषो ! तुम सबके चरणकमलो मे, मुझ दुखित हुई बुढिया का केवल यही निवेदन है कि, इस समय आप सबको, विशेषरूप से वही प्रबल प्रयत्न करना चाहिये कि, जिसके द्वारा, मुझ बुढिया का यह बालक, यही पर स्थित हो जाय ॥३०॥

और देखो, यदि मेरा यह बालक अध्यापन करना नही चाहता तो मत्ते ही न करे, क्योकि, इस पराधीनतामय कार्य से इसको क्या प्रयोजन ? मै तो यहां पर दूसरा काम करके भी, इस अपने लाला का पालन-पोषण

लोकान्तरेऽपि किल वक्तुमिवाऽस्य वृत्त-,मस्ताद्रिकूटमगमच्च मरीचिमाली ।
वैराग्य-रागमिव चाऽप्यनुमोदमानः, काषायवर्णकिरणः सहसा बभूव ॥३८॥

प्रेष्ठो हरेरपि विधाय विधिं च सान्ध्यं, सुष्वाप कृष्णचरणं हृदि चिन्तयित्वा ।
उत्थाय प्रातरुदिते रविमण्डले च,कृत्वाऽऽह्निकं च गमनाय प्रसूं ययाचे॥३९॥

गृहत्यागाय मातु. प्रार्थना

मातर्मुहुर्मुहुरयं चरणाब्जयोस्ते, पुत्रो निपत्य भृशमर्थयनेऽतिदीनः ।
अस्याऽपराधनिवहं बहु मर्षयित्वा, देहि प्रसीद भवनाद् गमनाऽभ्यनुज्ञाम् ।४०

आदि के द्वारा, जब अपनी लीला आरम्भ करदी तब, श्रीहरि का अतिशय प्यारा यह रामप्रसाद भी, अपनी लीला को दिखाता हुआ बोला कि, हे तान्त्रिकाचार्य जी ! देखो, तुम्हारी तान्त्रिकतारूप सुन्दरवीणा, यहांपर श्रीकृष्णरूप काले भूत को मोहित करने को समर्थ नही हो सकती है अर्थात् श्रीकृष्णरूप भूत के ऊपर तुम्हारे जन्तर-मन्तर नही चल सकते है । तात्पर्य– श्रीकृष्ण में तदाकार होनेवाले भक्त के सामने तुम्हारी दाल नही गलेगी । रामप्रसाद की, श्रीकृष्ण के श्रीचरणों मे अविचल श्रद्धा देखकर, मानो अपनी शक्ति के तिरस्कार के भय से ही वह तान्त्रिक, वहाँ से शीघ्र ही चला गया । दूसरे दर्शकगण एवं आबाल-वृद्ध-नरनारी सभीजन, श्रीहरिप्रेष्ठ (श्रीरामप्रसाद) की भक्ति की प्रशंसा करते हुए ही अपने अपने घर चले गये ॥३५-३७॥

उस समय किरण-माली सूर्य भगवान् भी, मानो इस रामप्रसाद के वैराग्य ग्रहण करने के वृत्तान्त को दूसरे लोक में भी कहने के लिये ही अस्ताचल के शिखरपर पहुँच गये । अतएव मानो रामप्रसाद के वैराग्य के रङ्ग का ही अनुमोदन करते हुए वे, अचानक काषायवर्ण की-सी किरणों-वाले हो गये ॥३८॥

उसके बाद यह हरिप्रेष्ठ भी सायंकालीन सन्ध्या-वन्दन आदि करके, अपने हृदय मे भी श्रीकृष्ण के चरणों का स्मरण करके सुख पूर्वक सो गया । प्रातःकाल उठकर, सूर्यमण्डल के उदित हो जानेपर, दैनिक-कार्य करने के बाद उसने, अपनी माता से, वनमें जाने के लिये याचना(प्रार्थना)की ॥३९॥

घर का त्याग करने के लिये माता की प्रार्थना

अरी मैया ! यह तुम्हारा पुत्र, तुम्हारे चरणकमलों मे बारम्बार गिरकर अत्यन्त दीन होकर भारी प्रार्थना कर रहा है । इसलिये इसके बहुत

कस्यचन तान्त्रिकस्याऽऽगमनम्

एवं हि तस्य जननीं रुदतीमनाथां, दृष्ट्वैव कोऽपि पुरि तान्त्रिक आजगाम ।
उचे च मा विलप मातरये ! नितान्त,पुत्रं तव प्रकृतिभाजमहं करोमि ॥३३॥

मातः ! शृणोतु भवती यदहं ब्रवीमि, पुत्रस्य ते गुरुरमुष्य हि मान्त्रिकोऽस्ति ।
भूतो हि तेन किल कश्चन चाटितोऽस्ति,पुत्रस्य ते ह्युपरि नो मनुते ततोऽसौ ॥

शोकं त्यजाऽहमपि भूतमपाकरोमि, श्रुत्वेत्यमस्य वचनं जननी जहर्ष ।
श्रुत्वा जनाश्च पुरि तान्त्रिकमागतं द्रा-गाबाल-वृद्ध-वनिताः परिवव्रुरारात्॥३५॥

तन्त्रैर्यदाऽऽरभत तान्त्रिक आत्मलीलां,प्रेष्ठो हरेरयमुवाच तदाऽऽत्मलीलाम् ।
हे तान्त्रिकार्य! तव तान्त्रिकता-सुतन्त्री,श्रीकृष्ण-भूतमिह मोहयितुं न शक्ता ॥

दृष्ट्वाऽस्य कृष्णपदयोरचलां हि श्रद्धां,शक्तेस्तिरस्कृतिभयादिव तान्त्रिकोऽगात् ।
अन्येऽपि दर्शकगणाः किल बालवृद्धाः,शसन्त एव समगुर्हरिप्रेष्ठभक्तिम्॥३७॥

अत्यन्त हर्षित होकर कर लूँगी । क्योंकि, मैं तो विधवा होकर भी, इसके मुख को निहारती हुई, रात-दिन को सुखपूर्वक विता रही हूँ । और यदि मेरा पुत्र, अपनी पत्नी को नही चाहता है तो मैं, उसको, उसके पिता के गाँव मे ही भिजवा देती हूँ । परन्तु जैसे तैसे भी मेरे लाल को घर से बाहर मत जाने दो ॥३१-३२॥

उसी समय किसी तान्त्रिक का आगमन

इस प्रकार रामप्रसाद की उस अनाथ माता को रोती हुई देखकर, उसी समय उस गाँव मे कोई तान्त्रिक व्यक्ति आ गया । और आते ही बोला कि, अरी मैया ! अधिक विलाप मत कर, मैं, तेरे बेटा को अभी स्वस्थ किये देता हूँ । किन्तु मैया ! देख, इस समय, मैं, तुझसे जो कुछ कह रहा हूँ उस बात को तू सावधान होकर सुन ! देख, तेरे इस पुत्र का जो गुरु है वह, अनेक प्रकार के मन्त्र जानता है; अत. मुझे तो यही प्रतीत हो रहा है कि, उसने ही तुम्हारे पुत्र के ऊपर कोई भूत चढा दिया है, इसीलिये यह, किसी की बात नही मान रहा है ॥३३-३४॥

अतः तू शोक त्याग दे । मैं, तेरे पुत्र के ऊपर चढे हुए भूत को अभी दूर भगाता हूँ । इस तान्त्रिक के वचन को सुनकर, रामप्रसाद की माता हर्षित हो गई । अपने गाँव मे आये हुए तान्त्रिक को सुनकर, बालकों से लेकर बुड्ढों तक सभी नर-नारियों ने उस तान्त्रिक को शीघ्र ही चारों ओर से निकट से ही घेर लिया । उस तान्त्रिक ने, अपने तन्त्र-मन्त्र-जन्त्र

लोकान्तरेऽपि किल वक्तुमिवाऽस्य वृत्त-,मस्ताद्रिकूटमगमच्च मरीचिमाली ।
वैराग्य-रागमिव चाऽप्यनुमोदमानः, काषायवर्णकिरणः सहसा बभूव ॥३८॥
श्रेष्ठो हरेरपि विधाय विधिं च सान्ध्यं, सुष्वाप कृष्णचरणं हृदि चिन्तयित्वा ।
उत्थाय प्रातरुदिते रविमण्डले च,कृत्वाऽऽह्निकं च गमनाय प्रसूं ययाचे॥३६॥

गृहत्यागाय मातु. प्रार्थना

मातर्मुहुर्मुहुरयं चरणाब्जयोस्ते, पुत्रो निपत्य भृशमर्थयनेऽतिदीन ।
अस्याऽपराधनिवहं बहु मर्षयित्वा, देहि प्रसीद भवनाद् गमनाऽभ्यनुज्ञाम् ।४०

आदि के द्वारा, जब अपनी लीला आरम्भ करदी तब, श्रीहरि का अतिशय प्यारा यह रामप्रसाद भी, अपनी लीला को दिखाता हुआ बोला कि, हे तान्त्रिकाचार्य जी ! देखो, तुम्हारी तान्त्रिकतारूप सुन्दरवीणा, यहापर श्रीकृष्णरूप काले भूत को मोहित करने को समर्थ नही हो सकती है अर्थात् श्रीकृष्णरूप भूत के ऊपर तुम्हारे जन्तर-मन्तर नही चल सकते है । तात्पर्य-श्रीकृष्ण मे तदाकार होनेवाले भक्त के सामने तुम्हारी दाल नही गलेगी । रामप्रसाद की, श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में अविचल श्रद्धा देखकर, मानो अपनी शक्ति के तिरस्कार के भय से ही वह तान्त्रिक, वहाँ से शीघ्र ही चला गया । दूसरे दर्शकगण एव आबाल-वृद्ध-नरनारी सभीजन, श्रीहरिश्रेष्ठ (श्रीरामप्रसाद) की भक्ति की प्रशसा करते हुए ही अपने अपने घर चले गये ॥३५-३७॥

उस समय किरण-माली सूर्य भगवान् भी, मानो इस रामप्रसाद के वैराग्य ग्रहण करने के वृत्तान्त को दूसरे लोक मे भी कहने के लिये ही अस्ताचल के शिखरपर पहुँच गये । अतएव मानो रामप्रसाद के वैराग्य के रङ्ग का ही अनुमोदन करते हुए वे, अचानक काषायवर्ण की-सी किरणो-वाले हो गये ॥३८॥

उसके बाद वह हरिश्रेष्ठ भी सायंकालीन सन्ध्या-वन्दन आदि करके, अपने हृदय मे भी श्रीकृष्ण के चरणों का स्मरण करके सुख पूर्वक सो गया । प्रात.काल उठकर, सूर्यमण्डल के उदित हो जानेपर, दैनिक-कार्य करने के बाद उसने, अपनी माता से, वनमे जाने के लिये याचना(प्रार्थना)की ॥३६॥

घर का त्याग करने के लिये माता की प्रार्थना

अरी मैया ! यह तुम्हारा पुत्र, तुम्हारे चरणकमलो मे वारम्बार गिनकर अत्यन्त दीन होकर भारी प्रार्थना कर रहा है । इसलिये इसके बहुत

गमनसमये पत्नीप्रबोधनम्

श्रुत्वेत्यमस्य वचनं सहधर्मपत्नी, जग्राह चाऽस्य वसनं व्रजतोऽप्यलिन्दे।
हा नाथ! नायय वरं मम नाथित च, कस्माद् विहाय ननु गच्छसि मामनाथाम्॥

पत्न्या निशम्य वचनं स जगाद हृष्टो
मीरेव कृष्णभजनं भवने विधेयम्।
यद्यस्ति ते मयि महान् प्रणयश्च कृष्णे
भोगान् विहाय सकलान् सहगामिनी स्या॥४२॥

पत्युर्निशम्य वचन बहु हृष्टचित्ता, नीत्वा जन च सह सैकमथाऽऽजगाम।
मध्यं गता पुरुषयोरपि सा तु नारी, मायेशजीवयुग-मध्यगतेव रेजे॥४३॥

गमनसमये ग्रामीणाना विलाप

तेषां त्रिकं हि नगरात् प्रचचाल यर्हि, सर्वोऽपि नागरिक आविललाप तर्हि।
एतस्य बान्धवगणास्तु भृशं रदन्त, ऊचु र्हठाद्धि निरवात् कुलदीपको नः॥४४॥

से अपराध-समूह को क्षमा करके, इसके ऊपर प्रसन्न हो जाइये, और इसको घर से बाहर जाने की अनुमति दे दीजिये॥४०॥

चलते समय पत्नी को समझाना

रामप्रसाद के पूर्वोक्तप्रकार के वचन को सुनकर, उसकी धर्मपत्नी ने, घर से बाहर जाते हुए इसके वस्त्र को, पौरी मे अथवा घर से बाहर के चबूतरे के निकट ही पकड़ लिया। हे नाथ! मेरे अभिलषित वर को दे जाइये। हाय! मुझ अनाथ नारी को छोड़कर अकेले ही क्यो जा रहे हैं? पत्नी के वचन को सुनकर वह प्रसन्न होकर बोला कि, तुझको मीराबाई की तरह, घर मे ही श्रीकृष्ण का भजन करना उचित है। और यदि तेरा, मेरे मे अधिक स्नेह है एव श्रीकृष्ण मे भी महान प्रेम है, तब तो, समस्त भोगो को त्यागकर मेरी सहगामिनी बन जा। पतिदेव के वचन सुनते ही वह, अपने मन मे बहुत प्रसन्न होकर, एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर चली आयी। उन दोनो पुरुषो के बीच मे होकर चलती हुई वह नारी, उस समय, ईश्वर एव जीव के बीच मे रहनेवाली माया के समान सुशोभित हो गयी॥४१-४३॥

चलते समय ग्रामवासियो का विलाप

इस प्रकार वे तीनो जब नगर से निकल चले, तब, सभी नागरिक लोग चारो ओर से विलाप करने लग गये। इस रामप्रसाद के भाई बन्धुओ

लोकातिशायि - गुणिनां महतां मनांसि, श्रूयन्त एव कुसुमादपि कोमलानि ।
नि -स्नेहिना लघु परिव्रजता त्वनेन,सम्पादितानि कठिनान्यपि वज्रकोटेः॥४५॥

मातुस्तदा न हृदये भृशमस्य शोक, आसीद् यत. स कपटी प्रहितोऽमुया ना ।
उद्घाटच दोषनिवह पुरतो गुरूणा-,मानेष्यते गृहमसाविति गूढभावः ॥४६॥

सपत्नीकस्य तस्य गृहान्नि सरणम्

एवं हि ते निरवधि प्रचलन्त आघु-
घोंर वन तदनु तत्र जगाद पत्नी ।
नैदाघकालिक - दिवाकर - तापतप्तं-
विश्रम्य किंचिदिह भो ! गमनं विधेयम् ॥४७॥

विश्रम्यतामिति वचो ह्यनुमोद्य तस्या , प्रेष्ठो हरे स्थितिमगाद् वटवृक्षमूले ।
तौ चाऽऽज्ञयाऽस्य लघु विश्रमितुं प्रवृत्तौ,निद्रावशावपि बभूवतुराश्रमेण॥४८॥

वे समूह तो अधिक माता मे रोते हुए बोले कि, हाय! हमारे कुल का दीपक तो हठात् शान्त हो गया। शास्त्रो मे एव काव्यो मे, लोकोत्तर-गुणीजनो के एव महात्माओं के मन, कुसुमो से भी कोमल सुने जाते हैं। किन्तु शीघ्रता पूर्वक स्नेह का नाता तोडनेवाले इस नि स्नेही रामप्रसाद ने तो, घर से चलते चलते ही, वे मन, करोटो वज्रो से भी अधिक कठिन बना दिये। अतएव कविवर्य भवभूति ने ठीकही कहा है—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतासि को हि विज्ञातुमर्हति ॥"

तात्पर्य—लोकातीत महापुरुषो के चित्तो की कठोरता एव कोमलता को कौन जान सकता है ? । किन्तु उस समय रामप्रसाद की माता के हृदय मे भारी शोक नही था। क्योकि, वह कपटी पुरुष, इसके साथ, इसी ने तो भेजा था। साथ मे जानेवाले उस कपटी पुरुष के मन मे यह गूढभाव था कि, "मैं इस रामप्रसाद को, इसके गुरुजी के सामने, इसके दोषो को खोल कर, उन से फटकार लगवाकर यहीपर ले आऊँगा "॥४४-४६॥

पत्नी के सहित रामप्रसाद का घर से निकलना

इस प्रकार वे तीनों व्यक्ति निरन्तर चलते-चलते घोर वन मे पहुँच गये। वहाँपर पहुचते ही उसकी पत्नी बोली कि, हेस्वामिन्! देखिये, हम सब, ग्रीष्मकालीन सूर्य की गर्मी से सतप्त हो गये है, अत कुछ थोडा सा विश्राम करके ही आगे चलना उचित है। 'अच्छा तो विश्राम कर लीजिये' यो कहकर उसके वचन का अनुमोदन करके, श्रीहरिप्रेष्ठ (रामप्रसाद) वट

मार्गे सुप्ताया भार्यायास्त्याग

"निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य, पार पर जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
सदर्शन विषयिणामथ योषिता च, हा हन्त हन्त ! विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥"
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटक ८।२३)

इत्याकलय्य मनसा हरिप्रेष्ठकस्तौ, सुप्तौ विहाय सहसैव वने विलीनः ।
उत्थाय तावपि ततो नहि त विलोक्य,तूर्णं विचिक्यतुरतिप्रणयादरण्ये ॥४६॥

विरह-विकलाया भार्याया विलाप

भार्या तु तस्य विललाप भृशं लपन्ती, वक्षःस्थल करयुगादपि संरुजन्ती ।
शोकाग्निना स्वयमहो नितरा दहन्ती,चोल्केव बन्धुनिवहानपि निष्पतन्ती॥५०॥

भर्तुर्वियोगमुपयास्यसि यौवने त्व, धातस्तवेति लिखतोऽजनि नो दया किम् ।
हा हा कथ न लिखतस्तव पाणिपात,शुष्का मषी निपतिता बत लेखनी वा ॥

वे वृक्ष के नीचे बैठ गया । इसके साथ में आनेवाले वे दोनों प्राणी भी, इस की आज्ञा से शीघ्र ही लेटकर विश्राम करने लग गये, तथा मार्ग मे चलने के भारी परिश्रम से थककर, निद्र के भी वशीभूत हो गये ॥४७-४८॥

मार्ग मे सोती हुई पत्नी का त्याग

"श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने, श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के प्रति, श्रीप्रतापरुद्र राजा को दर्शन देने की प्रार्थना करने पर यह वचन कहा है कि,—"जो व्यक्ति परम निष्किञ्चन है, एव जो भगवान्के भजनके सम्मुख हो रहा है, तथा ससार सागर के पर पार जाना चाहता है, उसके लिये विषयी पुरुषो का दर्शन करना एव स्त्रियो का अवलोकन करना, हाय ! हाय !! विषखाने से भी बुरा है"

वह हरिप्रेष्ठ, अपने मन मे पूर्वोक्त सिद्धान्त को विचार कर, उन दोनों को सोते हुए छोडकर, अचानक ही वन मे छिप गया । वे दोनो भी, सोने से उठकर तदनन्तर उस हरिप्रेष्ठको न देखकर, अत्यन्त स्नेह के कारण, उसको उस वन मे, शीघ्र ही ढूँढने लग गये ॥४६॥

विरह से विकल हुई भार्या का विलाप

उसकी भार्या तो उस समय, अपने दोनो हाथों से अपनी छाती को पीटती हुई, एव शोकरूपी अग्नि के द्वारा विशेष करके स्वय ही जलती हुई तथा आकाश से गिरती हुई उल्का (ज्वाला से रहित अग्नि) की तरह, अपने बन्धुओं के समूहो को भी जलाती हुई, और स्पष्ट बोलती हुई भारी विलाप करने लग गई ॥५०॥

धातस्तवेहितमहो ! नहि वेत्ति जन्तुः
　　किं वा विचार्य विदधासि हि लोकसृष्टिम्।
चेष्टा तु तेऽल्पमतिबालकवद् विभाति
　　युक्तान् वियोजयसि यत् सहसैव जन्तून् ॥५२॥

भर्तृवियोगजहुताशन-तप्यमान !, हे स्वान्त ! किं द्रवसि नो त्वमयोमयं चेत्।
पुष्पेपुभेद्य! नहि वज्रमयोऽसि त्वं चेद्,ब्रूतां कथं तदपि नो लघु दीर्यसे भोः! ॥५३॥

हे जीव ! शीघ्रमट तात ! विलम्बसे किं
　　ज्वालाऽवलीढमिव ते हृदयं निकेतम्।
नाद्याऽपि यत् त्यजसि हन्त ! मृषा सुखाशां
　　लोकोत्तरं तत इदं तव सालसत्वम् ॥५४॥

हाय ! हाय !! हे विधाता ! "तू युवा अवस्था में ही अपने पति से वियुक्त हो जायगी" इस बात को मेरे भाग्य में लिखते हुए तुम्हारे मन में दया क्यों नहीं उत्पन्न हुई ? अथवा लिखते हुए तुम्हारे करकमल से, लेखनी की स्याही ही क्यों न सूख गई ? अथवा तुम्हारे करकमल से लेखनी ही क्यों न गिर गयी ? ॥५१॥

अहो हो ! हे विधाता ! तुम्हारी लीला को कोई भी प्राणी नहीं जानता है। क्योंकि, तुम इस ससार की रचना न जाने क्या विचारकर करते हो ? तुम्हारी चेष्टा तो, प्रतिक्षण थोड़ी सी बुद्धिवाले बालक की तरह प्रतीत हो रही है, क्योंकि, तुम, परस्पर मे संयुक्त हुए प्राणियों को, अचानक ही बिना विचारे ही वियुक्त (वियोगी) बना देते हो ॥५२॥

हे मेरे मन ! तू यदि लोहे के विकार से बना है तो, मेरे पति के वियोग से उत्पन्न हुई विरहरूप अग्नि से संतप्त होकर, द्रवीभूत क्यों नहीं हो रहा है ? अथवा पुष्पेपुभेद्य ! (काम के बाणों से भेदन करने योग्य, अथवा परमकोमल पुष्पों के बाणों से भी भेदन करने योग्य मेरे मन !) यदि तू वज्रके द्वारा बना हुआ नहीं है तो, तू बता, शीघ्रतापूर्वक विदीर्ण क्यों नहीं हो रहा है ? ॥५३॥

हे मेरे प्यारे जीव ! मेरा हृदयरूप जो तेरे रहने का घर है, वह तो विरह की ज्वाला मे प्रायः जल ही चुका है, अतः तू इसको छोड़कर शीघ्र ही अन्यत्र चला जा; विलम्ब क्यों कर रहा है ? हाय ! तू जिस कारण से आज भी मिथ्या सुख की आशा को नहीं छोड़ रहा है, उस कारण से तो मुझे यह मालूम होता है कि तुम्हारा आलसीपना लोकोत्तर ही है ॥५४॥

न निवारयितुं क्षम. क्वचिद्, महतां कोऽपि कठोरचित्ताम् ।
यदयं बहु बोधितोऽप्यहो, वचनं स्वीकृतवान् न मे पतिः ॥५५॥

कुसुमादपि कोमलं वृथा, महतां चित्तमुशन्ति मानुषा ।
यदहं दधता कठोरतां, लघु पत्या हि कृता वियोगिनी ॥५६॥

बहुधा विबुधैर्विबोधितो, न मनाक् संशृणुते स्म मे पतिः ।
अवयामि विधेरहं ततः, प्रतिकूलां मयि सर्वथा दृशम् ॥५७॥

अहह ! दक्षिणदिक्पवनोऽप्यय, ज्वलयति ज्वलितां विरहाग्निना ।
गतवति प्रियके प्रतिकूलतां, व्रजति सर्वमहो प्रतिकूलताम् ॥५८॥

दिनपति प्रतिमासमसौ शशी, व्रजति कि तत एव मरीचिभि. ।
खरतरैर्हृदयस्य च तस्करै-, र्ज्वलयति ज्वलितां विरहाग्निना ॥५९॥

कुसुमपक्तिरिय पविपक्तिवद्, विपलतेव लता प्रतिभाति माम् ।
अनवधौ तदहो विरहाऽम्बुधौ, भव विधे ! त्वमिहाऽऽश्रवलम्बनम् ॥६०॥

हाय ! हाय ! महापुरुषो के चित्त की कठोरता को, कोई भी, एवं किसी काल में भी निवारण करने को समर्थ नही है ? क्योंकि, देखो, मेरे इस पतिदेव ने, सभी के द्वारा समझानेपर भी, किसी का भी वचन स्वीकार नही किया । और देखो, सभी मनुष्य, महापुरुषो के मन को, वृथा ही कुसुम से भी कोमल मानते है, क्योंकि, कठोरता को धारण करते हुए मेरे-पति ने, मुझको शीघ्र ही वियोगिनी बना दिया । मेरा पति, विद्वानो के द्वारा अनेक प्रकार से समझानेपर भी, नेक भी नही सुनता है । इस कारण से तो मैं, मेरे ऊपर दैव की दृष्टि, सर्वथा प्रतिकूल ही समझ रही हूँ । (इन तीनों श्लोको में 'वियोगिनी' छन्द है) ॥५५-५७॥

युगानि यान्त्यमूनि न क्षणः कियत् सहिष्यते
वियोगदुःख - वैभव न चाऽऽशु मृत्युरस्ति मे ।
अये सुरा ! मदुग्रतापनाशशक्तशीकरो
न मय्युदेत्यहो पपे स केन वः कृपार्णवः ॥६१॥

अहर्निशं ममैव वाऽश्रुदुर्दिनैः प्रवर्तिते
नभो - नभस्यमासजे ऋतौ बलादहो भृशम् ।
कथं शृणोत्वतः सुषुप्य देवतावजो गिरो
भवत्यरण्यरोदन न काऽपि मेऽधुना गतिः ॥६२॥

भावं परीक्षितुमहो यदि नाथ ! गुप्तः, शुद्धां विचार्य समुपेहि परीक्षयाऽलम् ।
रक्तोत्पलं किमु पते ! भ्रमरी विहाय, धत्तूरपुष्पमुकुले रमते कदापि ॥६३॥

तुम ही मेरे अवलम्बन बन जाओ । (इन तीनों श्लोकों में 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥५८-६०॥

हाय ! पति के वियोग में मेरा यह क्षण मात्र काल ही नहीं बीत रहा है, अपितु ये तो युग के युग ही बीते जा रहे है, मुझे तो ऐसा हो प्रतीत हो रहा है । अहो हो ! इस वियोग के दुःखमय वैभव को मैं कितना सहूँगी, अब मुझसे नही सहा जाता है ? हाय ! मेरी मृत्यु भी तो तत्काल नहीं हो रही है । हे दयामय ! देवताओ ! तुम्हारे जिस दयासागर का, एक बिन्दु भी, मेरे भयंकर सन्ताप को विनष्ट करने में समर्थ है, वही दया का सागर मेरे ऊपर क्यों प्रगट नही हो रहा है ? वह किसने पी लिया ? । देवताओं को अपनी बात न सुनते देखकर उत्प्रेक्षा करती हुई पुन. बोली कि, अथवा मेरे आँसूरूपी दुर्दिनों के द्वारा, श्रावण-भादों के महीनों मे होनेवाली वर्षा ऋतु, रातदिन के लिये बलपूर्वक, विशेष रूप से प्रवर्तित (चालू) कर दी गई है । अतएव चातुर्मास्य में सोनेवाला देवसमुदाय, सोकर चुप हो गया है, इसलिये मेरी विरहमयी वाणियों को किस प्रकार सुन सकता है ? अतः मेरा रोना तो अब सच्चा ही 'अरण्यरोदन' हो रहा है । इस समय मेरी कोई भी गति नही है ? (इन दोनो श्लोकों में 'पञ्चचामर'—नामक छन्द है) ॥६१-६२॥

अहो ! हे नाथ ! यदि मेरे भाव की परीक्षा लेने को ही वन में छिप गये हो तो, मुझको शुद्ध समझकर मेरे निकट आ जाइये, अब अधिक परीक्षा लेने से कोई प्रयोजन नहीं है ? हे पतिदेव ! आप ही बताइये ? भ्रमरा (भौंरी), लालकमल को छोड़कर, धतूरे के पुष्प की कलिकापर कभी रमण

जननी-विलापः

एवं विलप्य सुचिरं तमप्राप्य नाथ, स्वागारमागतवती सह तेन पुंसा।
एतौ विलोक्य जननी निजपुत्रहीनौ,वृत्तं निशम्य च शिशोर्विललाप दीना।६४।

एकाकिन्या जनन्या निरवधि विकलत्व तु को वक्तुमीशो
याते पुत्रे विषण्णा सलिलित-नयना वत्सला गौरिवाऽऽसीत्।
सा जज्वालाऽतिमात्र हृदि सुतविरहाज्जायमानाऽनलेन
ग्रीष्माऽऽदित्यांशुतापैर्विलुलित-शिखरा वल्लिकेवाऽऽस भूमौ ।।६५।।

विकलधीरतिमात्रममुहृद्, गतसुता कुररीव रुरोद च।
विलपति स्म विधे! तव नो दया, कुसमये हि कृताऽस्मि वियोगिनी ।।६६।।

अयि विधे! मृदुपाणिसरोरुहात्, कथमलेखि लिपि. कठिनाक्षरा।
सुतवियोगमुपैष्यसि वार्धके, त्वमिति किं करुणा न तदाऽऽगता ।।६७।।

करती है क्या? अर्थात् कदापि नही। अतः मैं भी आपके सिवाय अन्यत्र अनुरक्त नही हूँ। (यह 'वसन्ततिलका' छन्द है) ।।६३।।

माता का विलाप

रामप्रसाद की भार्या, इस प्रकार बहुत देर तक महान् विलाप करके, अपने स्वामी को न पाकर, उसी कपटी मनुष्य के साथ, अपने घर चली आयी। इन दोनो को, अपने पुत्र से रहित देखकर, एव अपने पुत्र के वृतान्त को सुनकर, अर्थात् 'तुम्हारा पुत्र तो, हम दोनो को सोते हुए ही छोड़कर न जाने कहाँ चला गया' इस बात को सुनकर, रामप्रसाद की माँ, दीन होकर विलाप करने लग गयी। (यह 'वसन्ततिलका' छन्द है ।।६४।।

उस अकेली माता की असीम विकलता को, - कौन कवि वर्णन कर सकता है? अपने समर्थ पुत्र के चले जानेपर वह, भारी उदास हो गयी, उसके नेत्र जल से भर गये, वह उस समय वात्सल्यमयी गेया मैया की तरह ही हो गयी। एव वह, अपने पुत्र के विरह से उत्पन्न हुई विरहाग्नि के द्वारा विशेष प्रज्वलित हो उठी। अतएव वह, ग्रीष्मकालीन-सूर्य की किरणो की गर्मी के द्वारा मुरझाये हुए शिखरवाली लता की तरह, मुरझाकर धरतीपर गिर पड़ी। (इस श्लोक मे 'स्रग्धरा' छन्द है) ।।६५।।

वह विकल बुद्धिवाली होकर महान् विमुग्ध या अचेत हो गयी। पुत्र से रहित कुररी (टटीरी, या क्रोंच पक्षी की स्त्री) की तरह रोने लग गयी। और विलाप करती हुई बोली कि, हे विधाता! तेरे हृदय मे किंचिद् भी दया नही है, क्योकि, तुमने मुझको कुसमय मे ही वियोगिनी बना

अथवा तव चेष्टितं विधे !, प्रथितं राम - विवासनादहो ।
सुखकाल उपागते नरो, विपुलाऽऽपत्ति - बिले निपात्यते ।।६८।।

धातस्त्वं न वियोगदु खमथवा जनासि नून ततः
सयुक्तान् विदधासि जीवनिवहान् विश्लेषभाजो मिथ. ।
संयुक्तानवलोकितुं न सहसे तेऽय स्वभावोऽथवा
वत्सांश्चोरयता त्वया सखिजना कृष्णाद् वियुक्ताः कृताः।।६९।।

ततः प्रोचुर्ग्राम्या अपि विपुल - शोकाक्तहृदया
अहो ! लोकस्येयं कृतिरति - विचित्रा भगवतः ।
न जानीमः कस्माद् विघटयति सयुक्तमनसो
वियुक्तानन्यान् वा पुरुषनिकरान् योजयति सः ।।७०।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचित–श्रीहरिवेठमहाकाव्ये नायकस्याऽन्याकपदतो-
विरक्तिभावाद्यनेकविषय–वर्णन नाम सप्तम सर्ग सम्पूर्ण ।।७।।

दिया । अथवा हे विधाता ! तुमने तुम्हारे कोमल करकमल से कठिन अक्षरो वाली इस प्रकार की लिपि (लेख) किस प्रकार लिख दी ? कि, "हे बुढिया ! तू वृद्धावस्था मे, अपने पुत्र के वियोग को प्राप्त करेगी" । उस समय तुमको दया क्यो नही आयी ? (इन दो श्लोको मे 'द्रुतविलम्वित' छन्द है) ।।६६-६७।।

अथवा हे दु खदायी विधाता ! तुम्हारी दु खदायिनी चेष्टा तो श्रीरामजी के वन-वास से ही सुप्रसिद्ध हो चुकी है । क्योकि, तुमतो, सुख का समय निकट आते ही, मानव-मात्र को भारी आपत्ति के गड्ढे मे पटक देते हो । (इस श्लोक मे, 'वियोगिनी' छन्द है) ।।६८।।

अथवा हे विधाता ! तुम, वियोग के दु ख को बिल्कुल ही नही जानते हो । इसलिये तुम, परस्पर मे मिले हुए जीवगणो को अचानक ही वियोगी बना देते हो । अथवा तुम, "परस्पर मे सुख से मिले हुए प्राणियो को देख नही सकते हो" यह तुम्हारा स्वभाव ही है । क्योकि तुमने, अपने स्वभाव के वशीभूत होकर, द्वापर मे भी, वछडाओ को चुराते हुए, सभी सखाओ को श्रीकृष्ण से अलग कर दिया था । तुम्हारी यह काली करतूत सर्वत्र प्रसिद्ध है । (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ।।६९।।

उसके बाद, ग्रामीण लोग भी, भारी शोक से व्याकुल मनवाले होकर बोले कि, अहो ! हो !! हे भाइयो ! देखो, भगवान् की बनाई हुई यह लोक-

अथाऽष्टमः सर्गः

अनेकविध-शङ्कासमाधानम्

श्रीवृन्दावनमाजगाम गुरुणा सार्धं स हिण्डौलत-
पश्चाच्चिन्तयति स्म मानस इद यच्छिष्यधर्मो ह्यसौ।
पूर्वं श्रीगुरुवर्य - भाषित - कुठारैः स्वान्त - शङ्कातरुं
छित्त्वा सशय - रिक्तमानस इतो वैराग्यमार्गं व्रजेत् ॥१॥
यः शङ्कामनिवार्य मानसगता जह्याद् गृह चञ्चलो
जिज्ञासु स विराग - रागरहितो लोकद्वयात् भ्रश्यति।
एव सोऽपि विचार्य रात्रिसमये ह्येकान्तदेशे गुरु
नत्वा प्रार्थयते स्म नम्रवदनः शङ्का - निरासाय भो ! ॥२॥

रचना, भारी विचित्र है। क्योंकि, परस्पर मे मिले हुए मनवाले पुरुषगणो को वह, न जाने क्यो अलग करता रहता है ? अथवा बहुत दूरीपर अलग-रहनेवाले पुरुषगणो को, न जाने क्यो मिलाता रहता है ? उसकी रचना की यही तो विचित्रता है। (इस श्लोक मे 'शिखारिणी' छन्द है) ॥७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नीभाषाटीकासहिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये नायकस्याऽध्यापकसदतो विरक्तिभावाद्यनेक-विषयवर्णन नाम सप्तम सर्ग सम्पूर्ण ॥७॥

आठवाँ सर्ग

अनेक प्रकार की शकाओ का समाधान

इधर रामप्रसाद, उस वन मे इधर उधर चक्कर लगाकर हिण्डौल' मे ही, अपने श्रीगुरुदेव के निकट आ गया। 'हिण्डौल' से भी अपने श्रीगुरु-देव के साथ, श्रीवृन्दावन मे ही चला आया। पश्चात्—एक दिन एकान्त मे बैठकर अपने मन मे यह विचार करने लगा कि, वैराग्य के मार्ग मे पदार्पण करनेवाले शिष्य का यह मुख्य धर्म है कि, सर्वप्रथम, अपने श्रीगुरु-वर्य के, शास्त्र सगत वचनरूपी कुठारो के द्वारा अपने मन के शका-रूप वृक्ष को समूल काटकर, सशय से रहित मनवाला होकर ही, इस ससार से वैराग्य के मार्ग मे प्रवेश कर।" (इस सर्ग मे ४२व श्लोक तक 'शार्दूल-विक्रीडित'—नामक छन्द हैं) ॥१॥

क्योकि, जो चञ्चल जिज्ञासु (आत्मा एव परमात्मा के तत्त्व को जानने की इच्छावाला) व्यक्ति, अपने मन मे विद्यमान शकाओ का निवारण

हे आचार्यमणे ! जनश्रुतिरियं सत्याऽस्ति मिथ्याऽथवा
तावत् प्रव्रजितव्यमेव न गृहात् पुत्रो न यावद् भवेत् ।
पूर्वं प्रव्रजने तु देहिन इतो लोकद्वयाद् विच्युति-
रेतत्संशय - शैल - भेदन - पटुः श्रौतः पविर्दीयताम् ॥३॥

मह्यं सम्प्रति भान्ति नाथ! मलवद् भोगा हि सांसारिका
व्याघ्रीव प्रतिभाति कंदरगता गेहे गता गेहिनी ।
चेतो मे व्रजराजनन्दनमुखं द्रष्टुं समुत्कण्ठते
तस्मान्मातृ - कलत्र - बन्धु - सहितं गेहं विहायाऽऽगतः ॥४॥

यावन्नैव दधामि वेषममलं सद्वैष्णवानामहं
तावच्छ्मश्रुयुतं मुखं च वसनानीमानि धास्यामि वै ।
जीर्णत्वं गतवत्सु चैषु वसनेष्वन्यानि धास्यामि नो
हे आचार्य ! मया प्रतिश्रुतमिदं देवः प्रमाणं ततः ॥५॥

किये बिना ही, घर गृहस्थ को छोड़ देगा तो वह, वैराग्य के राग-रङ्ग से रहित होकर, दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जायेगा। इस प्रकार विचार करके वह रामप्रसाद भी, रात्रि के समय में, एकान्तस्थान में बैठे हुए श्रीगुरुदेव को नमस्कार करके, अपनी शका का निराकरण करने के लिये, नीचा मस्तक करके प्रार्थना करने लगा ॥२॥

हे आचार्यशिरोमणे श्रीगुरुदेव ! बताइये, "जब तक एक पुत्र उत्पन्न न हो जाय, तब तक मनुष्य को घर-बार छोडकर सन्यास नही लेना चाहिये, अर्थात् विरक्त नही होना चाहिये, पुत्रोत्पत्ति से पहले ही विरक्त होनेपर तो यहां से जीव का दोनों लोकों से पतन हो जाता है" यह जनश्रुति (किंवदन्ती) सत्य है अथवा मिथ्या (झूठी) है ? इसलिये आप कृपा करके मेरे लिये, मेरे इस सन्देहरूपी पर्वत के तोड़ने मे चतुर, श्रुतियो का सिद्धान्त-रूपी वज्र दे दीजिये ॥३॥

हे नाथ ! इस समय मेरे लिये सभी सांसारिक भोग, मल के समान प्रतीत हो रहे हैं; और घर मे विद्यमान घरवाली स्त्री भी मुझे बाघिन के समान लगती है; अब मेरा चित्त तो, व्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण के श्रीमुख को देखने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। मैं, इसी कारण से, माता, स्त्री, एव बन्धु-बान्धवों के सहित घर को छोड़कर आपकी शरण में आया हूँ ॥४॥

और मैंने यह प्रतिज्ञा भी कर ली है कि, "मैं जब तक विरक्त वैष्णव सन्तों का निर्मल वेष धारण नहीं कर लेता हूँ तब तक, अपने मुख को

इत्युक्त्वा विरराम रामपदयोर्गाढाऽनुरागी जनः
पश्चाच्छिष्य - हृदन्धकार - पटलीं मन्दस्मितैर्ध्वंसयन् ।
नानाशास्त्र - रहस्यमल्पवचनैः शिष्याय सग्राहयन्
आचार्योऽमृतमाधुरी - विदलन प्रोवाच वाक्यं मुदा ॥६॥

धन्यस्त्वं तव मानुष वपुरिद येनाऽसि वैराग्यवान्
धन्या सा जननी जगत्यतितरां यस्यां त्वमुत्पत्तिमान् ।
धन्य तद् वसुधास्थलं तव सदा यद् बाल्यलीलाङ्कितं
यस्मात् त्वं भरतादि - पूर्वपदवीमारोढुमुत्कण्ठसे ॥७॥

देह मानुषमाश्रितोऽप्यसुलभ संसारसिन्धुप्लव
लिप्साद गुरुकर्णधारममरप्रार्थ्यं तथा नश्वरम् ।
श्रीकृष्णस्य कृपाऽनुकूलपवनेनैवेरितं य पुमान्
यत्न नो तरितु करोति नितरां शोच्योऽपि नीचोऽपि स ॥८॥

दाढी-मूछो से युक्त ही रखू गा, एव इन्ही वस्त्रो को पहनता रहूँगा, तथा इन वस्त्रो के फट जानेपर भी दूसरे नवीन वस्त्र भी नही पहनूँगा" अत. हे श्रीगुरुदेव ! मेरी इस प्रतिज्ञा की पूर्ति एव अपूर्ति के विषय मे, पूज्यपाद आप ही प्रमाण हैं ॥५॥

श्रीकृष्ण-बलराम के श्रीचरणो मे गाढा अनुराग रखनेवाला वह रामप्रसाद, इस प्रकार कहकर चुप हो गया। उसके बाद हमारे श्रीगुरुदेव, शिष्य के हृदय की अज्ञानरूपी अन्धकार की श्रेणि को, अपनी स्वाभाविकी मन्दमुस्कानो के द्वारा दूर करते हुए एव अपने प्रिय शिष्य को, अनेक शास्त्रो के रहस्य (गूढतत्त्व) को, सारगर्भित थोडे से वचनो के द्वारा ही भली प्रकार ग्रहण कराते हुए, अमृत की माधुरी (मिठास) को तिरस्कृत करनेवाला वाक्य, सहर्ष बोले—॥६॥

हे पुत्र ! तू धन्य (पुण्यात्मा) है, एव तेरा यह मानव शरीर भी धन्य है, क्योकि, जिसके द्वारा तू वैराग्यवान् हो रहा है, एव जिसमे तुम उत्पन्न हुए हो, इस ससार मे, वह तुम्हारी माता भी अतिशय धन्य है, एव भूमि का वह स्थलविशेष भी धन्य है कि जो, तुम्हारी बाल्यलीलाओ के द्वारा सदैव अकित है। क्योकि, तू तो अब, ऋषभ-पुत्र श्रीभरतजी आदि प्राचीन महात्माओ की पदवीपर आरूढ होने को उत्कण्ठित हो रहा है ॥७॥

और देख भैया ! यह मनुष्य का शरीर, ससाररूप सागर के तरने के लिये नौका के समान है, भगवत् कृपा के बिना महान् दुर्लभ है, प्राप्त करने

मानुष्य वपुरेतदस्ति भगवत्प्राप्तेः पर साधन
सदिग्ध विपय सम स्फुटतया वक्ष्यामि ते श्रेयसे।
सर्वेपा न पुरः प्रकाश्यत इद गुह्य रहस्य सुत !
पात्रत्वं त्वयि वर्तते तत इद त्व सावधानः शृणु ॥६॥

शास्त्रीय नहि भो ! रहस्यमखिल जानन्ति सर्वे बुधा
श्रोतारोऽपि च सर्व एव न मताः कश्चित् तितीर्षुर्जन ।
तस्मा एव ददाति पक्वमनसे गुह्य रहस्य गुरु-
र्योऽपक्वोऽनुकरिष्यतीह तव स स्यादन्तराले च्युत ॥१०॥

योग्य सभी पुरुपार्थों को देनेवाला है, इस शरीररूपी नौका के कर्णधार श्रीसद्गुरुदेव ही हैं, इस मनुष्य शरीर को देवता भी चाहते हैं, यह क्षण भगुर है, यह नौकारूप-शरीर, श्रीकृष्ण की कृपारूप अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित होकर अनायास पार पहुँच जाता है। किन्तु जो मनुष्य, इन सब साधनो के सहित इस मनुष्य शरीर को पाकर भी ससार सागर से तरने के लिये प्रयत्न नही करता, वह अत्यन्त शोचनीय है एव महान् नीच है। इस विपय मे उद्धव के प्रति कहा हुआ, श्रीकृष्ण का यह वचन प्रमाण है—
(भा० ११ । २० । १७)

"नृदेहमाद्यं सुलभ सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्प गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरित, पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा ॥" ॥८॥

और देख वेटा ! यह मनुष्य का शरीर, भगवत् प्राप्ति का परमोत्तम साधन-स्वरूप है, इसलिये मैं, तेरे कल्याण के लिये समस्त सदिग्ध (सन्देह-युक्त) विपय को, स्पष्टरूप से कहूँगा। यह गुप्त रहस्य, सभी के सामने प्रकाशित नही किया जाता। तुझमे उस रहस्य के सुनने की योग्यता है, क्योकि, तू आर्त अधिकारी है। अत वच्चा तू सावधान होकर श्रवण कर। (गूढ तत्त्व नहि साधु दुरावहि। जो आरत अधिकारी पावहि) ॥६॥

देख, भैया ! शास्त्रो के समस्त गूढ-तत्त्व को सभी पण्डित नहीं जानते हैं। एव उस तत्त्व के अधिकारी श्रोता भी सभी जन नही माने गये हैं, ससार सागर से पार जाने की इच्छावाला कोई एक आध जन ही माना गया है। अतएव श्रीगुरुदेव भी, परिपक्वमनवाले उस अधिकारी श्रोता के लिये ही, गुप्त रहस्य को वता देते हैं। इसलिये यहाँपर जो कच्चा अधिकारी होकर भी तेरा अनुकरण करेगा तो वह बीच मे ही पतित हो जायगा ॥१०॥

नाऽदत्वा विरजेद्दण पितुरितः सत्यास्त्वियं वेदवाक्
वेदः किन्तु हितं यथारुचि नृणां पुष्णाति सन्मातृवत् ।
भूत्वा वर्णिवरस्ततो गृहिवर पश्चाद् वनी संन्यसेत्
इत्येका द्विगुदाहृताऽथ विरजेत् सर्वानतिक्रम्य वा ॥११॥

वैराग्यं हि विना परन्तु जगतः पारं न कश्चिद् गतः
पूर्वं वाऽप्यथ मध्यतोऽप्यथ परं ग्राह्यो विरागो नृभिः ।
लोकान् कर्मचितान् परीक्ष्य परविन्निर्वेदमेवाऽऽनुयात्
सूनो ! नास्त्यमृतं कृतेन तद्वितो ज्ञातुं गुरुं प्रव्रजेत् ॥१२॥

अस्तु अब तेरी शका का समाधान सुन ! देख, "पिता के ऋण को चुकाये विना, अर्थात् एक पुत्र के उत्पन्न किये विना घर को छोडकर सन्यास या वैराग्य नही लेना चाहिये" यह वेद-वाणी अधिकारी के अनुसार-सत्य ही है, किन्तु वेद तो, सच्ची माता की तरह मनुष्यमात्र का हित, रुचि के अनुसार ही पुष्ट करता है। देखो, एक क्रम मार्ग तो वेद ने इस प्रकार वताया है कि, पहले २५ वर्ष तक श्रेष्ठ ब्रह्मचारी वनकर, पश्चात् पचास वर्ष तक सद्गृहस्थ वनकर, पश्चात् ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ होकर सन्यास ग्रहण कर ले। और दूसरा सीधा मार्ग इस प्रकार भी वताया है कि, सभी आश्रमों को छोडकर ही विरक्त हो जाय अर्थात् सन्यास ले ले। इस विषय में यही वेद वचन प्रमाण है—"वर्णी भूत्वा गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा संन्यसेत्। अथवा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, गृहाद् वा वनाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, इत्यादि" ॥११॥

किन्तु वैराग्य के ग्रहण किये विना, इस संसार के कोई भी पार नही गया है। अतः मनुष्यों को वैराग्य तो अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये; चाहे ब्रह्मचर्याश्रम से ग्रहण करो, चाहे गृहस्थाश्रम से, चाहे वानप्रस्थाश्रम से ग्रहण करो, यह रही अपनी इच्छा। परन्तु इच्छा भी पक्की ही होनी चाहिये, मर्कट वैराग्य अच्छा नही। देख बेटा ! इन समस्त लोकों को कर्मों से ही बने हुए समझकर, परमात्मा के ज्ञाता व्यक्ति को वैराग्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योकि, भक्तिविहीन कर्मों से मुक्ति नही होती है। इसलिये, आत्मा-परमात्मा के, अर्थात् जीव ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये, सद्गुरु के निकट अवश्य जाना चाहिये, अर्थात् आत्मकल्याणार्थ सद्गुरु की शरणागति अवश्य लेनी चाहिये। (इस विषय में यह श्रुति ही प्रमाण है—यथा—"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः

सद्गुरोर्लक्षणानि

सिद्ध सत्सु च ब्रह्मनिष्ठमनघ सत्ये पर श्रोत्रिय
　　सत्वस्थ समयानुकूल - सुजनाऽऽचार जिताऽक्षावलिम् ।
स्खालित्येऽपि च शिष्य-शिक्षणपर दम्भादिमुक्त तथा
　　स्वीकुर्यात् करुणाकर स्थिरमति भो ! दीर्घबन्धु गुरुम् ॥१३॥

राजान भिषज गुरु स्वशिशुक नो रिक्तपाणिर्व्रजेत्
　　वेदे चाऽऽमिष - भक्षण परिणयो नो मद्यपान विधि ।
अत्यन्तागतिके विधिर्भवति भो ! को नित्यसिद्धे विधि-
　　र्जीवाना शनकैर्नियामकतया वेदे निवृत्ति फलम् ॥१४॥

क्रमेन, तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ प्रशान्तम्," इति) ॥१२॥

सद्गुरुदेव के लक्षण

और हे पुत्र ! देख, अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति को इस प्रकार के सद्गुरुदेव की शरण मे जाना चाहिये कि, जो चारो सम्प्रदायो के सन्ता मे प्रसिद्ध सिद्ध सन्त हो, ब्रह्म मे निष्ठ हो, अर्थात् अपने इष्टदेव रूप ब्रह्म मे निष्ठा रखनेवाला हो, निष्पाप हो, यथार्थ सत्य मे तत्पर हो, श्रोत्रिय हो, अर्थात् १–जन्म से ब्राह्मण हो २–सस्कारो से द्विज हो, ३–वैदिक विद्या के अध्ययन से विप्र हो, इन तीन लक्षणो से श्रोत्रिय हो, सत्त्वगुण मे स्थित हो, समय के अनुकूल सज्जनो के से आचार विचारवाला हो, जितेन्द्रिय हो, मार्ग से विचलित होनेपर अपने शिष्य को समझाने मे तत्पर हो, दम्भ (पाखण्ड, आडम्बर, ढकोसला, कपट) से रहित हो, दया का खजाना हो, स्थिरबुद्धिवाला हो, दीर्घबन्धु अर्थात्–दोनो लोको की बन्धुता का निर्वाह करनेवाला हो, । श्रोत्रिय का लक्षण देवल स्मृति मे इस प्रकार है—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्व श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च" ॥१३॥

और देख, राजा, वैद्य, गुरु एव अपने बालक के निकट खाली हाथ नही जाना चाहिये । और देख, वेद मे, मास खाना, स्त्री-प्रसग करना, एव मद्यपान करना इत्यादि का विधान नही है । क्योकि, अत्यन्त अगतिक के विषय मे विधि होती है, अर्थात् जो विषय, लोक-शास्त्र के द्वारा भी प्राप्त नही है वेद उसी विषय का विधान करता है, अत, नित्य सिद्ध विषय मे काई भी विधि नही है । अत्यन्त अप्राप्त विषय मे जो विधान है, उसी को

पार्श्वे सन्नपि नोपगच्छति ऋतुस्नाता स्वभार्या तु यो
घोरे पच्यत एव तेन नरके त्वित्यस्य भावस्त्वयम् ।
कामे सत्यपि मानसे तु नितरा तस्यामरुच्यादिना
ता नैवोपयतस्तु दोपकथन दोपी न निष्कामधी ॥१५॥
काम - व्याकुलितात्मने तु भगवद्वार्ताऽपि नो रोचते
द्रव्य धर्मफल यतो भवति विज्ञानं सनिःश्रेयसम् ।
तद् युञ्जन्ति गृहेषु मूढमनसो देहादिसौख्याप्तये
पार्श्वस्थ नितरा गृहीत - चिकुर मृत्युं न पश्यन्ति ते ॥१६॥
विधि कहते है, विकल्प से प्राप्त होनेवाले विपय मे जो विधान है, उसको नियम कहते है, एव जो विपय, लोक से भी प्राप्त है, उसी का विधान यदि वेद मे मिलता है तो उसको विधि न कहकर 'परिसख्या'-विधि कहते हैं, तथा चोक्तं,— 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम पाक्षिके सति ।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ।।"

तात्पर्य-मास-खाना स्त्री-प्रसङ्ग करना, मदिरा-पीना आदि तो, राजसी-तामसी प्रकृतिवाले जीवो को स्वभाव से ही प्राप्त है, अत, ऐसे निरङ्कुश जीवो को, नियम मे बाँधकर, धीरे-धीरे इन दुर्गुणो से छुडाना ही वेदो का अभिप्राय है । क्योकि वेदो का फल निवृत्ति ही है । इस विपय मे यही प्रमाण है—(भा०११।५।११)

"लोके व्यवायाऽऽमिष-मद्यसेवा, नित्याऽस्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेपु विवाह-यज्ञ-, सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥" ॥१४॥

"एव जो व्यक्ति अपनी स्त्री के निकट विद्यमान होकर भी, ऋतुस्नाता (मासिक-धर्म के बाद स्नान की हुई) अपनी स्त्री के निकट नही जाता है, वह घोर नरक मे पचता रहता है" इस स्मृति वचन का तो यह अभिप्राय है कि, अपने मन मे यथेष्ट कामना होनेपर भी, किसीकारण विशेप से उसके निकट नही जानेवाले व्यक्ति के सम्बन्ध मे ही, स्मृति मे, दोप कहा गया है, किन्तु निष्काम बुद्धिवाला व्यक्ति, कभी भी दोपी नही है ॥१५॥

क्योकि, काम के द्वारा व्याकुल चित्तवाले व्यक्ति को तो, भगवान् की कथावार्ता भी अच्छी नही लगती है । और देख, धन का मुख्य फल, धर्म करना ही है, क्योकि उसी के द्वारा, सत्पात्र के सम्बन्ध से मोक्ष के सम्बन्ध से युक्त विज्ञान का भी लाभ हो जाता है । किन्तु-मूढ मनवाले व्यक्ति उसी धन को, देह आदि के सुख की प्राप्ति के लिये केवल घर गृहस्थी के कामो मे ही लगा देते है, और वे व्यक्ति, पास मे ही खडे हुए एव

आघ्राणं विहितं श्रुतौ तु नितरां पान सुराया न भो !
यज्ञे ह्यालभन पशोरपि तथा हिंसा न चोट्टङ्किता ।
स्त्री - संगः प्रजया तथैव विहितो नैवेन्द्रिय - प्रीतये
शुद्धं धर्ममिमं विदन्ति न शिशो! शास्त्राऽनभिज्ञा जनाः ॥१७॥

शास्त्रं नो परिसंख्यया यदि वदेदुद्वाहकादि - स्थिति
लोकास्तर्हि यमादिभीति - रहिताः स्वातन्त्र्यमेवाऽऽप्नुयुः ।
धर्मः कं शरणं व्रजेद् भययुतो नश्येयुरोकांसि च
पाखण्डप्रचुरैर्जनैर्विदलिता लुप्येत सत्पद्धतिः ॥१८॥

चोटी को पकड़े हुए मत्युदेवको भी विशेष करके नही देखते हैं । इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० ११ । ५ । १२)

"धन च धर्मैकफल यतो वै, ज्ञान सविज्ञानमनुप्रशान्तिः ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य, मृत्यु न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्" ॥१६॥

किंच देख भैया ! "सौत्रामण्यामेव सुरां पिबेत्" इस श्रुति मे, 'सौत्रामणि'-नामक यज्ञ मे भी मदिरा के सूँघने का ही विधान किया है, पीने का नहीं। एव "यज्ञ एव आमिषसेवा" इस श्रुति मे, यज्ञ में पशु का आलभन (स्पर्श करना-मात्र) ही विहित है, हिंसा का उल्लेख नही है। इसी प्रकार "स्वविवाहितायामेव व्यवाय कार्य" इस श्रुति मे भी, अपनी धर्मपत्नी के साथ मैथुन की जो आज्ञा दी है, वह भी धार्मिक परम्परा की रक्षा के निमित्त सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही है, केवल इन्द्रियो की प्रीति के लिये नही है। किन्तु हे पुत्र ! शास्त्र के गूढतम अभिप्राय को न जाननेवाले जन, अपने इस विशुद्ध धर्म को नही जानते है। इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० ११ । ५ । १३)

"यद् घ्राण-भक्षो विहितः सुरायाः,स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या, इम विशुद्ध न विदुः स्वधर्मम् ॥"॥१७॥

और देख, भैया ! शास्त्र यदि 'परिसंख्या'-विधि के अनुसार, विवाह आदि की मर्यादा को नही बताता तो, सभी लोग, यमराज आदि के भय से रहित होकर स्वतन्त्र ही हो जाते। उस समय अधर्म से डरा हुआ धर्म, कौन की शरण मे जाता ? ऐसी स्थिति मे सभी धार्मिक स्थान भी विनष्ट हो जाते, और पाखण्ड की मात्रा से परिपूर्ण जनो के द्वारा विदलित होकर सन्मार्ग भी लुप्त हो जाता ॥१८॥

भक्तिं चाऽव्यभिचारिणीमनुभवन् कर्तव्यशेषं त्यजन्
श्रीकृष्णं शरणं शरण्यमगमत् सर्वात्मभावेन यः।
देवर्ष्याप्तनृणां तथा न स पितृणां किंकरो वा ऋणी
तस्मात् त्वं शरण प्रयाहि सुखद निःसंशयः श्रीहरिम् ॥१९॥

पुन्नाम्नो नरकात् पितॄनपि च यस्त्रायेत पुत्रोऽपि स
भक्तस्तूद्धरते बहूनपि पितॄन् स्वात्मानमन्यस्तु नो।
काम - क्रोध - मदादि - वेगसहन कुर्यात् स धीरः सुखी
सौख्यं वैषयिक तु भद्र ! सुलभ प्राप्तिर्हरेर्दुर्लभा ॥२०॥

और देख, जो व्यक्ति, श्रीहरि की अव्यभिचारिणी (अटल) भक्ति का अनुभव करता हुआ, एव 'यह करना बाकी है, 'वह करना आवश्यक है, इत्यादि रूपवाले समस्त कर्तव्यमात्र को छोड़कर, शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की शरण मे, चला गया है, वह व्यक्ति, देवताओं का, ऋषियो का, वृद्ध पुरुषो का, अन्य मनुष्यों का, पितरो का ऋणी नही है; एव किसी के अधीन, किसी का सेवक, किसी प्रकार की विधि के बन्धन मे नही रहता। इसलिये हे पुत्र ! तू भी, सब प्रकार के सन्देहों से रहित होकर, भक्तजन-सुखदायक श्रीहरि को शरण में चला जा। इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० ११।५।४१)

"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां, न किङ्करो नाऽयमृणी च राजन् !।
सर्वात्मना य शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥१९॥

और जो व्यक्ति, 'पुत्'-नामक नरक से अपने पितरों की रक्षा कर लेता है, वही सच्चा पुत्र कहलाता है। किन्तु भक्त तो अपने अनेक जन्मो के बहुत से पिताओ का उद्धार कर लेता है, अभक्त तो अपनी आत्मा का भी उद्धार नही कर पाता। और जो व्यक्ति, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि के वेग को सहन कर लेता है वही धीर एवं सुखी कहलाता है। और हे मङ्गलमय प्रिय पुत्र ! देख, वैषयिक सुख तो सभी योनियों मे सर्वत्र सुलभ है, किन्तु मनुष्य शरीर के विना श्रीहरि की प्राप्ति दुर्लभ ही है। इन सब विषयों मे क्रमशः निम्नांकित प्रमाण है— "पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तो देशिकैस्तत्त्वकोविदैः" "त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ !। यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुल-पावनः। यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ता समदर्शिनः। साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः॥" (भा० ७।१०।१८-१९) महाभारते च यथा—

केचित् सत्यपि सौख्य-साधन-चये रज्यन्ति नो भो ! मनाक्
अन्ये नो विरजन्त्यसत्यपि पुनः क्लिश्यन्ति तत्प्राप्तये ।
तत्र प्राग्भव - पुण्य - पाप - करणं शास्त्रैर्भृशं निश्चितं
धन्यस्त्वं यदिहाऽऽसापि सुलभान् भोगान् विहायाऽऽगत ॥२१॥

मद्याजी भव मन्मना नतिपरो मे भक्तिभागर्जुन !
मामेवैष्यसि वै प्रतिश्रुतमिद त्व मे सखाऽऽस्से सुहृत् ।
गीता - वाक्यमिदं त्वमाशु हृदये धृत्वा प्रियः स्या हरे-
र्दाराद्याः क्षणभंगुराऽऽयुष उरीकुर्वन्ति ते किं प्रियम् ॥२२॥

"वाचो वेग मनस क्रोधवेग, जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत मर्त्य ,सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्" ॥२०॥

और देख भैया ! उत्तम-प्रकृतिवाले कुछ व्यक्ति तो, इस ससार मे अपने पास सुखदायक साधनो के समूह के विद्यमान रहनेपर भी, उनमे अनुराग नही करते हैं । एव छोटी प्रकृतिवाले कुछ व्यक्ति ऐसे है कि जो, सुखमय-साधनो की अनुपस्थिति मे भी, उनसे विरक्त नही हो पाते, बल्कि उनकी प्राप्ति के लिये रात-दिन क्लेश भोगते रहते है । इन दोनो प्रकार के व्यक्तियो के विषय मे शास्त्रो ने, प्राचीन पुण्य-पाप को ही असाधारण-कारण निश्चित किया है । किन्तु तू तो धन्य है ! क्योकि, तू तो अनायास (परिश्रम के बिना ही) सुलभ भोगो को छोडकर, मेरे निकट आ गया है ॥२१॥

और देख भैया ! "हे अर्जुन ! तू मेरी पूजा सेवा करनेवाला बन जा, मेरे मे मन लगा ले, मेरा भक्त बन जा, एव तुझसे यदि अन्य कोई भी साधन न बने तो, केवल मुझे नमस्कार ही कर लिया कर । बस, इसी साधन से तू मुझको अनायास प्राप्त कर लेगा, । मैं तुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कह रहा हूँ, क्योकि, तू मेरा निरपेक्ष हितैषी सखा है ।" (गीता १८।६५)

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुर ।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥"

श्रीमद्भगवद्गीता के इस वाक्य को हृदय मे धारण करके तू भी, शीघ्र ही श्रीहरि का प्यारा बन जा । क्योंकि, स्त्री एव पुत्र आदि सासारिक समस्त पदार्थ तो क्षण भगुर आयु वाले हैं, अत वे पदार्थ तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य अ गीकार कर सकते हैं ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥२२॥

यद्वन्मूल - निषेचनेन हि तरोस्तृप्यन्ति शाखादय-
स्तृप्तिं गच्छति भो ! यथेन्द्रियगणः प्राणोपहारादरम् ।
एवं कृष्णपदारविन्दयजनं सर्वार्हणं संमतं
तस्मात् त्वं सुहृदं प्रियं तव हरिं सर्वात्मभावैर्भज ॥२३॥

यस्याऽऽस्ते मधुभित्पदाब्जयुगले भक्तिः सदा नैष्ठिकी
यस्योपर्यपि तस्य पादकमलद्वन्द्वाऽऽतपत्रं क्षणम् ।
यो वाऽऽचार्य - कृपाबलैरुपचितो वेदस्य तत्त्वं हरे-
र्जानात्येव स मानुषो हि नितरामन्यो न चिन्वन्नपि ॥२४॥

इत्थं ज्ञान - विराग - भक्तिसहितं नैष्कर्म्यमापादयन्
पूर्णज्ञान - विराग - भक्तिनिधिरस्याऽऽचार्यवर्योऽस्ववीत् ।
पश्चाच्छ्रीगुरुपादमर्दनविधिं कृत्वा तथा वन्दनां
वैराग्याभिमुदाऽर्धनिद्रित इवाऽनैषीन्निशामेषकः ॥२५॥

और देख, वृक्ष के मूल को सींचने से जिस प्रकार उसके स्कन्ध एवं शाखा प्रशाखा आदि सब तृप्त हो जाते है, एवं प्राणों को भोजन दे देने से जिस प्रकार समस्त इन्द्रियों का गण तृप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण के चरणारविन्दो का पूजन ही समस्त देवताओ का पूजन है, अर्थात् यदि श्रीकृष्ण का पूजन हो गया तो मानो सभी देवताओ का एवं समस्त प्राणियो का पूजन हो गया, यह सिद्धान्त सर्वशास्त्र समत है । इसलिये तू भी, प्राणीमात्र के प्रिय-मित्र श्रीहरि को सभी भावो से भजता रह । इस विषय में यही प्रमाण है—(भा० ४।३१।१४)

यथा तरोर्मूल - निषेचनेन,तृप्यन्ति तत्स्कन्ध - भुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥" ॥२३॥

और देख भैया ! श्रीहरि के तत्त्व को एवं वेदों के वास्तविक अभिप्राय को भी वही मनुष्य जानता है कि, जिसकी सदैव नैष्ठिकी भक्ति, श्रीकृष्ण के चारुचरणारविन्द द्वन्द्व मे है, तथा जिसके ऊपर, उनके दोनों चरणकमल रूप छत्र भी क्षणमात्र के लिये भी लग चुका है; अथवा जो सद्गुरुदेव के कृपारूप बलों से परिपूर्ण है । और दूसरा मनुष्य तो, अनेक शास्त्रो के मार्गो मे ढूढ़ता हुआ भी नही जान सकता । इसमे यही ब्रह्मवाक्य प्रमाण है—(भा० १०।१४।२९)

"अथापि ते देव ! पदाम्बुजद्वय-, प्रसादलेशाऽनुगृहीत एव ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो,न चाऽन्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥"॥२४॥

वैराग्यवेषग्रहण भावपद्धते शिक्षा च

स्मार स्मारमुदार - चारुचरित श्रीकृष्णचन्द्र प्रगे
प्रोत्थायाऽऽसनतो विधाय च गुरो पादाब्जयोर्वन्दनम् ।
पश्चाद् दैहिककृत्यमेत्य मुदितः स्नात्वा जले यामुने
सान्निध्य च गुरोरुपेत्य स नमन् व्यज्ञापयत् स्वाशयम् ॥२६॥

हे आचार्य ! सुशोभनोऽद्य दिवस सा पौर्णमासी तिथि-
स्तस्मात् पूर्णमनोरथ स्वकृपया मा हे दयालो ! कुरु ।
छिन्नाः सशयपादपा मम समे ते वाक्कुठारैरलं
पादाम्भोरुहयोस्तवाऽस्मि निरतोऽहं चञ्चरीकोऽचलः ॥२७॥

पूर्णज्ञान, पूर्णवैराग्य एव पूर्णभक्ति के निधिस्वरूप आचार्यवर्य हमारे श्रीगुरुदेव, पूर्वोक्त प्रकार से चौबीसवे श्लोक तक, ज्ञान, वैराग्य एव भक्ति के सहित नैष्कर्म्य (निष्काम कर्म अथवा कर्मो की आत्यन्तिक निवृति) का भली प्रकार प्रतिपादन करते हुए सो गये । सभी शकाओ का समाधान हो जाने के बाद, इस रामप्रसाद ने भी, श्रीगुरुदेव के चरणो के दबाने की विधि समाप्त करके एव उनको नमस्कार करके, वैराग्य की प्राप्ति के हर्ष के कारण, आधे सोये हुए व्यक्ति की तरह, वह रात्रि यो ही व्यतीत कर दी ॥२५॥

विरक्त वैष्णवो के वेष का ग्रहण एव भावमयी-पद्धति की शिक्षा

उसके बाद उस रामप्रसाद ने, प्रात काल के समय, परम उदार चारु-(मनोहर, सुन्दर) चरित्रवाले श्रीकृष्णचन्द्र को स्मरण करते-करते, अपने आसन से उठकर, श्रीगुरुदेव के चरणारविन्दो की वन्दना करके, पश्चात् शौचादि दैहिक कृत्य से निवृत्त होकर, हर्षपूर्वक श्रीयमुनाजल मे नहा कर, श्रीगुरुजी के निकट आकर नमस्कार करते-करते अपना आन्तरिक अभिप्राय निवेदन कर दिया ॥२६॥

हे श्रीगुरुदेव ! आज बहुत ही अच्छा दिन है, मेरे मनोरथ को पूर्ण-करनेवाली वह तिथि भी पौर्णमासी है । इसलिये हे दयालो ! गुरुदेव ! अपनी अहैतुकी कृपा के द्वारा मुझ दीन को भी, पूर्णमनोरथवाला बना दीजिये, अर्थात् मुझे विरक्त-वेष दे दीजिये । एव आपके वाणीरूप कुठारो के द्वारा, मेरे सन्देहरूपी वृक्ष कट चुके है, अत मैं सन्देह रहित हूँ, तथा मैं, तुम्हारे चरणारविन्दो मे लीन रहनेवाला अचल चञ्चरीक (भ्रमर) हूँ ॥२७॥

आचार्यस्तदनु प्रसन्नहृदयः प्रोवाच शिष्य प्रति
कृत्वा मुण्डनमाशु यामुनजले स्नात्वा पुनः सादरम्।
पश्चादानय पुष्प - धूप - तुलसी - नैवेद्य - दीपादिकान्
इत्याकर्ण्य स तूर्णमूर्जितमना सर्वं यथावद् व्यधात् ॥२८॥

आचार्योऽपि च गेहियोग्य - वसनान्युत्तारय त्व द्रुतं
इत्याज्ञाय तदंसतः समनयद् यज्ञोपवीतं स्वयम्।
कौपीन च बबन्ध तस्य वसन कट्यां तथा पर्यधात्
गात्र वेष्टयति स्म चाऽस्य वसनेनैकेन तन्मस्तकम् ॥२९॥

विन्यस्याऽऽत्मकरेण मन्दिरविधं तन्मस्तके पुण्ड्रक
अङ्गन्यासविधि विधाय भगवन्नाम्नाऽस्य सर्वाङ्गके।
शुभ्रां सूक्ष्ममणि गुरुश्च तुलसीमालां गलेऽवेष्टयत्
सोऽङ्गैर्द्वादशभिर्बभौ तिलकितैः शुक्लैः पटैर्हंसवत् ॥३०॥

उसके वाद प्रसन्नमनवाले श्रीगुरुदेव, शिष्य के प्रति बोले कि, हे प्रिय रामप्रसाद ! तुम मुण्डन कराकर, पुन शीघ्र ही श्रीयमुना जल मे सादर स्नान करके, पश्चात् पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य एव तुलसी आदि को ले आओ। इन वातो को सुनते हो उसने भी शीघ्र ही वढे चढे मन से युक्त होकर, सम्पूर्ण कार्य यथावत् कर दिया ॥२८॥

पश्चात् श्रीगुरुदेव ने भी, "हे भैया ! तू, गृहस्थीजनो के से वस्त्रो को शीघ्र ही उतार दे" इस प्रकार की आज्ञा देकर, उसके कन्धे से उसके यज्ञोपवीत को स्वय ही उतार दिया। एव उसकी कटी (कमर) मे कौपीन बाँध दी तथा वहिर्वास भी पहना दिया। और एक वस्त्र के द्वारा उसका शरीर लपेट दिया, अर्थात् उसको गाती पहना दी, एव साफी से उसका मस्तक बाँध दिया ॥२९॥

पश्चात् श्रीगुरुदेव ने, अपने दाहिने हाथ के द्वारा, उसके मस्तकपर, मन्दिराकृति ऊँचा तिलक लगाकर, केशवाय नम, नारायणाय नम, माधवाय नम, गोविन्दाय नम, इत्यादि भगवन्नाम के द्वारा, उसके समस्त अङ्ग मे अङ्गन्यास विधि का विधान करके, छोटे-छोटे मनकाओवाली, सफेद रगवाली तुलसी की माला, गले मे बाँध दी। वह हरिप्रेष्ठ उस समय, तिलको से युक्त द्वादश अङ्गो के द्वारा एव शुक्लवर्ण के वस्त्रो के द्वारा, हस की तरह सुशोभित हो गया ॥३०॥

प्रारब्धे हरिकीर्तने सुमधुरे सद्वैष्णवैः सादरं
नैवेद्येऽपि निवेदिते च हरये दत्ते च धूपादिके।
कर्णे दक्षिणके यथाविधि गुरुर्गोपालमन्त्रं ददौ
पाणौ दक्षिणकेऽस्य भैक्ष्यवसनं वामे तु दण्डं शुभम् ॥३१॥

भिक्षां वृद्धवयस्क-वैष्णवगणः प्रीत्या ददौ चाऽस्मकै
पश्चात् पूर्णमनोरथः स शुशुभे मूर्तो विरागो यथा।
ऊचे वृद्धवयस्क-वैष्णवगणो दृष्ट्वाऽस्य वेषं तदा
नूनं जन्मनि पूर्वकेऽपि नितरामेतेन भक्तिः कृता ॥३२॥

यस्मान्मातृ-कलत्र-बन्धुनिवहं संदुस्त्यजं यौवने
त्यक्त्वैवाऽनुकरोति पूर्वभरतं श्रीकृष्ण-सम्प्राप्तये।
पश्चाद् वैष्णववृन्दमेष विधिना नत्वा गुरोराज्ञया
प्राणंसीद् बलरामकृष्णचरणौ साष्टाङ्गमानन्दितः ॥३३॥

भिक्षां चाऽस्य मुदा निवेद्य गुरवे प्राणीनमद् दण्डवत्
नामाऽप्यस्य चकार रामहरिदास श्रीगुरुः सार्थकम्।
पश्चाद् बोधयति स्म भावविषयां सत्पद्धतिं तं प्रति
पुत्र! त्वं भज राम-कृष्णचरणौ सख्याख्य-भावेन भोः! ॥३४॥

पश्चात् सद्वैष्णवों के द्वारा आदरपूर्वक सुमधुर श्रीहरि-नाम संकीर्तन प्रारम्भ कर देनेपर, श्रीहरि के लिये नैवेद्य निवेदित कर देनेपर, एवं धूप आदि दे देने के बाद, श्रीगुरुदेव ने उसके दाहिने कान मे विधिपूर्वक 'श्रीगोपालमन्त्र' दे दिया। एव इसके दाहिने हाथ में भिक्षा माँगने की झोली दे दी तथा बायें हाथ मे शुभ (सुन्दर) दण्ड दे दिया ॥३१॥

उस समय वृद्ध अवस्थावाले वैष्णवों ने इसको प्रीतिपूर्वक भिक्षा दे दी। पश्चात् वह हरिप्रेष्ठ, पूर्णमनोरथवाला होकर मूर्तिमान् वैराग्य की तरह सुशोभित हो गया। उस समय इसके वेष को देखकर, वृद्धवस्थावाला विरक्त वैष्णवों का समूह बोला कि, इस हरिप्रेष्ठ ने, पहले जन्म में भी श्रीहरि की विशिष्ट भक्ति अवश्य की है। उसी कारण से तो यह, अतिशय दुस्त्यज माता, स्त्री एव बन्धुओं के समूह को, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के उद्देश्य से, युवावस्था मे ही छोड़कर, श्रीऋषभदेव के पुत्र श्रीभरतजी का अनुकरण कर रहा है। पश्चात् इस हरिप्रेष्ठ ने, श्रीगुरुदेव की आज्ञा से, वैष्णववृन्द को विधिपूर्वक नमस्कार करके, आनन्दित होकर, श्रीकृष्ण-बलदेव के चरणों को साष्टाङ्ग-प्रणाम कर दिया ॥३२-३३॥

वेदे सख्यरसस्य पद्धतिरयें ! स्पष्टीकृता भूरिश-
स्त्वां सख्याय हवामहे इति च मन्त्रैर्द्वा सुपर्णादिभिः।
भूयः साम्यमुपैति चेत्युपनिद्वार्थी दरीदृश्यते
साधर्म्य मम चाऽऽगता इति हरिर्गीतान्तरेऽप्युक्तवान् ॥३५॥

सम्बन्ध प्रतिपादयन्नलितरां जीवेशयोर्नारद-
श्रीमद्भागवते पुरञ्जनकथायां तं च प्राचीकटत्।
दोषी सन्नपि मित्रभाव-विधिना - मामाप्नुयाद् यो नर-
स्त नैव प्रजहामि चेति वचनं रामस्य रामायणे ॥३६॥

पश्चात् श्रीगुरुदेव के लिये हर्षपूर्वक भिक्षा निवेदन करके, उसने श्रीगुरुदेव को भी साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। पश्चात् श्रीगुरुदेव ने, इसका सार्थक 'श्रीरामहरिदास' ऐसा नामकरण कर दिया। पश्चात् श्रीगुरुदेव ने उसके प्रति भावमयी सत्पद्धति भली प्रकार समझा दी। अतएव समझाते हुए कहा कि, हे पुत्र ! तू श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणो का भजन 'सख्य'—नामक भाव से करना। अर्थात्—आज से तू श्रीकृष्ण-बलदेव का सखा बना दिया है। और श्रीकृष्ण के सखाओं मे तेरा नाम 'हरिप्रेष्ठ' रख दिया है ॥३४॥

और देख भैया ! वेदो मे सख्य रस की पद्धति "मरुत्वन्त सख्याय हवामहे" (ऋग्वेद १।७।१२।५) अर्थात् अनन्त बलवाले उस परमात्मा को हम सब, सखा होने के लिये बुलाते हैं। एव "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते। (ऋ० २।३।१७मं० ५) अर्थात् जीव और ईश्वर रूप दो पक्षी, शरीर रूप एक ही वृक्ष मे मिलकर रहते हैं, व दोनो समान गुण वाले हैं आपस मे सखा हैं। इत्यादि मन्त्रो के द्वारा वारम्बर स्पष्ट कर दी गयी है। एवं "निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति" (मुण्डकोपनिषद् खण्ड१ मं०३) अर्थात् यह जीव, जिस समय ईश्वर का दर्शन करता है तब पुण्यपापो से रहित होकर एव प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर, उस परमात्मा के साथ परम-समता (मित्रता) को प्राप्त हो जाता है। इत्यादि उपनिषदो की वीथी (गली) भी ऐसी ही दिखाई देती है। तथा श्रीकृष्ण ने भी गीता मे— "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" (गीता १४।२) अर्थात् समानो धर्मो यस्य स सधर्मः सखा तस्य भाव साधर्म्यं सख्यमित्यर्थः।" अर्थात् इस गीता के ज्ञान का आश्रय लेकर बहुत मे भक्तजन मेरे सख्यभाव मे आ गये। इस प्रकार कहा है ॥३५॥

सख्यात्रैव रसः परोऽपि च मुने ! सर्वेषु वेदेषु भो !
येनैक्यं मम प्राप्य जीवनिवहः सार्धं मया मोदते ।
इत्थं लोमश - संहिताऽन्तर उदाजह्रे स्वयं श्रीहरि-
रित्युक्त्वा विरराम रामवचनः सख्यावतारो गुरुः ॥३७॥

गोपालमन्त्र गृहीत्वा श्रीगुरुदेवप्रार्थना

तच्छ्रुत्वा प्रतिवाचमादित हरिप्रेष्ठः प्रसन्नाननो
हे आचार्य - शिरोमणे ! तव कृपादृष्ट्यैव जीवोऽधमः ।
शक्तः पारमपारसृष्टिजलधेर्यातुं विनैव श्रमं
ये त्वां सन्ततमर्चयन्ति विधिना तेषां नृणां का कथा ॥३८॥

एव जीव ईश्वर के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हुए श्रीनारदजी ने उस सम्बन्ध को, श्रीमद्भागवत मे चतुर्थ स्कन्ध मे, पुरञ्जनोपाख्यान मे, स्पष्ट ही प्रगट कर दिया है। और देख, वाल्मीकीय रामायण मे, विभीषण-शरणागति मे श्रीरामजी का यह वचन है कि, "मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्"

दोहा—'मित्र भाव से मो शरणि, आवै जो नर कोय।
त्यागूँ नहि कोनिहु दशा, दोषवन्त हू होय॥" ॥३६॥

और देख, लोमश सहिता मे, श्रीरामजी ने, उदाहरण देते हुए स्वय इस प्रकार कहा है कि, हे मुनिवर्य ! लोमशजी ! देखो, सभी वेदों मे, सख्य-रस से श्रेष्ठ और दूसरा कोई भी रस नहीं है; क्योंकि जिस सख्य-रस के द्वारा जीवसमूह, मेरे साथ एकता (मित्रता) को प्राप्त करके, मेरे साथ क्रीडा करता हुआ हर्षित होता है। लोमश सहिता का वचन यह है—

"सख्यात् परो नैव रस परात्परो, वेदेषु सर्वेषु च निश्चितं मुने।
येनैव चैक्यं मम प्राप्य जीव, सुमोदते ब्रह्मपदे मनोहरे॥"

अपने प्रियशिष्य हरिप्रेष्ठ के प्रति, सख्यभाव के सिद्धान्त को इस प्रकार सूक्ष्मरूप से बताकर, रमणीय वचनोवाले एव सख्यरस के अवतार-स्वरूप हमारे श्रीगुरुदेव, चुप हो। [ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँपर सख्यरस का सिद्धान्त, टीका मे भी सूक्ष्मरूप से दिग्दर्शन मात्र ही किया है। अतः सख्यरस के उपासक रसिक चकोरो को, यदि सख्यरस की विशेष जिज्ञासा है तो, मेरे ही द्वारा लिखित सटीक एवं अतिशय विशाल-ग्रन्थ 'श्रीसख्यसुधाकर' का अवलोकन करना चाहिये] ॥३७॥

श्रीगोपालमन्त्र को लेकर श्रीगुरुदेव की प्रार्थना

इस प्रकार सख्यरस का सिद्धान्त सुनकर, प्रसन्नमुखवाले हरिप्रेष्ठ ने,

धन्यो मेऽद्य स पूर्वपुण्यविटपी यच्छाययाऽहं सुखी
दिव्यं येन फलं प्रदत्तममरप्रार्थ्यं भवद्दर्शनम्।
पूर्णा मेऽद्य मनोरथाश्च सकला ये ये धृता मानसे
हे आचार्य ! तदर्थमेव बहुधा भ्रान्तं मया भूतले ॥३९॥

काठिन्येन तवाऽऽप्तिरद्य घटिता संसेविते शंकरे
वाञ्छा याऽऽशदेशिकस्य समभूत् तादृक् त्वमाप्तो मया।
सच्छास्त्राणि सनैगमानि हृदये कञ्जानि वाप्यामिव
नित्यं यस्य लसन्ति तस्य तव को मादृग् गुणान् कीर्तयेत् ॥४०॥

भूमौ स्वस्य विलोक्य लोपमधिकं विस्तारितुं स्वं पुनः
सख्याख्यो रस एव विग्रहमितः साक्षान्मतस्त्वं मम।
नो चेत्को निगमाऽऽगमोपनिषदां तत्त्वस्वरूपं रसं
सख्याख्यं प्रकटीकरोतु नितरां लुप्तिं गतं भूतले ॥४१॥

श्रीगुरुदेव की प्रार्थनारूप प्रत्युत्तर को ग्रहण करके श्रीगुरुदेव के प्रति कहा कि, हे श्रीगुरुवर्य ! आपकी कृपा दृष्टि से, अतिशय अधम जीव भी, अपार संसार सागर से, परिश्रम के बिना ही पार जा सकता है। अतः वही अहेतुकी कृपा दृष्टि, आपकी सेवा से हीन, मुझ दीनपर भी, सदैव बनी रहनी चाहिये। हे प्रभो ! जो लोग विधिपूर्वक निरन्तर आपकी सेवा करते हैं, वे, पार जायेंगे, उनके विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? ॥३८॥

हे श्रीगुरुदेव ! देखो, मेरा प्राचीनपुण्यरूपी जो वृक्ष है, वह आज, धन्य हो गया है, जिसकी छाया से मैं सुखी हूँ, क्योंकि, जिसने देवजन-दुर्लभ, आपका दर्शनरूप दिव्य फल, अनायास ही प्रदान किया है। और जो-जो मनोरथ मेरे मन में चिरकाल से धरे थे, आज वे सबके सब परिपूर्ण हो गये हैं, मैं, उन्हीं की पूर्ति के लिये भूतलपर बहुत प्रकार से घूमता रहा ॥३९॥

श्रीशंकरजी की सेवा करनेपर बड़ी कठिनता से आज आपकी प्राप्ति हुई है। मेरे मन में जैसे गुरुजी की इच्छा थी, वैसे ही आप, मुझको मिल गये। जिनके हृदय में वेदों के सहित समस्त सत् शास्त्र, सरोवर में कमलों की भाँति, सदैव खिले रहते हैं, ऐसे आपके गुणों को, मुझ जैसा पामर, यथार्थरूप से कौन कह सकता है ? ॥४०॥

"भूमिपर अपना अधिक लोप देखकर, पुनः उसी अपने स्वरूप का विस्तार करने के लिये, मानो 'सख्य'–नामक रस ही मूर्तिमान् होकर, आपके रूप में ही साक्षात् प्रगट हुआ है' यह मेरा अभिमत है, अर्थात् आप, साक्षात्

हेश्रीदेशिकवर्य ! वर्यचरित ! प्रज्ञाऽवधे ! ज्ञावधे !
मिथ्यादृष्टि - महीध्र - पक्ष-भिदुराऽशान्ताय शान्तिप्रद !
मादृक्पामरजीव - भीषणपशोर्मोक्षाय दीक्षागुरो !
मा दुष्टप्रवर समुद्धर विभो ! ससारवारां निधे ॥४२॥

मा रक्ष रक्ष करुणामय! दीनबन्धो! बन्धो मम प्रवरया कृपयाऽपनेय ।
नेय सता पथि जनोऽयमनाथनाथा॰,नाथाय देहि निजमत्र पदावलम्बम् ॥४३॥

गुरुवर ! विधुरे भवाऽटवीतो, मयि हृतमेधसि सा कृपा विधेया ।
निरवधि ययका पदाब्जयोस्ते, मम रतिरस्तु च रामकृष्णपादे ॥४४॥

सख्य-रसरूप ही हैं । अन्यथा वेद पुराण, उपनिषद् आदिको का तत्त्व-स्वरूप जो सख्य रस है, उसको कौन प्रगट करता ? जो कि भूतलपर बिल्कुल लुप्त सा होता जा रहा था ॥४१॥

हे श्रीगुरुवर्य ! आपका चरित्र बहुत ही सुन्दर है ! आप प्रज्ञा (बुद्धि) की तो अवधि हैं ! और ज्ञान तथा ज्ञानियो की भी अवधि है ! और नास्तिकतारूप पर्वत के पक्ष का छेदन करने के विषय मे तो आप, वज्र के ही समान हो ! और अशान्त पुरुषो को भी शान्तिप्रदान करनेवाले हो ! और मेरे जैसे पामर जीव ही भयकर पशुतुल्य है, उनकी मोक्ष के लिये भी आप बद्ध परिकर हैं ! अत हे विभो ! मुझ दुष्ट-प्रवर का भी, ससार सागर से उद्धार कर दीजिये ॥४२॥

हे करुणामय ! दीनबन्धो ! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो अपनी महती कृपा के द्वारा मेरा ससारी बन्धन दूर कर दीजिये । इस अपन जन को, सज्जनो के मार्ग मे डाल दीजिये, हे अनाथो के नाथ ! श्रीगुरुदेव ! इस अनाथ बालक के लिये, अपने श्रीचरणो का सहारा दे दीजिये (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥४३॥

हे गुरुवर ! इस ससाररूप वन मे, अनादिकाल से भ्रमण करने से महान् दु खित, अतएव मन्द बुद्धिवाले मुझ दीनपर, वह कृपा कर दीजिये कि, जिससे आपके दोनो चरण-कमलो मे, एव मेरे सनातन सखा श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणो मे, मेरी निरन्तर असीम एव अटल प्रीति बनी रहे (इस श्लोक मे 'पुष्पिताग्रा' छन्द है) ॥४४॥

इति बहुविधमाचार्यं समभ्यर्थ्य दीनः
प्रकटितरतिराचार्ये सदा कृष्णलानः।
विपुल - पुलकदेहस्त्यक्त - दाराढ्यगेहः
प्रणतिमकृत पादाब्जे गुरोर्यः स जीयात् ॥४५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
नायकस्यानेकविध-शकाममाधानादि-बहुविषय-
वर्णन नामाऽष्टम सर्ग सम्पूर्ण

अथ नवमः सर्गः

निजप्रतिज्ञा-पूरणाय पूर्ण प्रयत्न

ततः कतिपयाऽहःसु यातेषु गुरुदेवक।
प्रतिज्ञां पूर्व - विहितामुवाच स्मारयन्नमुम् ॥१॥

प्रतिज्ञां यां विधाय त्व पुत्र! गेहं हि त्यक्तवान्।
अधुना तां यथाशक्ति परिपूरय सत्वरम् ॥२॥

इस प्रकार दीन होकर श्रीगुरुदेव की अनेक प्रकार से प्रार्थना करके, जिसकी प्रीति, अपने श्रीगुरुदेव में प्रकटित हो गयी थी, एव जो श्रीकृष्ण में सदैव तल्लीन रहता था, एव उस समय जिसका शरीर भारी रोमाञ्चित हो रहा था, तथा स्त्री से युक्त अपने घर को जिसने सहर्ष त्याग दिया था; और प्रार्थना करने के बाद जिसने श्रीगुरुदेव के चरण-कमलो मे साष्टाङ्ग-प्रणाम किया था, उसी श्रीहरिप्रेष्ठ की जय हो (इस श्लोक में 'मालिनी' छन्द है) ॥४५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये अनेकविध-शकासमाधानाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम
अष्टम सर्ग सम्पूर्ण ॥८॥

नवाँ सर्ग

अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न

उसके बाद कुछ दिन बीत जानेपर, हरिप्रेष्ठ के द्वारा पहले की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए श्रीगुरुदेव ने उसके प्रति कहा कि, हे पुत्र! देख, तूने, सस्कृत के अध्ययन करने की जिस प्रतिज्ञा को करके, अपना घर छोडा था, अब तू अपनी उसी प्रतिज्ञा को, यथाशक्ति शीघ्र ही पूर्ण करले। (इस सर्ग मे,७३वें श्लोक तक 'अनुष्टुप्'-नामक छन्द है) ॥१-२॥

श्रुत्वा गुरोर्वच. स्मृत्वा प्रतिज्ञां स्वकृतां पुरा।
प्रारब्धा पठितुं तेन सादरं लघुकौमुदी ॥३॥

अधुना तस्य हृदये महती ह्यनुरागता।
श्रीकृष्ण - चरणाम्भोजे ववृधे नित्य - नूतना ॥४॥

शीघ्रं गेह - परित्यागः कृत श्रीकृष्ण - प्राप्तये।
पठन - स्वीकृतिस्तेन कृता गौणेन हेतुना ॥५॥

अत एकाकिना तेन रुद्यते विजने वने।
प्रत्यहं कृष्णगतये विरह - व्यथितात्मना ॥६॥

वचन - प्रतिबद्धोऽसौ गुरोराज्ञा - गरीयसी।
इति हेतोरधीते स्म विमना लघु - कौमुदीम् ॥७॥

श्रीकृष्ण - विरह - व्याधि - पीडिताय जनाय हि।
वदन्तु किमु रोचेत शुष्कं व्याकरणं बुधाः! ॥८॥

परन्तु गुरुवर्यस्य निदेशः पाठयत्यमुम्।
कण्ठस्थी क्रियते शीघ्रं विमनस्केन कौमुदी ॥९॥

श्रीगुरुदेव के वचन सुनकर, एवं पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञा को याद करके, हरिप्रेष्ठने, आदरपूर्वक 'लघुकौमुदी' पढनी आरम्भ करदी ॥३॥

किन्तु इस समय उसके हृदय मे, श्रीकृष्ण के चरणारविन्द मे महान् अनुराग का भाव नित्य नवीनरूप से बढता जा रहा था। क्योंकि इसने अपने घर का, शीघ्रतापूर्वक जो परित्याग किया था, वह केवल श्रीकृष्ण की प्राप्ति के कारण ही किया था, संस्कृत पढने की स्वीकृति तो उसने गौण-कारण से ही की थी ॥४-५॥

अतएव वह, श्रीकृष्ण के विरह से व्यथित मनवाला होकर, श्रीकृष्ण, की प्राप्ति के उद्देश्य से, प्रतिदिन अकेला ही वन मे रोता रहता था। "श्रीगुरुदेव की आज्ञा सवश्रेष्ठ मानी जाती है" इसलिये श्रीगुरुदेव के आज्ञा-रूप वचन मे निबद्ध होकर ही वह, मन मे उदास होकर भी 'लघुकौमुदी' का अध्ययन करता रहता था ॥६-७॥

वस्तुतस्तु हे विज्ञजनो! मैं, आपसे पूछता हूँ, बताइये? श्रीकृष्ण के विरहरूप-व्याधि से पीडित व्यक्ति के लिये, सूखा-व्याकरण रुचिकर हो हो सकता है क्या? अपि तु कदापि नही। किन्तु ऐसी स्थिति मे भी, उस को, श्रीगुरुदेव का आदेश ही, जबरदस्ती पढा रहा था। अत. वह, मन न लगनेपर भी, लघुकौमुदी को कण्ठस्थ करता रहता था ॥८-९॥

कण्ठं हि कुर्वतोऽप्यस्य सूत्रजालं महात्मनः।
पुस्तकं चाऽऽर्द्रतां याति गद्गदस्याऽश्रुधारया ॥१०॥
रटन् सूत्राणि नितरां रटति स्म हठाददः।
आयाहि सविधं कृष्ण ! विरह - व्यथितात्मनः ॥११॥
दत्वा च दर्शनं मह्यं कृतार्थय जनुर्मम।
शान्तिर्न हृदये मित्र ! तव सदर्शनादृते ॥१२॥
दृष्ट्वा तु रोदनं केचिदस्य दम्भं हि मन्वते।
तेऽन्य पीडां न जानन्ति नाऽङ्घ्रौ येषां विपादिका ॥१३॥
एतस्य रोदनं तस्मादेकान्ते जायते भृशम्।
परन्तु विरह - व्याधिः पौरुषेयेऽपि कारयेत् ॥१४॥

मध्ये मध्ये श्रीगुरोरुपदेश

हा कृष्ण ! हा व्रजानन्दिन्निति यर्हि रुरोद सः।
गुरुदेवस्तदाऽऽश्लिष्य शान्तिभाजं चकार तम् ॥१५॥

परन्तु सूत्रों के कण्ठ करते समय भी इस महात्मा की ऐसी विचित्र दशा थी कि, श्रीकृष्ण के विरह में गद्गद हो जाने के कारण, आँसुओं की धारा के द्वारा, पुस्तक भी गीली हो जाती थी। सूत्रों को रटता हुआ भी यह हरिप्रेष्ठ, हठपूर्वक विशेष करके यही रटता रहता था कि, हे भैया ! श्रीकृष्ण ! मेरा मन, तुम्हारे विरह मे पीडित हो रहा है, अतः आप मेरे निकट चले आइये ! मुझे दर्शन देकर, मेरे जन्म को कृतार्थ कर दीजिये। क्योंकि, हे मित्र ! तुम्हारे दर्शन के बिना मेरे हृदय मे तनिक भी शान्ति नहीं है ॥१०-१२॥

किन्तु भक्ति की सरसता से रहित सूने हृदयवाले कुछ व्यक्ति तो, इसके रोने को देखकर, केवल दम्भ ही समझते थे। क्योंकि, जिनके चरण में बेवाई नही हुई है, वे व्यक्ति, दूसरों की पीडा को नही जानते। अतएव यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है—"कहा जानैं पीर पराई, जाके फटी न पैर बिवाई" अतएव, इसका रोना, प्राय एकान्तमे ही होता था। किन्तु विरह-रूप व्याधि, ऐसी विचित्र थी कि वह, कभी-कभी पुरुषों के समूह मे भी, इसका रुदन करा ही देती थी ॥१३-१४॥

बीच बीच मे श्रीगुरुदेव का उपदेश

जब वह, "हा कृष्ण ! हाय व्रज को आनन्द देनेवाले भैया ! मुझे दर्शन देकर सुखी कर दीजिये" इस प्रकार कह कहकर रोता था तब, श्रीगुरुदेव उसको अपनी छाती से लगाकर, शान्ति से युक्त करते थे ॥१५॥

पठने च रुचिं तस्य चकार विविधोक्तिभि·।
विना व्याकरणं पुत्र ! शास्त्र - तत्त्वं न लभ्यते ॥१६॥
शास्त्र - ज्ञानं विना भक्तिरुत्पातायैव केवलम् ।
शास्त्रेण ज्ञायते तत्त्वं भक्तेर्ज्ञान - विरागयो· ॥१७॥
जनस्तु भक्तितत्त्वज्ञः कृष्ण - प्रीतिं न मुञ्चति ।
अज्ञात - भक्ति - विभवस्त्यक्तुमर्हति कर्हिचित् ॥१८॥
भक्तिर्यदा समायायाद् हृदयेऽव्यभिचारिणी ।
पुरुषस्य तदा क्वापि कृष्णः पृष्ठं न मुञ्चति ॥१९॥
भक्ते रहस्यबोधाय विमनस्कोऽपि भो ! पठ ।
बोधान्ते ज्ञास्यते नूनं पठनस्य त्वया फलम् ॥२०॥
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं पतित्वा चरणाब्जयो·।
रुदित्वा सुचिरं पश्चात् प्रार्थयामास साञ्जलि· ॥२१॥
गुरुदेव ! कृपां कृत्वा मयि दीने दुरात्मनि ।
प्राणप्रियस्य कृष्णस्य सकृत् कारय दर्शनम् ॥२२॥

और अनेक प्रकार की उक्तियों के द्वारा समझाकर, संस्कृत पढने के विषय मे उसकी रुचि इस प्रकार उत्पन्न करते थे कि, देख बेटा ! व्याकरण-शास्त्र के पढे विना, शास्त्रों का वास्तविक रहस्य उपलब्ध नही हो पाता। और शास्त्रों के ज्ञान के विना जो भक्ति की जाती है वह, केवल उत्पात के लिये ही हो जाती है। क्योंकि, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति का तत्त्व, श्रीमद्भागवत आदि शास्त्र के द्वारा ही जाना जाता है। तथा चोक्तं पंचरात्रे—"श्रुति-स्मृति-पुराणानि पञ्चरात्र-विधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्ति-रुत्पातायैव केवलम्" ॥१६-१७॥

और देख बेटा ! भक्ति के तत्त्व (रहस्य) को जाननेवाला व्यक्ति तो, श्रीकृष्णकी प्रीतिको कभी भी नही छोड़ता। अत. भक्ति के वास्तविक तत्त्व को न जाननेवाला तो, श्रीकृष्ण की प्रीति को कभी छोड भी सकता है। और देख, मनुष्य के हृदय में जब अव्यभिचारिणी (अटल) भक्ति आ जाती है तब, श्रीकृष्ण, उसका पीछा नही छोड़ते है। इसलिये हे पुत्र ! भक्ति के वास्तविक तत्त्व को समझने के लिये तू, मन न लगनेपर भी पढ़ता रह। बोध हो जाने के बाद तुझको, पढने का फल निश्चितरूप से ज्ञात हो जायगा ॥१८-२०॥

श्रीगुरुदेव के इसप्रकार के वचन सुनकर, उनके चरणकमलों में गिरकर, बहुत देर तक रोकर, पश्चात् हाथ जोडकर उसने प्रार्थना की कि,

लावण्य - जलधिः श्रीमानलकावलि - मण्डितः ।
श्यामसुन्दरनामा स कीदृशो नन्दनन्दनः ।।२३।।

सान्त्वयन् पुनरप्याह गुरुदेव. सतां मत. ।
पुत्र ! सूत्राणि चैतेन भावेन रट सर्वदा ।।२४।।

इमानि खलु सूत्राणि श्रीकृष्णं श्रावयाम्यहम् ।
प्रसन्न· श्रवणेनैव कदाचिद् दृष्टिमेष्यति ।।२५।।

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं जातश्रद्धो वचःसु च ।
पपाठ विधिना तेन येनाऽऽचार्यस्तमादिशत् ।।२६।।

विश्वासो गुरुवाक्येषु यस्य पुंसो हि वर्तते ।
तस्य सिद्धयन्ति सर्वाणि वाञ्छितानीतरस्य नो ।।२७।।

एतस्य गुरुवाक्येषु विश्वासोऽभून्निसर्गतः ।
विश्वासस्य बलादेव सांसारिक - सुख जहौ ।।२८।।

हे श्रीगुरुदेव ! मझ दीन एवं दुरात्मा के ऊपर कृपा करके, मेरे प्राण-प्यारे श्रीकृष्ण के दर्शन, एक बार भी तो करा दीजिये । क्योंकि, सौन्दर्य का सागर, परमशोभा से युक्त, घुँघराली अलकावलियों से सुशोभित, श्यामसुन्दर नामवाला वह नन्दनन्दन, कैसा है, नेक जी भर के निहार तो लूँ ।।२१-२३।।

सज्जनों मे सम्मत हमारे श्रीगुरुदेव, उसको सान्त्वना देते हुए पुनः बोले कि, हे पुत्र! पाणिनीय-व्याकरण के सूत्रों को तू इस भाव से सदा रटता रह कि, इन सूत्रों को मैं, मानो श्रीकृष्ण को ही सुना रहा हूँ । वह श्रवण-मात्र से ही प्रसन्न होकर, कभी दृष्टिगोचर हो जायगा ।।२४-२५।।

इस प्रकार श्रीगुरुदेव के वचन सुनकर जिसको श्रीगुरुदेव के वचनों मे श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव ने जिस विधि से उसको आदेश दिया था, उसी प्रकार पढने लग गया । और हे पाठको ! देखो, जिस पुरुष का, श्रीगुरुजी के वाक्यों मे विश्वास हो गया है, उसकी सभी कामनायें अनायास मिद्ध हो जाती हैं, दूसरे की नही । [illegible] कहा है—

लावण्य - जलधिः श्रीमानलकावलि - मण्डितः ।
श्यामसुन्दरनामा स कीदृशो नन्दनन्दनः ॥२३॥
सान्त्वयन् पुनरप्याह गुरुदेव सतां मत ।
पुत्र ! सूत्राणि चैतेन भावेन रट सर्वदा ॥२४॥
इमानि खलु सूत्राणि श्रीकृष्णं श्रावयाम्यहम् ।
प्रसन्न श्रवणेनैव कदाचिद् दृष्टिमेष्यति ॥२५॥
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं जातश्रद्धो वच सु च ।
पपाठ विधिना तेन येनाऽऽचार्यस्तमादिशत् ॥२६॥
विश्वासो गुरुवाक्येषु यस्य पुंसो हि वर्तते ।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वाणि वाञ्छितानीतरस्य नो ॥२७॥
एतस्य गुरुवाक्येषु विश्वासोऽभून्निसर्गतः ।
विश्वासस्य बलादेव सांसारिक - सुख जहौ ॥२८॥

हे श्रीगुरुदेव ! मुझ दीन एव दुरात्मा के ऊपर कृपा करके, मेरे प्राण-प्यारे श्रीकृष्ण के दर्शन, एक बार भी तो करा दीजिये। क्योंकि, सौन्दर्य का सागर, परमशोभा से युक्त, घुँघराली अलकावलियों से सुशोभित, श्याम-सुन्दर नामवाला वह नन्दनन्दन, कैसा है, नेक जी भर के निहार तो लूँ ॥२१-२३॥

सज्जनो मे सम्मत हमारे श्रीगुरुदेव, उसको सान्त्वना देते हुए पुनः बोले कि, हे पुत्र! पाणिनीय-व्याकरण के सूत्रों को तू इस भाव से सदा रटता रह कि, इन सूत्रों को मैं, मानो श्रीकृष्ण को ही सुना रहा हूँ। वह श्रवण-मात्र से ही प्रसन्न होकर, कभी दृष्टिगोचर हो जायगा ॥२४-२५॥

इस प्रकार श्रीगुरुदेव के वचन सुनकर जिसको श्रीगुरुदेव के वचनों मे श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव ने जिस विधि से उसको आदेश दिया था, उसी प्रकार पढने लग गया। और हे पाठको ! देखो, जिस पुरुष का, श्रीगुरुजी के वाक्यों मे विश्वास हो गया है, उसकी सभी कामनायें अनायास सिद्ध हो जाती हैं, दूसरे की नही। अत रामायण मे ठीक ही कहा है—

"गुरु के वचन प्रतीति न जे ही, सुपनेहु सुगम न सुख सिधि ते ही।
जे गुरु चरण रेणु शिर धरहीं, ते नर सकल विभव वस करहीं"

इस हरिप्रेष्ठ का तो, श्रीगुरुदेवके वचनोमे, स्वभावसे ही विश्वास था। क्योंकि, इसने विश्वास के बल से ही तो सांसारिक सुख छोडा था ॥२६-२८॥

श्रीकृष्ण-विरहे तस्याऽपूर्वाऽवस्था

तस्मादेव हरिस्त्वेनं शयान विरहाऽऽकुलम् ।
आगत्य सविधं रात्रौ पर्यष्वजत निर्भरम् ॥२९॥
परन्तु दर्शनेनाऽस्य हरेर्द्विगुणतां ययौ ।
विरहाज्जनितो वह्निः सङ्गादिव नभस्वतः ॥३०॥
रुद्यते दह्यते तेन खिद्यते च विलप्यते ।
श्रीकृष्ण - विरहाऽऽर्तेन भुज्यते न च सुप्यते ॥३१॥
आग्रहेण कदाचिद् वा गुरोरल्पं हि भुज्यते ।
दर्शनायैव लोकस्य हृदयेन न कर्हिचित् ॥३२॥
श्रीकृष्ण - विरहावस्था - नुभवस्तस्य जायते ।
श्रीकृष्ण - विरहावस्था - नुभवं कृतवान् हि यः ॥३३॥
वस्तुतस्त्वेष रोगो हि प्रविवेश यदन्तरे ।
त करोति जराजीर्ण - कलेवरमिवाऽऽशु वै ॥३४॥
शान्तिमभ्येति कृपया कृपाजलनिधेर्जन ।
एतद्रोगाऽभिभूतो यो भवरोगात् स मुक्तिमान् ॥३५॥

श्रीकृष्ण के विरह मे उसकी अपूर्व अवस्था

इसीलिये श्रीकृष्ण ने, अपने विरह मे व्याकुल होकर रात मे सोये हुए हरिप्रेष्ठ के निकट आकर, उसको विशेष आलिङ्गन प्रदान किया। परन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन से तो, इसके हृदय मे, विरह से उत्पन्न होनेवाली विरहाग्नि, वायु के सङ्ग से बढी हुई अग्नि की तरह, दुगुनी हो गई ॥२९-३०॥

श्रीकृष्ण के विरह से पीडित हुआ वह, प्राय रोता ही रहता था, हृदय मे जलता ही रहता था, सदा दीन बना रहता था, विलाप करता रहता था, भोजन एव शयन भी नही करता था। हाँ यदि कभी वह थोडा सा खाता भी था तो, श्रीगुरुदेव के आग्रह से, दूसरे लोगो को दिखाने मात्रके लिये ही खाता था, मन से कभी भी नहीं खाता था ॥३१-३२॥

और देखो पाठको ! श्रीकृष्ण के विरह की अवस्था का अनुभव, उसी व्यक्ति विशेष को होता है कि, जो कभी, श्रीकृष्ण की विरहावस्था का अनुभव कर चुका है। वास्तविक बात तो यह है कि, भगवत्सम्बन्धी-विरह रूप यह रोग जिसके अन्त करण मे प्रविष्ट हो गया है, उसको तो यह रोग, शीघ्र ही वृद्धावस्था मे जीर्ण-शीर्ण शरीरवाले की तरह बना देता है।

कदाचिदथ संध्यायामग्रे श्रीरामकृष्णयोः ।
कास्यतालादि - ललिते प्रारब्धे हरिकीर्तने ॥३६॥
नामकीर्तनतोऽप्यस्य बभूव विरह - व्यथा ।
उभौ करौ समुत्क्षिप्य रुरोद बहु विह्वलः ॥३७॥

श्रीकृष्ण-दर्शनान्ते वहव सकल्पा

हा कृष्ण ! हृदयानन्दिन्नानन्दय द्रुत हि माम् ।
दर्शय श्रीमुखाम्भोजं सन्मानस - सरोरुहम् ॥३८॥
गुरो. कृपाकटाक्षेण विलपन् स ददर्श ह ।
गच्छन्तमग्रत कृष्ण हसन्तं नयनाञ्जनम् ॥३९॥
शान्तिस्त्वधिगता तेन दर्शनेन हरेरलम् ।
अन्तर्धानं गते कृष्णे संकल्पा बहवोऽभवन् ॥४०॥
दर्शन तु वर दत्तं नयनानन्ददायकम् ।
कृष्ण ! वाङ्माधुरीं दत्त्वा विवादं श्रवसोर्जहि ॥४१॥
कदा वा क्रीडन भ्रातस्त्वया सार्धं भविष्यति ।
कदा वा यमुनाकूले विहरिष्याम्यहर्निशम् ॥४२॥

वियोगी जन, दयासागर की कृपा से, अलौकिक-शान्ति को भी प्राप्त कर लेता है। क्योकि, जो व्यक्ति इस रोग से पीडित रहता है, वह, सासारिक रोग से विमुक्त हो जाता है ॥३३-३५॥

किसी दिन सध्या के समय, श्रीकृष्ण-बलदेव के आगे, झांझ, ढोलक आदि की ताल एवं लय पूर्वक सुमधुर श्रीहरिनाम का सकीर्तन प्रारम्भ हो गया था, उस समय 'हरे कृष्ण' इत्यादि महामन्त्र के सकीर्तन से भी, इसको विरह की व्यथा उत्पन्न हो गई, अतएव विशेष विह्वल होकर, दोनो हाथ उठाकर रोने लग गया ॥३६-३७॥

श्रीकृष्ण-दर्शन के बाद बहुत से सकल्प

और विलाप करता हुआ बोला कि, हे भक्तजन-हृदयानन्दिन् ! भैया श्रीकृष्ण ! मुझ दीन को शीघ्र ही आनन्दित कर दीजिये, एव अपने उस श्रीमुख रूप कमल को दिखा दीजिये कि जो, सन्तो के मनरूपी सरोवर में सदैव खिला रहता है ॥३८॥

श्रीगुरुदेव के कृपाकटाक्ष के प्रभाव से उसने, विलाप करते-करते, भक्तो के नेत्रोंके अञ्जनस्वरूप श्रीकृष्ण को, हँसते हुए एव आगे-आगे जाते हुए देखा। उस समय श्रीकृष्ण के दर्शन से शान्ति तो विशेष मिली, किन्तु, श्रीकृष्ण के आँखो से ओझल होते ही, उसके मन मे बहुत से सकल्प उत्पन्न

वैराग्यमध्ये वलीयान् विघ्न

कथ वा कृष्ण - सान्निध्य वराको लभता जनः ।
मायादेवी नरीनर्ति नर्तयत्यखिलं जगत् ॥४३॥
नृत्यासक्तो न यस्तस्या आप्नुयात् स हरिं ध्रुवम् ।
परन्तु निर्गतिस्तस्या ह्यञ्चलादतिदुष्करा ॥४४॥
स्वनृत्य - वशग कर्तुं यतते ह्येनमप्यसौ ।
य आसक्तो हरेर्नृत्ये त कथ वशमानयेत् ॥४५॥
एतस्य वान्धवा नून मायया प्रेरिता इव ।
आजग्मुरेनमानेतु राजकीय - जनै सह ॥४६॥
साधारण - जनोऽप्यत्र पणस्यापि घटादिकम् ।
परीक्ष्य ननु क्रीणाति बहुमूल्य तु किं पुन ॥४७॥

होने लग गये । वह मन-मन मे बोला कि, हे भैया ! कन्हैया ! आपने, मेरे नेत्रो को आनन्द देनेवाला दर्शन तो अच्छा दिया, किन्तु अपनी वाणी की माधुरी को देकर, मेरे कानो का विवाद समाप्त कर दीजिये । हे भैयाजी ! आपके साथ मेरी क्रीडा न जाने कब होगी ? और यमुनाजी के कमनीय-कूलपर मैं, तुम्हारे साथ रात-दिन कब विहार किया करूँगा ? ॥३६-४२॥

वैराग्य के बीच मे प्रबल विघ्न

हे प्रिय पाठको ! देखो, इस ससार मे पडा हुआ विचारा दयनीय यह जन-मात्र, श्रीकृष्ण को निकटता को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?। क्योकि, प्रभु की मायादेवी, भारी नृत्य कर रही है और अपने प्रभाव से सारे जगत् को नचा रही है । अत जो व्यक्ति, उसके नृत्य मे आसक्त नही होता वह, श्रीकृष्ण को निश्चय ही प्राप्त कर लेता है । परन्तु उस मायादेवी के अञ्चल से निकलना भारी कठिन है । अतएव वह मायादेवी, इस हरिप्रेष्ठ को भी अपने वशीभूत करने के लिये प्रयत्न कर रही थी । किन्तु जो व्यक्ति, श्रीहरि के नृत्य मे आसक्त हो गया है, उसको वह मायादेवी, अपने वश मे किस प्रकार ला सकती है ? ॥४३-४५॥

अतएव इसके बान्धव, मानो उस मायादेवी के द्वारा प्रेरित से होकर, राजकीय पुरुषो के साथ, इसको लिवाने के लिये वहाँपर आ गये । क्योकि, इस ससार मे, सर्व-साधारण जनमात्र ही जब, एक पैसे के घडे आदि को भी, परीक्षा करके ही खरीदता है, फिर बहुत से मूल्यवानी वस्तु को, परीक्षा

अपरीक्ष्य कथं कृष्णः स्वीकुर्यादिह देहिनम् ।
परीक्षितस्य जीवस्य वशमेति यतः स्वयम् ॥४८॥

परीक्षयैव दोषाणां गुणानामपि देहिनाम् ।
परीक्षयेव स्वमस्य याथार्थ्यमपि लक्ष्यते ॥४९॥

आगत्याऽथ गुरुं प्रोचुर्जनास्ते तमसाऽऽवृताः ।
केन बालोऽयमस्माकं वञ्चित स्ववशीकृतः ॥५०॥

प्रोवाच गुरुवर्योऽपि तत शृणुत हे नरा ! ।
वञ्चितो न मया ह्येष स्वयमेव समागत. ॥५१॥

यदि गच्छति युष्माभिः सार्धं नयत सादरम् ।
निषिध्यते न चास्माभिर्द्वन्द्वातीतैर्विमत्सरैः ॥५२॥

रुदता हरिप्रेष्ठेन तदनु प्रार्थना कृता ।
नीतेन वा मया युष्मत्कार्यं सेत्स्यति नो मनाक् ॥५३॥

भो वान्धवा ! न मे चेतः स्वगृहं स्वीचिकीर्षति ।
को वा स्थगयितुं शक्तो विमनस्कं जनं गृहे ॥५४॥

लेकर खरीदता है, इस विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? । इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी, जीव की परीक्षा लिये विना, उसको अगीकार नही करते । कारण यह है कि, श्रीकृष्ण, परीक्षा लिये हुए जीव के स्वय वशीभूत हो जाते हैं । अत परीक्षा लेना भी ठीक ही है । क्योकि, परीक्षा के द्वारा ही प्राणियो के दोष एव गुणो की यथार्थता, सुवर्ण की अग्नि-परीक्षा के समान, दीख जाती है ॥४६-४९॥

अतएव तमोगुण से घिरे हुए, उसके वान्धव जन, आते ही हमारे गुरुजी से बोले कि, हमारे इस वालक को किसने ठगा है एव वहकाकर अपने वश मे कर लिया है ? । उसके वाद हमारे श्रीगुरुदेव भी बोले कि, हे भाइयो ! सुनो ? इसको मैंने नही वहकाया है, यह तो मेरे पास स्वय ही चला आया है । यदि यह तुम्हारे साथ जाता है तो इसको आदरपूर्वक लिवा ले जाओ। हम तो इसको जाने से नही रोकते हैं । क्योकि, हम तो राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो से रहित हैं, मात्सर्य से भी रहित है, ॥५०-५२॥

उस समय रोते हुए हरिप्रेष्ठ ने, अपने वान्धवो से प्रार्थना करी कि, हे वन्धुओ ! मेरे ले जाने से भी तुम्हारा नेक भी कार्य सिद्ध नही होगा। क्योकि, अब मेरा चित्त, अपने घर को स्वीकार नही करना चाहता है। अत. इस ससार मे, उदासीन मनवाले व्यक्ति को, घर मे कौन रोक सकता

अधुना कृष्णचन्द्रस्य जातोऽहं ननु बान्धवाः ! ।
स एव मे पिता माता भ्राता धाता च रक्षिता ॥५५॥
नाऽहमेकं पदं गन्तुमपि शक्नोमि भो जनाः ! ।
अतः कथं गृहं नेतुं कदर्थयत मां वृथा ॥५६॥
एवमुक्त्वा स विलपन् मूर्च्छितः पृथिवीमगात् ।
तं तथा पतितं दृष्ट्वा ते नेतुं दधिरे मनः ॥५७॥
ततस्ते मोहमदिरा - मत्ताश्चलित - दृष्टयः ।
स्कन्धे निधाय तं निन्युर्निर्दया इव मन्दिरम् ॥५८॥
अथ तं चाऽऽगतं श्रुत्वा ग्रामीणाः पर्यवारयन् ।
प्रशंसन्ति स्म तं केचिन्निन्दन्ति बहुधाऽपरे ॥५९॥
भाग्यमेतस्य गलितं यदयं यौवने जहौ ।
स्त्री - धनादि - सुखं चान्ये यदर्थं क्लेश-भागिनः ॥६०॥
केचिदेवं वदन्ति स्म त्याज्यो नैवाऽयमेकलः ।
सर्वदा स्थापनीयश्च गेहे द्वौवारिकैर्युते ॥६१॥

है ? । हे बान्धवो ! अब तो मैं, श्रीकृष्णचन्द्र का बन गया हूँ । अब तो मेरा वही पिता, माता, भ्राता, धारण-पोषण कर्ता एव रक्षक है । अत. हे भाइयो ! मैं यहाँ से एक पैर भी नही चल सकता हूँ । इसलिये तुम सब, मुझको घर में ले जाने को वृथा ही क्यों पीड़ित कर रहे हो ? ॥५३-५६॥

इस प्रकार कहकर बिलाप करता हुआ वह हरिप्रेष्ठ मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पडा । उसको उस प्रकार बेहोशी मे पड़ा हुआ देखकर, उन्होने उसको ले जाने के लिये मन कर लिया । उसके बाद तो वे सब, मोहमयी-मदिरा से मत्त होकर, चञ्चल दृष्टिवाले होकर, उसको अपने-अपने कन्धेपर धरकर निर्दयीजनों की तरह् घर में लिवा लाये ॥५७-५८॥

उसको अपने गाँव मे आया हुआ सुनकर, गाँव के लोगों ने उसको चारों ओर से घेर लिया । कुछ लोग तो उसकी प्रशसा करते थे एवं कुछ दूसरे लोग बहुत प्रकार से निन्दा भी करते थे । एव कुछ जन इस प्रकार कह रहे थे कि, इसका तो भाग्य ही फूट गया है, क्योंकि, इसने युवावस्था में ही, स्त्री एव धन आदि के उस सुख को छोड़ दिया है कि, जिसके लिये दूसरे लोग महान् क्लेश भोगते रहते है ॥५९-६०॥

तथा कुछ लोग इस प्रकार भी कह रहे थे कि, इसको अकेला कभी भी नही छोड़ना चाहिये ? इसलिये इसको सर्वदा पहरेदारों से युक्त घर मे

शयनं चाऽमुना सार्धं रात्रौ पत्नी करोतु भोः!।
गृहवासिजनैरस्य तथैवाऽऽचरितं द्रुतम् ॥६२॥
अथ तं वशमानेतुमुपायानकरोद् वहून्।
वधूरस्य तथाप्येष वशं तस्या न जग्मिवान् ॥६३॥
प्रत्युवाच ततस्तां स त्वमेवैका न भो! मम।
सर्वा हि मातरो जाताः सन्यासग्रहणावधेः ॥६४॥
ततः श्रीकृष्णचन्द्रस्य रसभावविदं जनम्।
असमर्था वशं नेतुं सा निद्रा-वशगाऽभवत् ॥६५॥
ग्रामीणा ग्राम्यगीतेषु संसक्तमनसोऽभवन्।
कुक्कुरा अपि तैरेव सार्धं तत्र समाविशन् ॥६६॥
पौषमास-त्रियामायां मेघैश्छन्ने विहायसि।
अर्धरात्रेऽन्धकाराढ्ये सुप्तेऽपि द्वारपालके ॥६७॥
सुप्तां जायां परित्यज्य कपाटयुगलं शनैः।
उद्घाट्य निरुपानत्कः स्वल्पवासा हरिप्रियः ॥६८॥

ही रख देना चाहिये। और देख भैयाओ! इसकी स्त्री, रात मे इसके साथ ही शयन करे तो अच्छा हो। इस बात को सुनकर, इसके घरवालो ने शीघ्रता से वैसी ही व्यवस्था कर दी ॥६१-६२॥

उसके बाद, रात्रिमे उसकी बहू ने, उसको अपने वश मे लाने के लिये बहुत से उपाय किये तो भी यह, उसके वश मे नही आया। उसके बाद उस (हरिप्रेष्ठ) ने, अपनी बहू के प्रति उत्तर दिया कि, अरी! देख, मैंने जब से अर्थात् जिस दिन से वैष्णव-सन्यास ग्रहण कर लिया है, उस दिन से, अकेली तूं ही नही अपितु ससार भर की सभी स्त्रियाँ, मेरे लिये माता के समान हो गयी हैं। अत अब तू मुझसे विरुद्ध चेष्टा मत कर। इतना कहने के बाद, श्रीकृष्णचन्द्र के रस एव भक्तिभाव के जानकार उस हरिप्रेष्ठ को, अपने वश मे लाने को असमर्थ होकर वह नारी, निद्रा के वशीभूत हो गयी। उस समय ग्रामीण लोग, ग्रामीण–स्वाग तमाशे के गीतो मे आसक्त मनवाले हो गये; और गाँव भर के कुत्ते भी उन्ही के साथ वहांपर बैठ गये ॥६३-६६॥

पूस मास को उस रात्रि मे आकाश जब बादलों से ढक गया था, आधीरात का समय जब भारी अन्धकार से युक्त हो गया था, एव द्वारपाल भी जब सो गया था तब वह हरिप्रेष्ठ, सोती हुई अपनी स्त्री को छोड़कर, दोनों किवाड़ो को धीरे से खोलकर, जूताओं को भी न पहनकर, थोड़े से

निःशब्दपादविन्यासं निरगाच्छनकैर्गृहात् ।
ग्रामसीमामतिक्रम्य शीघ्रगामी बभूव ह ॥६६॥
अङ्गराजस्तु वेनस्य दुःखेनाऽऽत्मगृहं जहौ ।
अयं तु सुख-संपन्नोऽप्यजहादिति सत्स्तुतिः ॥७०॥

विघ्नमतिक्रम्य गुरोर्निकट आगमनम्

घोरां घोरसमाचारां घोर-सत्व-निषेविताम् ।
अरण्यानीमतिक्रम्य वृन्दावनमुपेयिवान् ॥७१॥
प्रभातायां च शर्वर्यां पादमूलं गुरोर्गतः ।
पुलकाऽश्रु-समाक्रान्तः प्रणनाम स दण्डवत् ॥७२॥
तं तथा पतितं दृष्ट्वा गुरुदेवः कृपाऽऽकुलः ।
समुत्थाप्य समालिङ्ग्य सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥७३॥
धन्यस्त्वं यदतारि कृष्ण-विहिता घोरा परीक्षा त्वया
तेन त्वं भवितासि कृष्ण-करुणापात्रं द्रुतं पुत्रक ! ।

ही वस्त्रो को पहनकर, शब्द से रहित चरण रखकर, धीरे से चुपचाप घर से निकल गया । और अपने गाँव की सीमा को लाँघते ही शीघ्रगामी हो गया ॥६७-६६॥

देखो, वेन के पिता अङ्ग-राजा ने तो, वेन के कुकृत्यो से दुःखित होकर ही आधीरात मे, अपने घर को छोडा था, किन्तु इस हरिप्रेष्ठ ने तो, सुखो से सम्पन्न होकर भी, सहर्ष घर को छोड दिया, अतएव यह प्रशसनीय है ॥७०॥

विघ्न को लाँघकर श्रीगुरुदेव के निकट आगमन

वह हरिप्रेष्ठ, भयकर समाचारवाली, एवं वन के भयकर प्राणियो से युक्त उस भयकर वनी को लाँघकर श्रीवृन्दावन मे ही चला आया । एव रात्रि का प्रातःकाल होते ही, श्रीगुरुदेव के श्रीचरणो के निकट आकर, पुलकावली एव आँसुओंसे युक्त होकर उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया । हरिप्रेष्ठ को अपने चरणो मे, उस प्रकार से पडा हुआ देखकर, कृपा से आकुल हुए श्रीगुरुदेव ने, उसको उठाकर भली प्रकार आलिङ्गन करके, उसको सान्त्वना देते हुए यह कहा कि—॥७१-७३॥

हे प्रिय पुत्र ! तू धन्य है, क्योकि, श्रीकृष्ण द्वारा की गई घोर परीक्षा तूँने पार करली है । इसलिये तू अब शीघ्र ही श्रीकृष्ण का कृपापात्र हो

किन्त्वल्प समय विहाय ननु मामन्यत्र कृष्णं भज
गुप्त सन्निवस त्वमात्म - पुरुषैर्ज्ञातो यथा नो भवेः ॥७४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
निजप्रतिज्ञा-पूरणाय पूर्णप्रयत्नाद्यनेक-विषय-वर्णन
नाम नवम सर्ग सम्पूर्ण ॥९॥

अथ दशमः सर्गः

श्रीगुरोराज्ञया पुन पठन-प्रयास

अथ त गुरुदेवोऽपि प्रशस्याऽऽश्वास्य निर्भरम् ।
उवाच मधुरां वाणीं शिष्य - सन्ताप - हारिणीम् ॥१॥
हे पुत्र ! विधिना येन वैराग्यं तेऽपि निर्वहेत् ।
त गदामि त्वमामूलं यथावत् परिपालय ॥२॥
अत्राऽन्तराया आयान्ति तस्मादन्यत्र गम्यताम् ।
अस्मद्वियोग - विकलो मा स्म भूर्हे हरिप्रिय ! ॥३॥

जायगा । किन्तु थोडे से समय के लिये मुझको छोडकर दूसरी जगहपर श्रीकृष्ण का भजन कर । और वहाँपर भी गुप्त होकर उस प्रकार से निवास कर कि, जिस प्रकार तू, अपने सम्बन्धी पुरुषो के द्वारा ज्ञात न हो सके । (इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीड़ित' छन्द है) ॥७४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्री–विरचित–श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी–भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये निजप्रतिज्ञा–पूरणाय पूर्णप्रयत्नाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम
नवम सर्ग सम्पूर्ण ॥९॥

दशवाँ सर्ग

श्रीगुरुदेव की आज्ञा से पुन पढ़ने का प्रयास

तदनन्तर श्रीगुरुदेव भी, उसको धन्यवाद देकर एव विशेष आश्वासन देकर, शिष्य के सताप को हरनेवाली सुमधुर वाणी बोले कि, हे पुत्र ! देख, जिस विधि से तेरे वैराग्य का निर्वाह हो सकेगा, मैं, उसी विधि को कह रहा हूँ, तू आदि से ही उसका यथावत् पालन कर । (इस सर्ग में ४८वें श्लोक तक 'अनुष्टुप्' छन्द हैं) ॥१-२॥

देख, भैया ! हरिप्रेष्ठ यहाँपर मेरे पास तो, बहुत से विघ्न आते हैं; अत. तू दूसरे स्थानपर चला जा । मेरे वियोग से विकल मत हो । क्योंकि, विद्वज्जन, सयोग की अपेक्षा वियोग को ही बडा बताते हैं । कारण–रति

संयोगाऽपेक्षया विद्धि वियोगो गुरुरुच्यते ।
संयोगे लघुतां याति वियोगे वर्धते रति ॥४॥
अतस्त्वया तु गन्तव्यं कलाधारीति - नामके ।
सतां स्थानेऽप्यरण्यस्थे दुर्ज्ञेये नूतनैर्नृभिः ॥५॥
विहारि - वाटिकाऽन्तस्थाच्श्रीदुलारेप्रसादकात् ।
विदुषः पठनीया च त्वयापि लघुकौमुदी ॥६॥

इति श्रुत्वैव गदितं गुरुणा स हितं वच ।
प्रणम्य त्वरितं प्रायाद् गुरूक्ते शुभदे स्थले ॥७॥

ततश्च पठितु प्रायात् प्रथमे दिवसे यदा ।
तदोक्तोऽप्य गता कैश्चिद् पाठशालाऽवसानताम् ॥८॥

उक्तश्चाऽपठितैः कैश्चिज्जनैरयमुदारधीः ।
पठनेन भवेत् किं ते भजनं कुरु सर्वदा ॥९॥

पठनं गृहिणां कार्यं द्विजानां वृत्तिकारणात् ।
साधूनां हरि - वित्तानां विद्यया किं प्रयोजनम् ॥१०॥

अर्थात् अनुराग या प्रेम का यही स्वभाव है कि, संयोग मे तो वह कमती हो जाता है, एव वियोग मे बढ जाता है । इसलिये तू 'कलाधारी'–नामक स्थान मे चला जा, वह स्थान सन्तो का है, जगल मे है, नवीन मनुष्यो के द्वारा दुर्ज्ञेय है । वहाँ पर रहकर तू, श्रीविहारीजी की बगीची मे रहनेवाले प० श्रीदुलादेप्रसादजी से लघु-कौमुदी पढते रहना ॥३-६॥

इस प्रकार श्रीगुरुदेव के द्वारा कहे हुए हितमय वचन को सुनकर वह हरिप्रेष्ठ' प्रणाम करके, श्रीगुरुदेव के द्वारा बताये हुए शुभदायक उसी कलाधारी स्थानपर शीघ्र ही चला आया । उसके बाद, जब वह पहले दिन पढने को गया तब श्रीविहारीजी को बगीची मे रहनेवाले कुछ जनो ने उस से कहा कि, वह पाठशाला तो बहुत दिन से समाप्त हो चुकी है ॥७-८॥

कलाधारी मे रहनेवाले कुछ अनपढ व्यक्तियो ने, उदार बुद्धवाले इस हरिप्रेष्ठ से कहा कि, पढने से तेरा क्या बनेगा ? तू तो सदा भजन ही करता रह । क्योकि पढने का काम तो उन गृहस्थी ब्राह्मणो का है कि, जिनको पुरोहिताई वृत्तिसे अपना पालन करना है । अत श्रीहरि ही जिनका परम धन है, उन साधुओ को विद्या से क्या प्रयोजन है ? । इस प्रकार अज्ञानी बालको की तरह उन साधारण जनो के द्वारा कहे हुए वचन का

इति साधारणैरुक्तं बालैरिव वचो जनैः ।
जगृहे कृष्ण - रक्तित्वान्न तु सारतया ह्यसौ ॥११॥

पठनं विहाय गुरुसन्निधौ वास

विहाय पठनं तस्माज्जजाप मालया हरिम् ।
श्रीकृष्ण - भावना-ध्वस्त - समस्ताऽन्य - मनोरथः ॥१२॥
अहर्निशं हरेर्नाम मुखादस्य निसर्गतः ।
निससार सगम्भीरं हिमाद्रेरिव जाह्नवी ॥१३॥
विरहाग्निश्च जज्वाल हृदये तस्य धीमतः ।
श्रीकृष्ण - प्राप्तये चेत्थं चिन्तयामास चेतसा ॥१४॥
नीत्वा ननु गुरोराज्ञां महारण्यं समाश्रितः ।
भोजनं चाऽहरिप्राप्तेर्न कुर्यां पानमम्भसः ॥१५॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा यदाऽगाद् गुरुसन्निधौ ।
अस्याऽऽशयं समाज्ञाय गुरुरेनमुवाच ह ॥१६॥
मत्तः पृथक् भृशं दूरं स्थितिर्न हि तवोचिता ।
अरण्येऽपि महामाया मोहयत्येकलं जनम् ॥१७॥

उसने, श्रीकृष्ण में प्रेम होने के कारण ही ग्रहण कर लिया, किन्तु साररूप से अङ्गीकार नहीं किया ॥९-११॥

पढ़ना छोड़कर श्रीगुरुदेव के निकट-निवास

श्रीकृष्ण की भावना से जिसके समस्त मनोरथ समाप्त हो गये थे, वही हरिप्रेष्ठ, उन साधारणजनों के कहने से, पढ़ना-लिखना छोड़कर, माला से केवल श्रीहरि नाम का जप ही करने लग गया। उस समय इसके मुख से, श्रीहरि का नाम, रातदिन स्वभाव से ही गम्भीरतापूर्वक उस प्रकार निकलता रहता था कि, जिस प्रकार हिमालय से गङ्गाजी निकलती रहती है ॥१२-१३॥

उस बुद्धिमान् के हृदयमें श्रीकृष्ण की विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी। अतएव वह श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये अपने चित्त से यह विचारने लगा कि, "मैं, श्रीगुरुदेव की आज्ञा लेकर, घोर जङ्गल मे जाकर, श्रीहरि की प्राप्ति तक, भोजन एवं जल-पान भी नहीं करूँगा।" अपने मन मे ऐसा विचार करके वह जब, श्रीगुरुदेव के निकट चला आया तब, इसके आन्तरिक अभिप्राय को जानकर, श्रीगुरुजी ने इसके प्रति कहा कि—॥१४-१६॥

देख, भैया! मेरे से अलग, तेरा बहुत दूर रहना, अभी उचित नहीं है। क्योंकि, भगवान् की महामाया, अकेले व्यक्ति को तो, जङ्गल में भी

गुरोस्तु सन्निधौ तात ! सत्सङ्गति - बलाश्रनु ।
न करोति पदाक्रान्त जनं भीतेव सर्पति ॥१८॥
हरि - भक्ति - प्रचारार्थमड़ींगाख्ये पुरे वयम् ।
गमिष्यामोऽन्यशिष्यैश्च त्वयाऽपि सह गम्यताम् ॥१९॥
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं मत्वा सह जगाम स. ।
अड़ींगाख्ये पुरे रम्ये गोवर्धन - समीपगे ॥२०॥
हरि-भक्ति प्रचार्याऽथ गेहे गेहे जने जने ।
गुरुस्तु शिष्यलोकेन वत्सग्रामं जगाम ह ॥२१॥

श्रीकृष्ण-विरहे तस्य विविधाश्चेष्टा.

तदानीमस्य हृदये महती विरहव्यथा ।
आसीद् गुरुं विनाऽन्येषां हृदये लोकवञ्चना ॥२२॥
तत स कर्हिचिद् घस्रे भावावेश - भराऽऽकुलः ।
दधाव गिरिराजाद्रि श्रीकृष्ण - प्राप्ति - हेतवे ॥२३॥
तत्र चारयतो गाश्च गोपालान् स भृशं रुदन् ।
पप्रच्छ गदताऽऽभीराः! कृष्ण किं भो! विलोकितः॥२४॥

मोहित कर लेती है । अपने श्रीगुरुदेव के निकट तो, वह माया, सत्सङ्ग के बल से भक्तजन को, अपने चरणो से नही कुचलती है, अपितु (वल्कि) भय-भीत सी होकर दूर भाग जाती है ॥१७-१८॥

और देख, अब हम, श्रीहरि की भक्ति का प्रचार करने के निमित्त, अन्य शिष्यो सहित, 'अडीग'—नामक गाँव मे जायेगे, तू भी हमारे साथ ही चलना । श्रीगुरुदेव के ऐसे वचन सुनकर एव मानकर वह भी, श्रीगोवर्द्धन के निकट-वर्ती, परमसुन्दर 'अडीग'—नामक गाँव मे, उन्ही के साथ चला आया । उसके बाद, हमारे श्रीगुरुदेव तो, घर घर मे एवं प्रत्येक जन मे श्रीहरि की भक्ति का प्रचार करके, अपने विरक्त शिष्यों के सहित वत्सग्राम (बछगांव) मे चले आये ॥१९-२१॥

श्रीकृष्ण के विरह में उसकी अनेक प्रकार को चेष्टायें -

उस समय इस हरिप्रेष्ठ के हृदय मे भारी विरह-वेदना थी, किन्तु श्रीगुरुदेव के बिना अन्य लोगो के हृदय मे तो वह वेदना, केवल लोक-वञ्चना ही प्रतीत होती थी । उसके बाद वह किसी दिन, भावावेश की अधिकता से व्याकुल होकर, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के कारण, श्रीगिरिराज (श्रीगोवर्धन) की ओर दौड पडा ॥२२-२३॥

मुग्धोऽयमिति ते ज्ञात्वा हसन्ति स्माऽस्य भाषितैः ।
हास्याऽञ्चित-मुखान् दृष्ट्वा गोपान् स प्रत्यभाषत ॥२५॥
नूनं दृष्टो हरिर्गोपा ! युष्माभिर्नहि संशयः ।
यतो हसथ मां दृष्ट्वा दुर्भगं सुभगा इव ॥२६॥
इत्युक्त्वा कृष्ण - विरहाद् भिद्यन्निव रुरोह सः ।
जगाद च हरिं गोपा ! मह्यं दर्शयताऽऽशु भो ! ॥२७॥
मिथ्यैव ते वदन्ति स्म यदास्ते तल्लता - तले ।
अदृष्ट्वा कण्टकाकीर्णं वर्त्म धावति तद्दिशि ॥२८॥
विश्वासस्य बलादेव कृष्ण - स्फूर्तिर्भवत्यपि ।
यदा गच्छति तत्राऽसौ कृष्णोऽन्यत्र प्रकाशते ॥२९॥
यत्राऽवलोक्यते कृष्ण - प्रकाशस्तत्र गम्यते ।
अमुना कृष्ण - रक्तेन लतासु च दरीषु च ॥३०॥

वहाँपर उसने गैयाओं को चराते हुए गोपालों (ग्वाल-बालों) से भारी रोते रोते पूछा कि, हे ग्वारियाओ ! बताओ ! भैया ! तुम सबने श्रीकृष्ण को देखा है क्या ? । वे ग्वाल-बाल इसके वचनों से, इसको, "यह सीधा सादा बावाजी भूल मे पडा हुआ पागल सा मालूम पडता है" ऐसा समझकर, हँसने लग जाते है । उनको हँसी से युक्त मुखवाले देखकर, वह, उन गोपो के प्रति बोला कि, हे ग्वाल-बालो ! तुम सबने श्रीकृष्ण को अवश्य देखा है, इसमे किंचित् भी सन्देह नही है । क्योंकि, तुम सब मुझको देखकर उस प्रकार हँस रहे हो कि, जिस प्रकार सौभाग्यशाली जन, अभागे को देखकर या परमसुन्दर व्यक्ति, कुरूप व्यक्तिको देखकर हँसते हैं ॥२४-२६॥

वह इस प्रकार कहकर, श्रीकृष्ण के विरह से मानो विदीर्ण सा होता हुआ रोने लग गया । और बोला कि, हे ग्वालबालो ! तुम सब कृपा करके, मेरे लिये शीघ्र ही श्रीकृष्ण का दर्शन करा दो । वे ग्वाल बाल मिथ्या ही बोले कि, देख, तेरे प्यारे श्रीकृष्ण, उस लता के नीचे बैठे हैं । वह हरिप्रेष्ठ, भावावेश में विभोर होकर, काँटों से भरे हुए मार्ग को भी न देखकर उसी दिशा की ओर दौड पडा ॥२७-२८॥

उसके प्रबल विश्वास के बल से ही वहापर उसको, श्रीकृष्ण की स्फूर्ति भी हो जाती थी । किन्तु जब वहाँ तक जाता है, तब तक श्रीकृष्ण, दूसरी जगह प्रकाशित हो जाते थे । किन्तु इसको, जहाँपर श्रीकृष्ण का प्रकाश दिखाई देता था, वह वही पर चला जाता था । श्रीकृष्ण मे अनुरक्त

कदाचिदथ सध्यायां राधाकुण्ड-तटान्तिके।
गोपालमेकमप्राक्षीत् कृष्णः क्वाऽस्ते मम प्रियः ॥३१॥
गौरवर्ण स गोपाल उवाचाऽयं तवाऽन्तिके।
श्रीकृष्ण एव श्यामाङ्गः पौगण्ड-वयसाऽञ्चित ॥३२॥
स तु प्राकृत-बालोऽयमिति मत्वा रुदन् ययौ।
गत्वाऽग्रे चिन्तयामास वञ्चितोऽह तु मायया ॥३३॥
प्राप्यापि कृष्ण-सान्निध्यं नाऽज्ञासिषमिवाऽन्धदृक्।
अथवा तत्कृपा-दृष्टि विना कथमवाप्नुयाम् ॥३४॥
निशि गोवर्धनं गत्वा सुष्वाप महतोऽन्तिके।
हरिचरणदासस्य यश्चैक-गुरुको मतः ॥३५॥
परिक्रमणमारब्ध-मष्टोत्तरशतं गिरे.।
येन तं प्रातरुत्थाय निजगाद हरिप्रियः ॥३६॥
तवैवाऽद्य कृपा-दृष्ट्या हे भक्तवर ! लब्धवान्।
श्रीकृष्ण-दर्शनं रात्रौ कृतार्थश्च तथाऽभवम् ॥३७॥

हुआ वह, लताओ मे एव गोवर्धन की गुफाओं मे भी चला जाता था ॥२९-३०॥

किसी दिन सायकाल मे, श्रीराधा-कुण्ड के निकट, एक गोप बालक से, उसने पूछा कि, हे भैया ! मेरा प्यारा श्रीकृष्ण, कहाँपर है, मुझे बता दे। गौरवर्णवाला वह गोप-बालक बोला कि, पौगण्ड अवस्थावाला एव श्याम अगवाला, वह श्रीकृष्ण, तेरे निकट ही तो खडा है,जी भर के देखले। किन्तु वह हरिप्रेष्ठ तो, श्यामवर्णवाले उस गोप-बालक को, 'यह तो साधारण बालक ही है', ऐसे समझकर, रोता हुआ आगे की ओर चला गया। आगे जाकर उसने विचार किया कि हाय ! मैं तो श्रीकृष्ण की माया से ठगा गया। क्योकि, मैं श्रीकृष्ण की निकटता को प्राप्त करके भी, अन्धे की तरह, उनको नही जान पाया। अथवा उनकी कृपा-दृष्टि के विना मैं, उनको किस प्रकार प्राप्त कर सकता हूँ ॥३१-३४॥

वह हरिप्रेष्ठ, रात्रि मे श्रीगोवर्धन मे जाकर, 'श्रीहरिचरणदास'-नामक उस महात्मा के निकट सो गया कि जो, एक ही गुरु का शिष्य माना गया था। अर्थात्-वह इसका गुरु-भाई ही था। एव जिस श्रीहरिचरणदास ने, श्रीगिरिराज की १०८ दण्डवत् परिक्रमा आरम्भ कर रखी थी। हरिप्रेष्ठ ने प्रात काल उठकर उन्ही श्रीहरिचरणदासजी से कहा कि, हे भक्तवर !

शयनादेव हे भ्रातस्त्वया सार्धं बभूव ह।
एतादृशं भगवतो दर्शनं योगिदुर्लभम्॥३८॥
स उवाच ततो धीमन्! धन्यस्त्वं सफलेक्षण।
तुभ्यं तु दर्शनं जातं मह्यं नैव दुरात्मने॥३९॥
अथ तस्माद् हरिप्रेष्ठो गोवर्धन-शिलोच्चयात्।
आचार्य-दर्शनाऽऽकांक्षी प्रतस्थे कृष्णमीरयन्॥४०॥
तमाल-बहुलेऽरण्ये कदम्ब-बहुले तथा।
मयूरान् नृत्यतः प्रेक्ष्य मूर्च्छामाप्नोति विह्वलः॥४१॥
चरन्तं प्रेक्ष्य गोवृन्दं क्षीर-फेन-निभं पुरः।
श्रीकृष्ण-दर्शनाकांक्षी वेपते रौति मूर्च्छति॥४२॥
क्वापि वत्सकुलं दृष्ट्वा धावमानमितस्ततः।
कण्टकाकीर्णमार्गोऽपि गाह्यते पत्यने क्वचित्॥४३॥
कुञ्जसीम्नि कदाप्येव श्रीकृष्ण-विरहाऽऽकुलः।
चुलुकं परिपूर्णाऽश्रुलंता-मूलं निषिञ्चति॥४४॥

आज की रात मे, मैंने, तुम्हारी कृपा से ही श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त कर लिया है तथा मैं, कृतार्थ भी हो गया हूँ। हे भैयाजी! तुम्हारे साथ सोने मे ही, भगवान् श्रीकृष्ण का ऐसा विचित्र दर्शन हुआ है कि, जो योगियो को भी दुर्लभ है॥३५-३८॥

श्रीहरिचरणदासजी बोले कि, हे बुद्धिमन्! भैया! हरिप्रेष्ठ! तू धन्य है, तेरे नेत्र सफल हो गये। क्योकि, तुझे तो दर्शन हो गये, किन्तु मुझ दुरात्मा को तो तुम्हारे साथ सोनेपर भी नही हुए॥३९॥

उसके कुछ दिन बाद, वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव के दर्शनो की आकांक्षा से युक्त होकर, श्रीकृष्ण का नाम उच्चारण करता हुआ, उस गोवर्धन पर्वत से चल दिया। उस समय रास्ते मे, अधिक तमालोवाले वन मे एव अधिक कदम्बोवाले वन मे, नाचते हुए मयूरो को देखकर, श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता था। एव उस वन मे दुग्ध के फेन के समान सफेद-वर्णवाले गोवृन्द को सामने ही चरता हुआ देखकर, श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा से युक्त होकर काँपने लगता था, चिल्लाने लगता था एव मूर्च्छित भी हो जाता था॥४०-४२॥

उसी वन मे आगे चलकर कहीपर बछडाओ के समूह को इधर-उधर दौडते हुए देखकर वह हरिप्रेष्ठ, कण्टकाकीर्ण मार्ग का भी अवगाहन करता

विलपन्तममुं प्रेक्ष्य मेघ - गम्भीर - नि.स्वनम् ।
अपास्य लास्यमुत्कण्ठा नीलकण्ठा रुदन्त्यनु ॥४५॥
सकृच्छ्रीकृष्णमुत्प्रेक्ष्य को वा विस्मर्तुमीश्वरः ।
न दृष्टा माधुरी येन स तु विस्मर्तुमीश्वरः ॥४६॥
नारदस्य यथा जाता ह्यन्तर्धानं गते हरौ ।
तथैव हरिप्रेष्ठस्य दशाऽभूद् वागगोचरा ॥४७॥
पतयालुरसौ क्वापि निपत्यायामवीविदत् ।
अनुराग-सुधासिन्धौ मग्नो भग्नोऽपि नो व्यथाम् ॥४८॥
मुदित-केकि-गलस्थित-नीलिमा, यदि कुतश्चिदनेन विलोक्यते ।
लुठति रोदिति हन्त विकम्पते, स्खलति तर्हि विषीदति मूर्च्छति ॥४९॥
इति रुदन्तममुं ननु सान्त्वय-,न्निव हरिः स्वकपीतपटच्छटाम् ।
तडिदनन्तरुचि समदर्शयद्, न तु मनोज - मनोहर - विग्रहम् ॥५०॥

था, तथा कहीं-कहींपर पछाड़ खाकर गिर पडता था। श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल हुआ यह हरिप्रेष्ठ, कभी-कभी कुञ्ज की सीमापर बैठकर, अपनी अञ्जली को, अपने ही आँसुओं से भरकर, लता के मूल को सींचता रहता था ॥४३-४४॥

किसी स्थानपर मेघ के समान गम्भीर ध्वनिपूर्वक विलाप करते हुए इसको देखकर, मयूरगण भी, अपने नृत्य को छोड़कर उत्कण्ठित से होकर, इसके साथ-साथ ही रोने लग जाते थे। क्योंकि,-श्रीकृष्ण को एकबार भी देखकर कौन भूल सकता है ? हाँ ! जिसने श्रीकृष्ण की माधुरी का दर्शन नहीं किया है, वह तो भूल भी सकता है ॥४५-४६॥

और देखो, समाधि में श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर, जिस प्रकार श्रीनारदजी की अपूर्वदशा हो गयी थी, उसी प्रकार हरिप्रेष्ठ की दशा भी उस समय अकथनीय हो गई थी। अतएव यह, कहीं-कहीं निपत्या (फिसलने योग्य चिकनी) भूमिपर पतयालु (गिरने योग्य) होकर भी अर्थात् चिकनी भूमिपर गिरकर, चोट लग जानेपर भी, श्रीकृष्ण के अनुरागरूपी सुधा-सिन्धु में निमग्न होने के कारण, उस वेदना को किंचित् भी नहीं जान पाता था ॥४७-४८॥

यदि किसी स्थानपर, प्रसन्न हुए मयूर के गले की नीलिमा, इसके दृष्टिगोचर हो जाती थी, हाय ! तब तो यह धरतीपर लोट पोट हो जाता था, रोने लगता था, कम्पित हो जाता था, फिसल जाता था, विषाद करने

नील महः पुनरसौ भुवि धावमान-,मग्रे ददर्श न कुयोगि-समाधिगम्यम् ।
आदातुमेव तदनु प्रदधाव शीघ्र-,मप्राप्य तद् भुवि पपात ययौ च मूर्च्छाम् ॥५१॥

श्रीगुरोर्निकटमागत्य श्रीगुरुदेव-प्रार्थना

एवं भोजन - पान - सौख्य - शयनेष्वीहा विहायाऽन्वह
कृष्णप्राप्ति - सुखामृताब्धि - सलिले गाढ जगाहेऽमुना ।
पश्चाच्छ्रीगुरु - पादपद्म - युगल प्रायादरण्यादसौ
गत्वा हर्षभरैरिवाऽञ्चिततनुः प्राणीनमद् दण्डवत् ॥५२॥

नतिमिति गुरुपादयोर्विधाय, शिरसि जगाद स चाञ्जलिं निधाय ।
सुरुवर ! कृपया त्वदीययाऽहं, त्वतिपतितोऽपि कृतः कृतार्थमानी ॥५३॥

लगता था, पश्चात् मूर्च्छित भी हो जाता था। इस प्रकार अपने विरह मे ही रोते इसको, श्रीकृष्ण ने, सान्त्वना-सी देते हुए, स्थिर-बिजली से भी अनन्त गुणी कान्तिवाले अपने पीताम्बर की छटा तो दिखा दी, किन्तु करोडो कामदेवो से भी परमसुन्दर अपने श्रीअंग को प्रदर्शित नही किया। (इन दोनो श्लोको मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४९-५०॥

आगे चलकर उसने कुयोगियो की समाधि मे नही आनेवाले, एव अपने आगे-आगे भूमिपर ही दौडनेवाले नीलवर्ण के तेज विशेष को देख लिया। उसके बाद, उसी नीले तेज पुञ्ज को पकडने के उद्देश्य से वह, उस तेज के पीछे-पीछे शीघ्र ही दौड पडा। किन्तु उसको न पाकर भूमि मे गिर पडा, एव गिरते ही मूर्च्छित हो गया। (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥५१॥

श्रीगुरुदेव के निकट आकर श्रीगुरुदेव-प्रार्थना

इस प्रकार वह हरिप्रेष्ठ, भोजन, जलपान, अन्य सासारिक सुख एव शयन आदि मे अभिलाषा को छोडकर, श्रीकृष्ण की प्राप्ति-रूप सुखमय अमृत-समुद्र के जल मे, प्रतिदिन खूब गोता लगाता रहता था। उसके बाद वह उस वन से श्रीगुरुजी के चरणकमलो के निकट पहुँच गया। और जाते ही मानो हर्ष की अधिकता से सुशोभित शरीरवाला होकर उसने दण्डवत् प्रणाम किया। (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित छन्द है) ॥५२॥

इस प्रकार श्रीगुरुदेव के चरणो मे प्रणाम करके एव अपने मस्तकपर अञ्जलि धरकर अर्थात् हाथ जोडकर बोला कि, हे श्रीगुरुदेव ! आपकी कृपा ने, अतिशय पतित मैं भी, अपने को कृत-कृत्य माननेवाला बना दिया ॥५३॥

गुणगणगणना विधातुमीशः, किमु तव दीनजनोऽयमेकजिह्वः ।
सुरतरुतलमेत्य किं दरिद्र-, मतिरवगच्छति तं यथावदीश ! ॥५४॥

मम तु हे गुरुदेव ! पदाब्जयोः, प्रतिदिनं तव चेयमिहाऽर्थना ।
तव पदाब्जयुगं प्रविहाय नो, मम मनोऽलिरुपैतु बहि क्वचित् ॥५५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीहरिप्रेष्ठमहाकाव्ये
श्रीगुरोराज्ञया पुन पठन-प्रयासाद्यनेकविषय-वर्णन नाम
दशम सर्ग सम्पूर्ण ॥७॥

अथैकादशः सर्गः

श्रीगुरोरुपदेशेन पुनरपि पठन-प्रयास

पादारविन्दयुगल गुरुदेवतायाः, स्पृष्ट्वा कराब्जयुगलेन हरिप्रियोऽसौ ।
श्रीकृष्णदर्शकृतेऽञ्जलिबन्धपूर्वं, काकूक्तिपूर्वमथ देशिकमाययाचे ॥१॥
हे देव ! पूर्वमपि ने कृपया कृतार्थ, आस तथा पुनरपि प्रतिपादनीय ।
एकान्तदेश - निलये विरहार्तिदूनः, श्रीकृष्णपादयुगल हि यथा लभेय ॥२॥

हे सर्वसमर्थ ! श्रीगुरुदेव ! देखो, एक जिह्वावाला यह दीनजन, आपके गुणगणो की गणना कर सकता है क्या ? अर्थात् नही । क्योकि, दरिद्रबुद्धिवाला, मनुष्य, कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी, उसके स्वरूप को यथार्थरूप से जान लेता है क्या ? अर्थात् नही । (इन दोनों श्लोको मे 'पुष्पिताग्रा'-नामक छन्द है) ॥५४॥

अतएव हे श्रीगुरुदेव ! आपके दोनों चरणारविन्दो मे, मेरी तो प्रतिदिन यही प्रार्थना है कि, "मेरा मनरूपी भ्रमर, आपके दोनो चरणकमलो को छोडकर, अन्य बाह्य विषयो मे कही भी न जाय" (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥५५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ महाकाव्ये श्रीगुरोराज्ञया पुन पठन-प्रयासाद्यनेक विषय-वर्णन नाम
दशम सर्ग सम्पूर्ण ॥१०॥

ग्यारहवाँ सर्ग

श्रीगुरुदेव के उपदेश से फिर भी पढने का प्रयास

उसके बाद, वह हरिप्रेष्ठ, अपने दोनों करकमलो से श्रीगुरुदेव के दोनो चरणारविन्दो को छूकर, पुन हाथ जोडकर, श्रीकृष्ण के दर्शन के उद्देश्य से, कातरवाणी-पूर्वक श्रीगुरुदेव से प्रार्थना करने लगा कि, हे श्रीगुरुदेव ! आपकी कृपा से मैं, पहले भी कृतार्थ हो चुका हूँ. किन्तु अब

एवं निशम्य वचनं स हरिप्रियस्य, प्रोवाच वाचमखिलार्तिहरां कृपालु ।
त्वां कृष्णपादविरतं विरत भावाब्धे-,र्जानाम्यहं तदपि लोकहिते नियोक्ष्ये॥३॥
प्रायेण पुत्र! मुनय स्वविमुक्तिकामा,मौन चरन्ति विजने न परोपकारी ।
एव विचार्य नितरा त्वमधीष्व शास्त्रं,दानेन यस्य भवितासि परोपकारी ॥४॥
ये मानवा हरिकथामृतपानमत्ता, अन्यानपि त्रिविधतापभरेण तप्तान् ।
तत् पाययन्ति निरपेक्षमयाऽऽदरेण,ते भूरिदा निगदिता भुवि शास्त्रविज्ञैः ॥५॥
स्वात्मैव कृष्णभजनाद् भववारिराशे-, र्येनोद्धृत स न तथा हरिप्रीतिपात्रम् ।
अन्येऽपि येन विहिता हरिभक्तिभाजः, शास्त्रोपदेश-निचयेन यथा स भक्त ॥६॥

फिर भी उस प्रकार से कृतार्थ कर दीजिये कि मैं, एकान्त स्थान मे, विरह-मयी-पीडा से पीडित होकह, श्रीकृष्ण के दोनो चरण-कमलों को जिस प्रकार अनायास प्राप्त कर लूँ । (इस सर्ग मे तेतीसवें श्लोक तक 'वसन्ततिलका' छन्द हैं, आगे दूसरे हैं) ॥१-२॥

हरिप्रेष्ठ के इस प्रकार के वचन को सुनकर, परमदयालु श्रीगुरुदेव, सभी की पीडा को हरनेवाली वाणी बोले कि, हे भैया ! मैं जानता हूँ कि तू, श्रीकृष्ण के चरणो मे ही विशेष तत्पर है एव ससार-सागर से विरक्त है, तथापि मैं, तुझको जनमात्र के हित मे नियुक्त करूँगा ॥३॥

देख वेटा ! केवल अपनी ही मुक्ति की कामनावाले मुनिजन प्राय एकान्त स्थान मे मौनी बने रहते हैं, किन्तु परोपकारी व्यक्ति उस प्रकार मौन नही रखता, वह तो, अपने सदुपदेश से जीवामात्र को भगवान् के सम्मुख बनाता रहता है । अत तू भी यही विचारकर, शास्त्र का अध्ययन कर ले ! क्योंकि जिसके दान से तू भी परोपकारी हो जायगा ॥४॥

देख, जो मानव, श्रीहरि के कथारूप अमृत के पान से स्वय मतवाले होकर, आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक तापोंके भार से तपेहुए दूसरे मनुष्यो को भी, निरपेक्ष-भाव से आदरपूर्वक उसी कथामृत का पान कराते रहते है, इस भूमि मे शास्त्र के ज्ञाताओ के द्वारा वे मानव ही अधिक दानी कहे गये है । इस विषय मे यही प्रमाण है—(भा० १०।३१।६)

"तव कथामृत तप्तजीवन, कविभिरीडित कल्मषापहम् ।
श्रवण-मङ्गल श्रीमदातत, भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना" ॥५॥

और देख भया ! जिस व्यक्ति ने, श्रीकृष्ण के भजन से, ससार-सागर से, यदि केवल अपना ही उद्धार कर लिया तो वह व्यक्ति, उस प्रकार से श्रीकृष्ण की प्रीति का पात्र नही है कि जिस प्रकार वह परोपकारी भक्त,

श्रुत्वा वचो गुरुवरस्य हरिप्रियोऽसौ, जग्राह लोक-परलोक-हितानुकूलम् ।
वृन्दावनं मदनमोहनदासकेन, प्रायात् सहैव गुरुदेवमथ प्रणम्य ॥७॥
तत्राऽप्यसौ गणपतेर्विदुषः सकाशात्, पाठं पपाठ हरिशब्दत एव पूर्वम् ।
शीघ्रं नयामि लघुकौमुदिकां समाप्ति-,मित्याशयेन रटति स्म स सूत्रजालम्॥८॥
कण्ठी करोति स यदा बहुसूत्रजाल-, मह्न कलेन बटव. स्म तदा वदन्ति ।
वाण्याः कृपा विलसति प्रवराऽस्य मूर्ध्नि,सर्वातिशायि कथमन्यजनःकरोतु॥९॥
श्रीकृष्णचन्द्रविरहार्तिभराऽतिदून., सूर्यात्मजातटगतो ह्यवकाशकाले ।
चुक्रोश हा मम सखे ! तव विप्रयोगो,दुःखाकरोति नहि सोढुमहं समर्थः ॥१०॥
एवं मुहुर्विलपतो विरहाग्निदुःखात्, तस्याऽवकाशसमये यमुनानिकुञ्जे ।
मूर्धा बभूव बहुवेदनया गृहीत-,स्ततस्माद् गुरुं स्वकमयात् पठनं विहाय॥११॥

प्रीति का पात्र है कि, जिसने अपने उपदेश समूह के द्वारा, दूसरे जन भी श्रीहरि के भक्त बना दिये हों ॥६॥

उस हरिप्रेष्ठ ने भी, श्रीगुरुदेव के, इसलोक एव परलोक के हित के अनुकूल वचन को सुनते ही ग्रहण कर लिया । पश्चात् श्रीगुरुदेव को प्रणाम करके, अपने बड़े गुरुभाई श्रीमदनमोहनदासजी के साथ ही, श्रीवृन्दावन को चला आया ॥७॥

वहाँपर भी उसने, सर्व-प्रथम पं० श्रीगणपतिलालजी से, 'हरि'–शब्दसे ही पाठ प्रारम्भ कर दिया । एवं वह, "मैं, लघुकौमुदी को शीघ्र ही समाप्त कर दूँ" इसी अभिप्राय से बहुत से सूत्रों को रटता रहता था ॥८॥

जब वह, एक ही दिन के द्वारा, बहुत से सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेता था तब, उसके सहपाठी ब्रह्मचारी बालक, यह कहते थे कि, इसके मस्तकपर ता श्रीसरस्वती मैया की भारी कृपा प्रकाशित हो रही है । अन्यथा, दूसरा साधारण जन, सबसे आधक किस प्रकार कण्ठ कर सकता है ? ॥९॥

इस अवस्था मे भी इसको, श्रीकृष्ण का विरह सताता रहता था । अतएव यह अवकाश के समय श्रीयमुनाजी के तटपर जाकर, श्रीकृष्णचन्द्र के विरह की पीड़ा के भार से अधिक पीड़ित होकर, रो रोकर यही चिल्लाता रहता था कि, हा मेरे प्यारे सखे ! श्रीकृष्ण ! तुम्हारा वियोग मुझको भारी दु.खी कर रहा है; मै उसको सहने को असमर्थ हूँ । अत. कृपया दर्शन दे जाइये ॥१०॥

इस प्रकार अवकाश (छुट्टी) के समय मे, यमुना की निकुञ्जो मे, प्रतिदिन बारम्बार विलाप करते हुए, विरहरूपी अग्नि के दुःख से उसका

पठनं विहाय गुरो सकाशाद् भजनानुमति-प्रार्थना

पश्चान्नमस्कृतिपुरः सरमित्युवाच, शक्नोमि नो पठितुमीश! शिरोर्तिरुग्णः ।
आत्मोद्धृतिं प्रथममत्र विधाय देव!,पश्चाज्जगज्जनहिताय यतिष्यतेऽद्धा॥१२॥
भूयात् कृपालवमपि प्रभुपादयोश्चेद्, गोवर्धने स्वहितसिद्धिमह हि कुर्याम् ।
देह्यद्रिराज-गमनानुमतिं दयालो !, एवं निगद्य स रुदन्निपपात पादे ॥१३॥
प्रेमातिरेक-पुलकाञ्चित-दोर्युगेन, प्रोत्थाप्य तं गुरुवरो भृशमालिलिङ्ग ।
पश्चाद् हरेर्भजनरीतिमपीरयित्वा,पूर्णाशिषा च विनियोज्य ददावनुज्ञाम्॥१४॥

श्रीगुरोरनुज्ञया भजनाय चलनम्

लब्ध्वा गुरोरनुमतिं स नतिं विधाय,पादाब्जयोर्गुरुवरस्य चचाल हृष्टः ।
श्रीकृष्णचन्द्रविरहार्ति-शिरोर्तियुग्म-, चक्रे मनोरथरथे ह्यधिरुह्य शीघ्रम्॥१५॥

मस्तक, भारी वेदना (पीडा) के द्वारा पकड लिया गया । इसलिये वह, पढने को छोडकर, अपने श्रीगुरुजी के निकट ही चला आया ॥११॥

पढना छोडकर, श्रीगुरुजी से, भजन की अनुमति की प्रार्थना

आने के बाद, नमस्कार पूर्वक यह बोला कि, हे समर्थ श्रीगुरुदेव ! मैं, सिर की पीडा से रोगी हो गया हूँ, अत व्याकरण नही पढ सकता हूँ । इसलिये इस ससार मे, पहले अपनी आत्मा का उद्धार करके, उसके बाद, जगत् की जनता के हित के लिये साक्षात् प्रयत्न करूँगा । यदि सर्व-प्रकार समर्थ श्रीगुरुदेव के श्रीचरणो की कृपा का लेश भी मेरे ऊपर हो जायगा तो मैं, श्रीगोवधन मे अपने हित की सिद्धि कर सकूँगा । अत हे दयालो ! श्रीगिरिराज महाराज के निकट जाने की अनुमति दे दीजिये । इस प्रकार कहकर रोता हुआ वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव के चरणोपर गिर पडा ॥१२-१३॥

उस समय, प्रेम की अधिकता से रोमाञ्चित हुए अपने दोनो हाथो के द्वारा उसको उठाकर श्रीगुरुदेव ने उसका भारी आलिङ्गन किया । उसके बाद, श्रीहरि के भजन एव अनुष्ठान का रीति को बताकर, पूर्ण आशीर्वाद से युक्त करके, उसको जाने की अनुमति दे दी ॥१४॥

श्रीगुरुदेव की अनुमति से भजन के लिये चलना

पश्चात् वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव की अनुमति को पाकर, श्रीगुरुदेव के चरणकमलो मे नमस्कार करके, श्रीकृष्णचन्द्र के विरह की पीडा एव सिर की पीडारूप दो पहियाओवाले मनोरथरूपी रथ मे चढकर, प्रसन्न होकर शीघ्र ही चल दिया ॥१५॥

'हिण्डौल'नाम-पुरतःस चचाल पूर्वं, वृन्दावनं हरिपदार्चितरेणुगुल्मम् ।
दृष्ट्वैव तद्वनमसौ स्वमनोरथाप्त्यै, स्वस्तौद् वसन्ततिलकेन विराजमानम्॥१६।

श्रीवृन्दावन-स्तुतिः

श्रीकृष्णवेणुरवफुल्ललतावितान ! गुञ्जन्मधुव्रतपिकालिपरीतकुञ्ज ! ।
सौरीसरोरुहसमर्चितवातगन्ध ! वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥१७॥

निःश्रेयसाख्यवनतोऽपि विकुण्ठपू स्थात्, शोभां सहस्रगुणितां दधदप्रमेय !
यद्रामकृष्णचरणाङ्कसमर्चिताङ्ग ! वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ।१८।

अश्रान्तपुष्पितलताव्रजपुष्पपुञ्ज-, विस्तारिसौरभचमत्कृतचञ्चलाक !
वैकुण्ठनाथपरिकीर्तितकीर्तिमाल ! वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनारुजं मे ।१६।

गोविन्दवेणुकलगीतरसज्ञलोक ! श्यामाङ्गदर्शननटद्बहुनीलकण्ठ !
हे मर्त्यलोक-सुभगत्वप्रसिद्धकेतो ! वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुज मे ॥२०॥

वह 'हिण्डौल'—नामक गाँव से चल दिया। चलते-चलते सर्वप्रथम उसने उस वृन्दावन का दर्शन किया कि जो, श्रीकृष्ण के चरण के सम्बन्ध से परम पूजित व्रजरज एव झाडियों से युक्त था, तथा वसन्त ऋतु के आभरण रूप पुष्पो से शोभायमान हो रहा था। उस वन को देखते ही उसने अपने मनोरथ की प्राप्ति के लिये, उसकी स्तुति प्रारम्भ कर दी ॥१६॥

श्रीवृन्दावन की स्तुति

श्रीकृष्णचन्द्र के सुमधुर वेणुनाद से प्रफुल्लित-लता-वितान से युक्त ! गूँजते हुए मधुकरो की मधुर गु जार से एव कोकिलो के सुमधुर कलरव से व्याप्त कु जवाले ! और श्रीयमुनाजी मे खिले हुए नील-पीत-श्वेत-रक्त चतुर्विध कमलो से चर्चित वायु के कारण सुगन्धमय प्रदेशवाले ! हे श्रीवृन्दावन ! मेरे मानसिक रोग को कृपया शीघ्र ही दूर कर दीजिये ॥१७॥

वैकुण्ठ मे विराजमान 'नि.श्रेयस'—नामक वन से भी हजारोगुणी शोभा को धारण करने के कारण अप्रमेय ! और श्रीकृष्ण-बलदेव के चरणारविन्दो मे विद्यमान वज्र-अकुश-ध्वज-कमल आदि चिह्नो से सुशोभितसर्वाङ्ग हे श्रीवृन्दावन ! मेरी मनोव्यथा को शीघ्र ही दूर कर दीजिये ॥१८॥

सब ऋतुओ के एक ही साथ रहने के कारण, निरन्तर पुष्पित लता-समूहो के, पुष्पसमुदाय के मनोहर सुगन्धमय वायु की सुगन्ध से, श्रीलक्ष्मीजी के चित्त को भी चचल कर देनेवाले ! और जिसकी कीर्तिमाला का गायन, श्रीवैकुण्ठनाथ भी करते रहते है, एव गुणविशिट शिटजनसेव्य हे श्रीवृन्दावन धाम ! मेरे मन की सब पीडाओ को शीघ्र ही हर लीजिये ॥१६॥

वृन्दावनाष्टकमिदं स्थिरधीर्मनुष्य ,श्रद्धाऽन्वितोऽनु शृणुयादथ कीर्तयेद् य. ।
वृन्दावनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो,भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ।।२५।।

श्रीगोवर्धन-दर्शनम्

स्तुत्वा विहारिहरिकेलिवन स इत्थ, पश्चान्निदाघसमय व्रजमण्डलस्य ।
प्रेम्णा महात्मकुलदर्शनसत्पूर्वं, सर्वं निनाय मुदितश्च परिक्रमायाम् ।।२६।।
आयान्ति कृष्णभजने बहवोऽन्तराया , सचिन्तयन् स इति साधुगिर हृदन्त ।
सर्वाऽन्तरायहरमार्ति-हर समन्तात्, गोवर्धन शिखरिराजमदन् ददर्श ।।२७।।

श्रीकृष्ण भी जिसको किञ्चितकाल भी छोडना नही चाहते है, यथा–

"व्रज तजि अनत न जाइहो, यही हमारी टेक ।
भूतल-भार उतारिहो, धरिहो रूप अनेक ।।"

और जहाँपर ब्रह्मा-उद्धव आदि भी, तृण सम्बन्धी जन्म सदा चाहते रहते है, अत हे वनराज ! ऐसा कौन सा विद्वान् है कि, जो यथार्थरूपेण साकल्य-रूपेण वा आपके गुणो का वर्णन कर सके ? ।।२४।।

इस श्रीवृन्दावनाष्टक को, स्थिर बुद्धिवाला जो कोई भी मनुष्य, यदि श्रद्धायुक्त होकर सुनेगा या वर्णन करेगा, वह मनुष्य, वनराज श्रीवृन्दावन की कृपा से पृथ्वी मे सभी भोगो का भागी होकर, अन्त मे श्रीकृष्ण की प्रीति का पात्र हो जायेगा ।।२५।।

श्रीगोवर्धन का दर्शन

इस प्रकार श्रीविहारीजी की क्रीडा-भूमि उस वृन्दावन की स्तुति करके उस हरिप्रेष्ठ ने, ग्रीष्मऋतु के सम्पूर्ण समय को, प्रेमपूर्वक महात्माओ के दर्शन एव सत्सङ्ग करते करते, प्रसन्न होकर, सारे व्रज-मण्डल की परिक्रमा मे ही व्यतीत कर दिया ।।२६।।

'श्रीकृष्ण के भजन मे या अनुष्ठान मे बहुत से विघ्न आते है" इस प्रकार की साधुओ की वाणी को, अपने अन्त-करण मे स्मरण करते हुए एव चारो ओर भ्रमण करते हुए उस हरिप्रेष्ठ ने, उस प्रकार के गिरिराज महाराज श्रीगोवधन का दर्शन किया कि, जो सभी प्रकार के विघ्नो का हरण करनेवाला है, एव प्राणीमात्र की मानसिक-पीडा को चारो ओर स हरनेवाला है ।।२७।।

श्रीराधिका-रसविवर्धक-रासलीला-, तौर्यत्रिकोत्पुलकिताङ्ग रुहैर्मनोज्ञ !
सर्वज्ञकृष्णनटलास्यप्रयोगसाक्षिन् ! वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे॥२१॥

गोवर्धनो विजयते हरिदासवर्यः, सूर्यात्मजा च सुषमामधिकां करोति ।
यत्राऽच्युतोऽपि विजहार सखिव्रजेन,वृन्दावन!प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥२२॥

सर्वत्र नष्टविभवा हरिभक्तिरत्र, नृत्यं करोति किल वैष्णव-मानसेषु ।
दिव्याङ्ग!दिव्यपशुपक्षिलतादिलोक!वृन्दावन! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ।२३।

यत् त्यक्तु मिच्छति हरिर्न मनागपि त्वां, यत्रोद्धवो विधिरपीच्छति जन्म तार्णम्
कस्ते वनाधिप ! गुणान् कथयत्वतो विद्,वृन्दावन!प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे।२४।

गोपाललाल श्रीव्रजराजकुमार के वेणु के सुमधुर गायन के रसज्ञ-लोग ही जिसमे निवास करते है ! एव श्रीश्यामसुन्दर भगवान् के श्याम अंग के दर्शन से श्याममेघ की भ्रान्ति के कारण, जिसमे मयूरगण सदा ही नाचते रहते है, और हे मर्त्यलोक के सौभाग्य के सुप्रसिद्ध ध्वजस्वरूप श्रीवृन्दावन ! मेरे मानसिक कष्ट को शीघ्र ही शान्त कर दीजिये ॥२०॥

श्रीमती राधिका के रस की वृद्धिकारिका जो रासलीला, उसमे होने वाले जो नृत्य-गीत-वाद्य, उनके कारण पुलकित रोमाचस्वरूप विविधवृक्षो से सुशोभित ! और सर्वज्ञशिरोमणि नटवर श्रीकृष्णचन्द्र के नृत्य-प्रयोग के साक्षिन् ! हे श्रीवृन्दावन ! मेरी सारी मानसिक बाधाओ को शीघ्र ही दूर कर दीजिये ॥२१॥

श्रीहरि के सेवको मे श्रेष्ठ गिरिराज श्रीगोवधन भी जहाँपर विराजमान है, और श्रीयमुनाजी भी जिसकी विशिष्ट शोभा को बढा रही है, एव जहाँपर अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण ने भी, सखा-मण्डल के सहित यथेष्ट विहार किया है तथा करते रहते हैं, एव–गुणविशिष्ट ! शिष्टजन-वाछित रजकण ! हे श्रीवृन्दावन ! मेरे मानसिक सभी रोगो को शीघ्र ही दूर कर दीजिये ॥२२॥

जिन भक्तिमहारानी का वैभव प्राय. सम्पूर्ण विश्व मे ही नष्ट हो गया था, वे ही भक्तिदेवी जहाँपर, वैष्णवो के मानसमन्दिर मे सदैव नृत्य करती रहती हैं. और जिसके सम्पूर्ण अङ्ग दिव्य है ! दिव्य ही मानव-पशु-पक्षी-लता- वृक्ष आदि जहाँपर हैं!जिनमें से एक कोई होजाने के लिये,ब्रह्मा-उद्धव आदि ने भी प्रार्थना की है; ऐसे गुणो के खजाने हे श्रीवृन्दावन ! मेरे ऊपर कृपा करके, मेरी मन पीडा को शीघ्र ही दूर कर दीजिये ॥२३॥

वृन्दावनाष्टकमिदं स्थितधीर्मनुष्य, श्रद्धाऽन्वितोऽनु शृणुयादथ कीर्तयेद् य. ।
वृन्दावनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो, भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ।।२५।।

श्रीगोवर्धन-दर्शनम्

स्तुत्वा विहारिहरिकेलिवन स इत्थ, पश्चान्निदाघसमय व्रजमण्डलस्य ।
प्रेम्णा महात्मकुलदर्शनसगपूर्वं, सर्वं निनाय मुदितश्च परिक्रमायाम् ।।२६।।

आयान्ति कृष्णभजने बहवोऽन्तराया, सचिन्तयन् स इति साधुगिर हृदन्त ।
सर्वाऽन्तरायहरमार्ति-हरं समन्तात्, गोवर्धन शिखरिराजमदन् ददर्श ।।२७।।

श्रीकृष्ण भी जिसको किञ्चितकाल भी छोडना नहीं चाहते है, यथा-

"व्रज तजि अनत न जाइहो, यही हमारी टेक ।
भूतल-भार उतारिहो, धरिहो रूप अनेक ।।"

और जहांपर ब्रह्मा-उद्धव आदि भी, तृण सम्बन्धी जन्म सदा चाहते रहते है, अत हे वनराज ! ऐसा कौन सा विद्वान् है कि, जो यथार्थरूपेण साकल्य-रूपेण वा आपके गुणो का वर्णन कर सके ? ।।२४।।

इस श्रीवृन्दावनाष्टक को, स्थिर बुद्धिवाला जो कोई भी मनुष्य, यदि श्रद्धायुक्त होकर सुनेगा या वर्णन करेगा, वह मनुष्य, वनराज श्रीवृन्दावन की कृपा से पृथ्वी मे सभी भोगो का भागी होकर, अन्त मे श्रीकृष्ण की प्रीति का पात्र हो जायेगा ।।२५।।

श्रीगोवर्धन का दर्शन

इस प्रकार श्रीबिहारीजी की क्रीडा-भूमि उस वृन्दावन की स्तुति करके उस हरिश्रेष्ठ ने, ग्रीष्मऋतु के सम्पूर्ण समय को, प्रेमपूर्वक महात्माओ के दर्शन एव सत्सङ्ग करते करते, प्रसन्न होकर, सारे व्रज-मण्डल की परिक्रमा मे ही व्यतीत कर दिया ।।२६।।

'श्रीकृष्ण के भजन मे या अनुष्ठान मे बहुत से विघ्न आते है" इस प्रकार की साधुओ की वाणी को, अपने अन्त-करण मे स्मरण करते हुए एव चारो ओर भ्रमण करते हुए उस हरिश्रेष्ठ ने, उस प्रकार के गिरिराज महाराज श्रीगोवर्धन का दर्शन किया कि, जो सभी प्रकार के विघ्नो का हरण करनेवाला है, एव प्राणीमात्र की मानसिक-पीडा को चारो ओर से हरनेवाला है ।।२७।।

श्रीगोवर्धन-वर्णनम्

शृङ्गैः सुवर्णरजतादिमयैरनेकै-, र्विष्वग् वृतं विविधधातु-विचित्रिताङ्गम् ।
भूमिं हरिन्मरकताश्मभिरभ्रवर्णां, सम्पादयन्तमभितो नयनाभिरामम् ॥२८॥
वृक्षैरलंकृतमजस्रसुखैश्च दिव्यैः, सर्वर्तुपुष्पफलदैरिव कल्पवृक्षैः ।
मन्दार-पाटल-प्रियाल-तमाल-तालैः, पुन्नाग-चम्पक-रसाल-करीलजालैः ॥२९॥
खर्जूर-बिल्व-बदरी-पिचुमन्द-नीपै-,राम्रातकैः क्रमुक-किंशुक-चन्दनैश्च ।
प्लक्षार्जुनाऽसन-मधूक-कपित्थ-कुन्दै-,र्जम्बीर-जम्बु-कुटजेङ्गुद-कुब्जकैश्च॥३०
द्राक्षेक्षवरिष्ट-पनसैरपि पारिजातै-, रश्वत्थ शाल-वट पीलु-शिरीष-निम्बैः ।
रम्भाऽभयाऽऽमलक-कोविद-बीजपूरै-,र्लोध्रैरशोक-तिलकैर्धव-नारिकेलैः ॥३१॥

श्रीगोवर्धन का वर्णन

वह गोवर्धन, सोना, चांदी आदि के विकारो से बने हुए अनेक दिव्य शृङ्गो से, चारो ओर से घिरा हुआ है, उसका सारा अङ्ग चित्र-विचित्र रङ्गवाली अनेक प्रकार की धातुओ से चित्रित है, एव इन्द्रनीलमणि के समान शोभावाले अपने पत्थरो के द्वारा वह, अपने आस पास की भूमि को, मेघो के समान श्यामवर्णवाली बनाता रहता है, दर्शकों के नेत्रो को मनोहर लगता है। उस हरिप्रेष्ठ ने इस प्रकार के गोवर्धन का दर्शन किया। (सत्ताईसवे श्लोक की 'ददर्श' क्रिया का सम्बन्ध आगे भी कई श्लोको तक जायगा) ॥२८॥

वह गोवर्धन, कल्पवृक्षो की तरह सभी ऋतुओं के फलो को सदैव देनेवाले एव निरन्तर सुख देनेवाले अनेक दिव्य वृक्षो से चारों ओर अलकृत है। जिन वृक्षों से वह अलकृत है, उनके नाम ये हैं—मन्दार, (कल्पवृक्ष-विशेष या आक, धतूरा) पाटल (गुलाब का वृक्ष), प्रियाल (पियार का पेड जिसके फलो के बीज को चिरौजी कहते है), तमाल, ताल, पुन्नाग, चम्पक (चम्पा का वृक्ष), रसाल (आम), करीलों के झुण्ड, खजूर, बेल बदरी (बेर का पेड), पिचुमन्द (नीम का पेड), नीप (कदम्ब), आम्रातक (आमडा का वृक्ष), क्रमुक (सुपारी का पेड), किंशुक (ढाक का पेड), चन्दन, प्लक्ष (पाकर का पेड), अर्जुन नामक वृक्ष, असन (पीत-शाल नामक वृक्ष) मधूक (महुए का पेड) कपित्थ (कैथ का पेड) कुन्द का पेड, जम्बीर (जम्बीरीनीबू का पेड) जम्बु (जामुन का पेड) कुटजवृक्ष, इगुदी का वृक्ष, कुब्जक वृक्ष, द्राक्षा (दाख का पेड) ईख का पेड, अरिष्ट (रीठा का वृक्ष) पनस (कटहर का वृक्ष) पारिजात (कल्पवृक्षविशेष या हार सिंहार का पेड) अश्वत्थ (पीपल)

रात्रौ हुताशनशिखा इव भान्ति यस्मि-,न्नोषध्य आत्मसुषमा-परिशोभमानाः।
केचिन्निवाससदृशा इह भान्ति देशा, उद्यानभूमिसदृशा अपरे विभान्ति ॥३२॥
वापीषु यत्र जलकुक्कुट-चक्रवाकाः, कूजन्ति सारसकुलान्यपि हंससंघाः।
संचारतोऽपि खलु कच्छप-मत्स्यकानां,खेलन्ति वा विविधपद्मदलान्ति भान्ति।३३
भूमौ यत्र मुहुर्नता व्रततय. शोभा कदम्बादिभि-
मन्दः शीतलतायुतोऽपि पवन सौगन्ध्ययुक्तस्तथा।
यत्राऽऽयाति हि सेवितुं सखियुतं रामानुजं साग्रज
नृत्यं यत्र च केकिनो विदधते केकां तथा कुर्वते ॥३४॥

शाल का वृक्ष, वटवृक्ष पीलु शिरीष (सिरस का पेड) नीम, रम्भा (केला का वृक्ष) अभय (खश का पेड) अभया (हर्रे का पेड) आमलक (आंवले का पेड) कीचक (बांस) बीजपूर (बिजौरा नीबू का पेड) लोध, अशोक, तिलक (लोध या मारवक वृक्ष) नारिकेल (नारियल का पेड) ॥२६-३१॥

एवं जिस गोवर्धन मे, अपनी स्वाभाविकी परम शोभा से चारों ओर स्वय सुशोभित-औषधियां, रात के समय, अग्नि की शिखाओं की तरह चमकीली प्रतीत होती है। और इस गोवर्धन मे कोई कोई स्थान तो, निवास करने योग्य घरों जैसे प्रतीत होते हैं तथा कोई कोई स्थान, मानो विहार करने योग्य बगीचाओं जैसे मालूम पड़ते है ॥३२॥

और जिस गोवर्धनमे, बावड़ियोंमे, जलके मुर्गे, चकवा-चकवी, झुण्ड के झुण्ड सारस और हंसों के समूह, सुमधुर ध्वनि करते रहते है। और कछुआ एवं मछलियों के इधर उधर चलने के कारण हिलते हुए, अनेक प्रकार के कमलों के पत्र, मानो आपस मे खेल खिलवाड़ सा ही कर रहे हैं ऐसे प्रतीत होते हैं ॥३३॥

और लताएं जहांपर बारम्बार झुककर स्वय ही पृथ्वीपर आ रही हैं; मानो वे अपने पत्र-पुष्प एवं फलादिकों से, अपने प्यारे श्यामसुन्दर के चरणों का पूजन ही कर रही है। एवं जिस गोवर्धन मे, कदम्ब आदि अनेक प्रकार के वृक्षों के द्वारा भारी शोभा मालूम पड़ती है; एवं जहांपर सखामण्डल तथा बड़े भैया श्रीबलराम के सहित विराजमान श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिये, शीतल, मन्द, सुगन्धमय त्रिविध वायु प्रतिक्षण प्रवाहित रहता है। तथा जिसकी सुहावनी शिखरों पर मयूरगण, नाचते रहते हैं और सुमधुर बोलियां भी बोलते रहते हैं (इस चौंतीसवें श्लोक से चालीसवें श्लोक तक 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है)॥३४॥

वाचो यत्र हरा हृदोऽभिदधते वृक्षेषु नीडोद्भवा
गानं पुष्पलिहो मुदा विदधते गावश्च शष्पादनम् ।
बाला गोपगणस्य निर्झरजले क्रीडां मुदाकुर्वते
कासारैरुपशोभते सकमलैः पर्यन्तभूमौ स्थितैः ॥३५॥
सौन्दर्यं किल साग्रजस्य च हरे र्दृष्ट्वा मृगाणा स्त्रियो
मुग्धीभावमुपेत्य चाऽऽननगतं शष्पं कदा निर्गतं ।
विस्मृत्यैतदपीक्षणैरनिमिषैः पश्यन्ति रूपं मुहु-
र्लोकेशेश-शचीपतिप्रभृतिर्देवैश्च यो वन्दितः ॥३६॥
यत्राऽऽस्ते किल मानसीति विदिता श्रेयस्करी जाह्नवी
शोभां दीपकमालिकादिनगतामालोक्य ताराधिपः ।
नक्षत्रैः सहितं नभः क्षितिगतं जानान एवाऽपि च
स्वामल्पां सुषमां विचार्य नितरां नोदेति तस्मिन् दिने ।३७।
सन्तो यस्य समासते च परितो वैराग्यवन्तो भृश
येषां दर्शनतोऽप्ययाति दुरितं वातेन मेघा इव ।
यत्र श्रीहरिरग्रजेन सहितः कुञ्जेषु शेते मुदा
पुष्पैः कोमल - पल्लवैर्विरचिते सिंहासने मित्रकैः ॥३८॥

और अनेक प्रकार के वृक्षोपर बैठे हुए पक्षीगण जहाँ पर, मनोहर बोलियाँ बोलते रहते हैं, पुष्पोपर बैठे हुए भ्रमरगण, जहाँपर सङ्गीत-सम्मेलन करते रहते है, एव गैयाएँ कोमल-कोमल घास चर रही हैं, झरनों के जल मे छोटे छोटे गोप बालक जहाँपर प्रेमपूर्वक क्रीड करते रहते है, पास की भूमि मे वर्तमान एव कुमुद, उत्पल आदि अनेक प्रकार के कमलों से युक्त सरोवरो के द्वारा जो सुशोभित है ॥३५॥

और जहाँपर श्रीबलदेव सहित श्रीकृष्णचन्द्र के भुवन-मनोहर सौंदर्य को देखकर, हरिणियाँ मुग्ध होकर, अपने मुख मे वर्तमान तृण, कब निकल कर गिर पड़ा' इस बात को भी भूलकर, निमेष रहित नेत्रो से वारम्बार टकटकी लगाकर रूपमाधुर्य का ही पान कराती रहती है, एवं जो गोवर्धन, ब्रह्मा, शकर एव इन्द्रादि देवो से वन्दित है ॥३६॥

और जहाँपर, सर्वजन कल्याण कारिणी वह 'मानसी-गङ्गा' विराज-है कि, जिसपर दिवाली के दिन, इतनी शोभा होती है कि, जिसको देखकर चन्द्रमा भी "आकाशमण्डल, तारागणो से सहित पृथ्वीपर ही चला गया है क्या ?" ऐसा मानता हुआ, एव अपनी परम शोभा को भी बहुत थोडी विचारकर मानो सकोच वश ही उस दिन उदय नही होता ॥३७॥

वनाऽऽयाति हरिर्बलेन सहितो गोचारणार्थं तथा
चित्ताकर्षणकारकैश्च परितो य शोभते गह्वरै ।
एकीभूय विहाय वैरमपि चाऽल सचलतो मिथ.
शोभा यस्य वितन्वते हि परित सर्वेऽप्यरण्योद्भवा ॥३९॥
एव भूतगिरौ वरे हरिरहो गोवर्धनाख्ये कदा
शष्प वत्सगणेन सकवलयन्तीर्दूरगा गा समम् ।
प्रत्यावर्तयितु सुधाक्तवचसा माऽऽज्ञापयेद् हर्षित
प्रत्यावर्तित-गोगण च हि कदा माऽऽलिङ्ग्य श दास्यति ॥४०॥
परिक्रमणकाले य पौरुषेयेण सर्वत ।
परिक्रमितुमायात सिन्धुरेवेति ज्ञायते ॥४१॥
एतादृशे गिरिवरे चारयिष्याम्यह कदा ।
साग्रजेन समित्रेण श्रीकृष्णेन सम हि गा ॥४२॥

और वायु के वेग से वादलो की तरह, जिनके दर्शनमात्र से ही पाप नष्ट हो जाते है, इस प्रकार के महान् विरक्त सन्त, जिसके चारो ओर निवास करते हैं। और जहाँपर निकुञ्जो मे मित्रो द्वारा, कोमल पत्र पुष्प आदि से बनाये हुए सिंहासनपर, श्रीकृष्ण, बड़े भैया श्रीबलदेव जी के सहित आनन्दपूर्वक शयन करते हैं ॥३८॥

और जहाँपर श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी के सहित प्रतिदिन गैया चराने को आते हैं, चित्ताकर्षक गुफाओ के द्वारा जो चारो ओर से शोभायमान है और सरल एव प्रेमी स्वभाववाले झुण्ड के झुण्ड वन के सभी जन्तु, इकट्ठे होकर, परस्पर के स्वाभाविक वैर को छोड़कर चलते हुए, जिसकी चारो ओर से शोभा बढाते रहते हैं ॥३९॥

इस प्रकार के पर्वत श्रेष्ठ श्रीगोवर्धन मे, वत्सगणो के सहित, कोमल कोमल घास चरती हुई अतएव दूर पहुँची हुई गैयाओ को लौटाने के लिये, श्रीकृष्णचन्द्र मुझे कब आज्ञा देंगे । और मैं जब गैयाओं को लौटाकर ले आऊँगा तब मुझे पुरस्काररूप मे आलिङ्गन देकर सुख प्रदान करेंगे। हाय! ऐसा दिन कब आयेगा ? ॥४०॥

और जो गिरिराज, परिक्रमा करने के समय, चारो ओर पुरुषों के समूह से घिरकर ऐसा प्रतीत होता है कि, मानो समुद्र ही परिक्रमा देने आया है क्या ? ऐसे श्रीगिरिराज गोवर्धन मे, मैं, दाऊ दादा एव मित्रो की मण्डली से युक्त श्रीकृष्णचन्द्र के साथ, कब गैया चराया करूँगा ? (इन दो श्लोकों मे 'अनुष्टुप्' छन्द है) ॥४१ ४२॥

एवं विलोक्य गिरिराजमसौ समन्तात्, तातप्यमानहृदयो विरहज्वरेण ।
श्रीकृष्णदर्शनमपेक्ष्य विनम्रमूर्धा, तुष्टाव कृष्णवपुषस्तमभिन्नरूपम् ॥४३॥

श्रीगोवर्द्धन-स्तुतिः

श्रीकृष्णचन्द्रभुजदण्डवरे विराजन्, सप्ताहमिन्द्रकृतवर्षभयाद् व्रजस्य ।
रक्षां विधाय दलितेन्द्रकृताभिमान ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥४४॥

आविर्भवन् प्रकटरूपतया हरिस्त्वां, प्राभक्षयत् सुबहु गोपकुलार्पितान्नम् ।
तुष्टस्त्वमाशु वरहर्षितगोपलोक ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥४५॥

पापक्षयाय धृतमानसजाह्नवीक ! फुल्लद्रसालकुलकोकिलकाकलीक !
राधासर प्रभृति-दीर्घजलाशयाढ्य ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम्॥४६॥

इस प्रकार की शोभावाले श्रीगिरिराज को चारों ओर से देखकर, श्रीकृष्ण के विरहरूप ज्वर से सन्तप्त हृदयवाला वह हरिप्रेष्ठ, श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा करके, एवं अपना मस्तक झुकाकर, श्रीकृष्ण के अभिन्न शरीरस्वरूप उन श्रीगिरिराज की स्तुति करने लग गया।(इस तेतालीसवें श्लोक से, बावनवें श्लोक तक 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥४३॥

श्रीगोवर्धन की स्तुति

हे गिरिराज महाराज श्रीगोवर्द्धन ! आप तो, श्रीकृष्णचन्द्र के श्रेष्ठ वामभुजदण्ड पर विराजमान होकर, सात दिन तक इन्द्र के द्वारा की हुई वर्षा के भय से, व्रजमण्डल की रक्षा करके, इन्द्र के अभिमान का दमन करनेवाले हो ? अतः प्रभो ! आपकी शरण में आने हुए मुझको भी शीघ्रही पूर्णमनोरथवाला बना दीजिये ॥४४॥

और साक्षात् प्रकटरूप से अवतीर्ण हुए श्रीकृष्ण ने, श्रीनन्द आदिक बहुत से गोपों के द्वारा अर्पित किये हुए अन्नकूट को आपको खिला दिया। आपने भी शीघ्र ही प्रसन्न होकर, अपने वरदान से सभी गोपों को हर्षित कर दिया था। अतः हे श्रीगोवर्धन। मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४५॥

फूजद्विहङ्गम-कदम्ब-कदम्बशोभ ! नृत्यन्मयूरकुल-शोभितदीर्घ-शृङ्ग !
नीलाम्बुदाभहरिगात्र-समानगात्र ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम्॥४७॥

दर्पं हरेर्दलयता हरिणा बलेन, नन्दादिगोपनिवहै सह पूजिताङ्ग !
अद्याऽपि पूज्यपद! कार्तिकपक्षतौ हे,गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४८॥

कुञ्जैश्च गुञ्जदलिपुञ्जसुमञ्जुपुष्पैं , कृष्णस्य खेलनसुखैं ससखि-व्रजस्य ।
शोभाढ्यगह्वकुलैश्च परीतदेह ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४९॥

छत्रीभवन् हरिकरोपरि स्व यथार्थं,नामाऽकरोस्त्वमपि गोकुलवर्धनाद् वा ।
धातुव्रजैरपि च दीपितसानुभाग ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥५०॥

और आप,सुमधुर ध्वनि करनेवाले पक्षिगणो से युक्त,कदम्बो के द्वारा सुशोभित हो। और आपके ऊँचे शिखर, नाचनेवाले मयूरगणो से सुशोभित है। और आपका शरीर, नीलमेघ के समान शरीरवाले श्रीकृष्ण के शरीर के समान ही है। अत हे श्रीगोवर्द्धन। मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४७॥

श्रीकृष्ण-बलदेव ने, इन्द्र के दर्प (गर्व) का दलन करने के लिये ही, श्रीनन्दादि गोपो के समुदाय के सहित, आपके श्रीविग्रह का पूजन किया था। श्रीकृष्ण के द्वारा चलाया हुआ वही गोवर्धन-पूजन, कार्तिक की शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा को आज भी चला आरहा है। अत हे श्रीगोवर्धन। मुझ को भी शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ वाला बना दीजिये ॥४८॥

और आपका सम्पूर्णशरीर, उस प्रकार की निकुञ्जों से परिपूर्ण है कि, जो निकुञ्ज, गुञ्जार करनेवाले भ्रमर गणो से एव सुमनोहर पुष्पो से युक्त है, तथा सखामण्डल के सहित श्रीकृष्ण को खेलने के लिये सुखदायक है, तथा आपका शरीर, सखाओ के सहित श्रीकृष्ण के 'आँख मिचौनी' आदि खेलो के योग्य एव परमशोभा से युक्त गफाओ की श्रेणि से व्याप्त है। अत हे श्रीगोवर्धन। श्रीकृष्ण के साथ खेलना-रूप मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४९॥

श्रीकृष्ण के करकमलपर छत्राकाररूप से विराजमान होकर अतएव सूय की गोकुल (किरणो की श्रेणि) का वर्धन(छेदन) करने के कारण, अथवा गोकुल (गोश्रेणि) को वर्धन (वृद्धि) के कारण ही, आपने अपना 'गोवर्धन' नाम, यथार्थ-सत्य करके दिखा दिया। और आपकी शिखरो के सभी विभाग, अनेक प्रकार की धातुश्रेणि से प्रकाशित है। अत प्रभो। मुझे भी शीघ्र ही पूर्णमनोरथवाला बना दीजिये ॥५०॥

एव विलोक्य गिरिराजमसौ समन्तात्, तातप्यमानहृदयो विरहज्वरेण ।
श्रीकृष्णदर्शनमवेक्ष्य विनम्रमूर्धा, तुष्टाव कृष्णवपुषस्तमभिन्नरूपम् ॥४३॥

श्रीगोवर्द्धन-स्तुतिः

श्रीकृष्णचन्द्रभुजदण्डवरे विराजन्, सप्ताहमिन्द्रकृतवर्षभयाद् व्रजस्य ।
रक्षां विधाय दलितेन्द्रकृताभिमान ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४४॥

आविर्भवन् प्रकटरूपतया हरिस्त्वां, प्राभक्षयत् सुबहु गोपकुलार्पितान्नम् ।
तुष्टस्त्वमाश वरहर्षितगोपलोक ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४५॥

पापक्षयाय धृतमानसजाह्नवीक ! फुल्लद्रसालकुलकोकिलकाकलीक !
राधासर प्रभृति-दीर्घजलाशयाढ्य ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम्॥४६॥

इस प्रकार की शोभावाले श्रीगिरिराज को चारो ओर से देखकर, श्रीकृष्ण के विरहरूप ज्वर से सन्तप्त हृदयवाला वह हरिप्रेष्ठ, श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा करके, एव अपना मस्तक झुकाकर, श्रीकृष्ण के अभिन्न शरीरस्वरूप उन श्रीगिरिराज की स्तुति करने लग गया ।(इस तैतालीसवें श्लोक से, बावनवें श्लोक तक 'वसन्ततिलका' छन्द हैं) ॥४३॥

श्रीगोवर्धन की स्तुति

हे गिरिराज महाराज श्रीगोवर्द्धन ! आप तो, श्रीकृष्णचन्द्र के श्रेष्ठ वामभुजदण्ड पर विराजमान होकर, सात दिन तक इन्द्र के द्वारा की हुई वर्षा के भय से, व्रजमण्डल की रक्षा करके, इन्द्र के अभिमान का दमन करनेवाले हो ? अत प्रभो ! आपकी शरण मे आने हुए मुझको भी शीघ्रही पूर्णमनोरथवाला बना दीजिये ॥४४॥

और साक्षात् प्रकटरूप मे अवतीर्ण हुए श्रीकृष्ण ने, श्रीनन्द आदिक बहुत से गोपो के द्वारा अर्पित किये हुए अन्नकूट को आपको खिला दिया । आपने भी शीघ्र ही प्रसन्न होकर, अपने वरदान से सभी गोपो को हर्षित कर दिया था । अत' हे श्रीगोवर्धन । मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४५॥

और आप तो, स्नान करने वाले जनमात्र के पापो का विनाश करने के लिये श्रीमानसी गगा को धारण किये हुए हो । और आपके ऊपर खिले हुए आमो की श्रेणियो के ऊपर बैठे हुए कोकिल (कोयल) गण, सुमधुर ध्वनि करते रहते है ! एव आप, श्रीराधाकुण्ड, श्रीकृष्णकुण्ड, कुसुमसरोवर आदि बड़े-बड़े जलाशयो से युक्त हो ! अत प्रभो ! मुझे भी शीघ्र ही पूर्णमनोरथ-वाला बना दीजिये ॥४६॥

कूजद्विहङ्गम-कदम्ब-कदम्बशोभ ! नृत्यन्मयूरकुल-शोभितदीर्घ-शृङ्ग !
नीलाम्बुदाभहरिगात्र-समानगात्र ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४७॥

दर्पं हरेर्दलयता हरिणा बलेन, नन्दादिगोपनिवहै सह पूजिताङ्ग !
अद्याऽपि पूज्यपद! कार्तिकपक्षतौ हे,गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४८॥

कुञ्जैश्च गुञ्जदलिपुञ्जसुमञ्जुपुष्पै , कृष्णस्य खेलनसुखै ससखि-व्रजस्य ।
शोभाढ्यगह्वकुलैश्च परीतदेह ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥४९॥

छत्रीभवन् हरिकरोपरि स्व यथार्थं,नामाऽकरोस्त्वमपि गोकुलवर्धनाद् वा ।
धातुव्रजैरपि च दीपितसानुभाग ! गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथ माम् ॥५०॥

और आप,मुमधुर ध्वनि करनेवाले पक्षिगणो से युक्त,कदम्बों के द्वारा सुशोभित हो। और आपके ऊँचे शिखर, नाचनेवाले मयूरगणो से सुशोभित है ! और आपका शरीर, नीलमेघ के समान शरीरवाले श्रीकृष्ण के शरीर के समान ही है । अत हे श्रीगोवर्द्धन । मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४७॥

श्रीकृष्ण-बलदेव ने, इन्द्र के दर्प (गर्व) का दमन करने के लिये ही, श्रीनन्दादि गोपों के समुदाय के सहित, आपके श्रीविग्रह का पूजन किया था । श्रीकृष्ण के द्वारा चलाया हुआ वही गोवर्धन-पूजन, कार्तिक की शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा को आज भी चला आरहा है । अत हे श्रीगोवर्धन ! मुझ को भी शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ वाला बना दीजिये ॥४८॥

और आपका सम्पूर्णशरीर, उस प्रकार की निकुञ्जों से परिपूर्ण है कि, जो निकुञ्ज, गुञ्जार करनेवाले भ्रमर गणो से एव सुमनोहर पुष्पों से युक्त हैं, तथा सखामण्डल के सहित श्रीकृष्ण को खेलने के लिये सुखदायक हैं, तथा आपका शरीर, सखाओं के सहित श्रीकृष्ण के 'आँख मिचौनी' आदि खेलो के योग्य एव परमशोभा से युक्त गुफाओ की श्रेणि से व्याप्त है । अत हे श्रीगोवर्धन ! श्रीकृष्ण के साथ खेलना-रूप मेरे मनोरथ को भी शीघ्र ही पूर्ण कर दीजिये ॥४९॥

श्रीकृष्ण के करकमलपर छत्राकाररूप से विराजमान होकर अतएव इन्द्र की गोकुल (गिरिगो की श्रेणि) का वर्धन(छेदन) करने के कारण, अथवा गोकुल (गोश्रेणि) की वर्धन (वृद्धि) के कारण ही, आपने अपना 'गोवर्धन' नाम, यथार्थ-सत्य करके दिखा दिया । और आपके शिखरों के सभी विभाग, अनेक प्रकार की धातुश्रेणि से प्रकाशित हैं। अत प्रभो , मुझे भी शीघ्र ही पूर्णमनोरथवाला बना दीजिये ॥५०॥

यः पूजितो विधिगिरीशमहेन्द्र-मुख्यैं
देवैश्च तेन हरिणा परिपूजिताऽङ्घ्रे !।
कस्तेऽद्रिराज ! महिमानमतो ब्रवीतु
गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥५१॥

गोवर्धनाऽष्टकमिदं कृतधीर्मनुष्य
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
गोवर्धनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो
भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ॥५२॥

श्रीगोवर्धनतो वर-प्रार्थना

ममैषा विज्ञप्तिः पदकमलयोस्ते गिरिमणे !
तवोपान्ते क्रीडां रचयति तथा चारयति गाः।
सदा गोपैं साकं तव प्रियविधानाय यतते
तमेवाऽद्याऽस्माकं नयनपदवीं प्रेषय हरिम् ॥५३॥

इति स विधुरो वारं वारं प्रणम्य च तं गिरिं
तदनु परितः कुर्वन् प्रेम्णा सतामवलोकनम्।

जो श्रीकृष्ण, ब्रह्मा-शिव-महेन्द्र आदि देवताओं के द्वारा पूजे जाते हैं, हे प्रभो ! आपके श्रीचरण तो, उन्हीं श्रीकृष्ण के द्वारा सर्वतोभाव से पूजित हुए हैं ! अतः हे श्रीगिरिराज महाराज ! आपकी महिमा को कौन कह सकता है? इसलिये मेरे मनोरथको भी शीघ्र ही पूर्ण कर ही दीजिये ॥५१॥

विशुद्धिबुद्धिवाला जो कोई व्यक्ति, इस 'श्रीगोवर्धनाष्टक का श्रद्धापूर्वक श्रवण करेगा अथवा पाठ करेगा, वह व्यक्ति, श्रीगिराज महाराज की कृपा से, भूमि में समस्त भोगों को पाकर, अन्त में श्रीहरि की प्रीति का पात्र बन जायगा ॥५२॥

श्रीगोवर्धन से वर की प्रार्थना

हे श्रीगिरिराज महाराज ! आपके श्रीचरणकमलों मे मेरी तो यही विज्ञप्ति (निवेदन) है कि, आज मेरे नेत्रों के मार्गमे मेरे प्यारे उन्ही श्रीकृष्ण को भेज दीजिये कि, जो आपके निकट सदैव क्रीडा करते रहते है एव गैया चराते हैं। और सभी गोपों के सहित, आप की प्रसन्नता करने के लिये ही प्रयत्न करते रहते है (इस श्लोक में 'शिखरिणी' छन्द है) ॥५३॥

इस प्रकार विरह से व्याकुल हुआ वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगिरिराज को बारम्बार प्रणाम करके, पश्चात् श्रीगिरिराज के चारों ओर रहनवाले सन्तों

हरिपदयुगं स्मारं स्मारं चकार प्रदक्षिणं
विरहविधुरं दुःखं दातुं च प्रावृडवर्तत ॥५४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
श्रीगुरोरुपदेशेन पुनरपि पठन-प्रयासाद्यनेकविषय
वर्णनं नामैकादशः सर्गः सम्पूर्णः ॥११॥

अथ द्वादशः सर्गः

प्रावृड्-वर्णनम्

अथाऽऽगता प्रावृडतीव शोभना, समस्त - सत्त्वोद्भवकारिणी च या ।
विभासमानेन्द्रधनुर्गुणेन च, नभस्तत मेघगणैर्विचुक्षुभे ॥१॥

सुनीलमेघैस्तडिता च गर्जितै-, र्गुणैर्वृतं ब्रह्म यथा बभौ नभः ।
समीरिताश्चण्डनभस्वता घना, दयालवो वा मुमुचुः स्वजीवनम् ॥२॥

का प्रेमपूर्वक दर्शन करता हुआ एवं अपने हृदय में श्रीहरि के दोनों चरणों का स्मरण करता-करता, परिक्रमा करने लग गया। इस प्रकार मानो श्रीकृष्ण के विरह से विकल हुए उसको दुःख देने के लिये ही उसी समय वर्षा ऋतु भी प्रवृत्त हो गयी (इस श्लोक में 'हरिणी'-नामक छन्द है)॥५४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहित
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये श्रीगुरोरुपदेशेन पुनरपि पठन-प्रयासाद्यनेक-
विषय-वर्णन नाम एकादश सर्ग सम्पूर्ण ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

वर्षा ऋतु का वर्णन

उसके बाद, अतिशय शोभायमान वर्षा ऋतु आ गई। वह वर्षा ऋतु सभी प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति या वृद्धि करनेवाली होती है। एवं वह ऋतु, आकाश में छाये हुए इन्द्र धनुष के गुण के द्वारा विशेष प्रकाशित हो गयी तथा आकाश-स्थल, मेघगणों के द्वारा क्षुभित हो उठा। (इस सर्ग में, बाईसवें श्लोक तक 'वंशस्थ' छन्द है) ॥१॥

सुन्दर नील नीले मेघों से घिरा हुआ एवं बिजलियों की गर्जनाओं से भरा हुआ आकाश, उस प्रकार सुशोभित हो गया कि, जिस प्रकार सतो गुण, रजोगुण, तमोगुण से घिरा हुआ जीव नामक ब्रह्म सुशोभित होता है। और प्रचण्ड वायु के द्वारा प्रेरित हुए मेघ, अपने जीवन (जल) का उस प्रकार छोड़ने लगगये कि, जिस प्रकार दधीचि ऋषि एवं जीमूतवाहन आदि

पतस्विनः कामनया तपस्यत, कृश शरीर हि यथा तदाप्तिके।
विभाति पीनत्वमुपेत्य प्रावृषा, तथा बभौ भूरपि शष्पशालिनी ॥३॥
विभान्ति खद्योतगणा निशामुखे, घनाऽन्धकारेण न चन्द्र - तारकाः।
अघेन पाखण्डिपथा यथा कलौ, न वेद-मार्गा शुभदा सनातना ॥४॥
निशम्य मण्डूकगणा घनस्वन, स्वनन्ति दीर्घं वटवो यथा श्रुतिम्।
विहाय मार्गं सरितोऽल्पका ययु-, र्यथा स्वतन्त्रस्य हि सर्वसम्पद ॥५॥
मही च शष्पै - र्हरितेन्द्रगोपकैः, सुलोहिता छत्रकमण्डलाऽऽवृता।
पताकिनी नूतनपत्रमण्डलै-, र्बभौ नृपाणामिव शोभना चमू ॥६॥

परमदयालुजन, पीडित प्राणियो की प्रार्थना से, अपने जीवन (प्राण) को भी छोड देते है ॥२॥

और देखो, कामना से तपस्या करनेवाले तपस्वी का शरीर, पहले तपस्या से कृश होकर, पुन उस कामना की प्राप्ति हो जानेपर जिस प्रकार मोटा होकर शोभा पाता है, ठीक उसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप से परमक्षीण हुई भूमि भी, उस वर्षा ऋतु के द्वारा हरो-भरी घास के द्वारा सुशोभित होकर प्रकाशित हो गयी ॥३॥

उस समय, प्रदोष-काल मे, घने अन्धकार के कारण, जुगनुओ के समूह तो प्रकाशित हो रहे थे, किन्तु चन्द्रमा एव ताराओ के समूह तो प्रकाशित नही हो रहे थे। इस विषय मे यही दृष्टान्त है कि, कलियुग मे, पाप की प्रबलता के कारण, पाखण्डियो के पन्थाओ का प्रचार जिस प्रकार बढता रहता है, उस प्रकार सर्वसाधारण जनमात्र के मङ्गलप्रद-सनातनी वेद मार्गो का प्रचार नही हो पाता ॥४॥

नित्य-नियम से निवृत्त होकर गुरुदेव के आदेशानुसार ब्रह्मचारी लोग जिस प्रकार वेदो की ध्वनि करने लग जाते है, ठीक उसी प्रकार मेघो की गर्जना को सुनकर मेढकगण भी ऊँचे स्वर से टर्र-टर्र करने लग गये। स्वतन्त्र अर्थात् अजितेन्द्रिय व्यक्ति की सारी सम्पत्तियाँ जिस प्रकार कुमार्ग मे ही लग जाती है, उसी प्रकार छोटी-छोटी नदिया, मार्ग को छोडकर चारो ओर बह चली ॥५॥

उस समय, हरी-हरी घासो के द्वारा हरे रगवाली, एव बीरबहूटियो के द्वारा लाल रगवाली, तथा बरसाती छत्तो (सफेद कुकुरमुत्तो) के द्वारा आवृत (ढकी) हुई पृथ्वी, उस प्रकार से शोभा पाने लगी कि, जिस प्रकार नये-नये वाहनो के द्वारा चारो ओर से घिरी हुई एव अनेक प्रकार की पताकाओवाली, राजाओ की परम शोभायमान सेना शोभा पाती है ॥६॥

कृषीवलानां मुदमादधुश्चिरं, वप्राणि पूर्णानि च सस्य - सम्पदा ।
सुतापयन्ति स्म धनाढ्यमानुषा-, नजानतोऽधीनमिदं विधेरिति ।।७।।
क - सेवयाऽऽसन् हि जलस्थलौकस , सुरूपभाजो हरि - सेवया यथा ।
चिक्षुभे सिन्धुरर सरिद्गणै-, र्मनोऽप्सरोभिश्च यथा कुयोगिन ।।८।।
न हन्यमाना अपि वर्ष - विन्दुभि-, र्निरन्तरं शैलगणाश्चकम्पिरे ।
खलोक्तिभिर्वा व्यसनैरनेकधाऽभिभूयमाना इव कृष्णचेतस ।।९।।
असस्कृता दीर्घतृणैर्वृतास्तथा, सुदुर्गमा मार्गगणास्तदाऽभवन् ।
भवन्त्यनभ्यासवशेन दुर्गमा, द्विजैर्यथा कालहता श्रुतिव्रजाः ।।१०।।
न विद्युतश्चञ्चलसौहृदा स्थितिं, घनेषु चक्रु: किल सर्व - बन्धुषु ।
उदात्तवृत्तिष्वपि वा गुणिष्वपि, नरेषु कामिन्य इवाति - साहसा ।।११।।

और देखो, अनेक प्रकार के अनाजो की सम्पत्ति मे परिपूर्ण हुए खेत, किसानो के लिये चिरस्थायी आनन्द देने लग गये । "परन्तु यह सब कुछ प्रारब्ध के अधीन है" इस बात को न जाननेवाले, धनिक पुरुषो को, वे ही खेत, विशेष सतप्त करने लग गये कि, हाय ! अब हम, इन किसानो को, अपने पजे मे कैसे रख सकेंगे ? ।।७।।

और देखो, भक्तजन, श्रीहरि की सेवा से जिस प्रकार सुन्दररूपवाले हो जाते है उसी प्रकार, बरसाती जल के सेवन से सभी प्रकार के जलचर एव स्थलचर प्राणी सुन्दररूपवाले हो गये । एव कुयोगी व्यक्ति का मन, जिस प्रकार अप्सराओ के द्वारा क्षुभित हो जाता है, उसी प्रकार बरसाती नदियो के समूहो के द्वारा, समुद्र भी शीघ्र ही क्षुभित हो उठा ।।८।।

और देखो, अपने मन को श्रीकृष्ण मे लगानेवाले सज्जन व्यक्ति, दुष्टजनो की उक्तियो के द्वारा, एव अनेक प्रकार के दु खो के द्वारा, अनेक प्रकार से तिरस्कृत होकर भी, जिस प्रकार कम्पित नही होते हैं, उसी प्रकार बरसाती बूँदो के द्वारा निरन्तर ताडित होनेपर भी पर्वतगण, किंचित् भी कम्पित नही हुए ।।९।।

और देखो, अभ्यास न करने के कारण, काल के द्वारा विनष्ट हुए वेदो के समूह जिस प्रकार द्विजाति-मात्र के लिये अगम्य हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार, उस वर्षा ऋतु के समय मे, जो मार्ग कभी साफ नहीं किये जाते थे वे सब, लम्बी-लम्बी घासो के द्वारा ढक जाने के कारण, भारी अगम्य हो गये । अर्थात् वे पहचानने भी कठिन हो गये ।।१०।।

और देखो, अतिशय साहसवाली कामनियाँ, परम उदार स्वभाववाले एव गुणी पुरुषो मे भी स्थित नही रहती अर्थात् उनके निकट भी जिस प्रकार

घनस्वनैं पूर्णतमे नभस्तले, विभासते शक्रधनुश्च निर्गुणम् ।
यथा प्रपञ्चेऽप्यगुणो गुणव्रजे, ह्यनन्तलीला - पुरुषोत्तमो हरिः ॥१२॥

रराज राजा न घनाघनैर्वृतः, प्रकाशितश्चन्द्रिकया स्वकीयया ।
यथाऽऽत्मभा - भासितयाऽप्यहंधिया, प्रकाशरूपः पुरुषोत्तमो हरिः ॥१३॥

विलोक्य मेघान् ननृतु शिखण्डिनो, ननन्दुरारात् प्रियदर्शनात् तथा ।
गृहेषु तप्ता इति रागवञ्चिता, यथेह नन्दन्ति हरिप्रियाऽऽगमात् ॥१४॥

निपीय पद्भिः सलिलं च पादपा, अनेकरूपा भुवि सचकाशिरे ।
तप कृशाः पूर्वमतः श्रमं गता, यथाऽऽप्तकामा मुनयो वन गताः ॥१५॥

स्थिर नही रह पाती, ठीक उसी प्रकार चचल मित्रतावाली विजलियाँ भी भी, उस समय, प्राणीमात्र के मित्र-स्वरूप मेघो मे स्थिति नही कर रही थी ॥११॥

और देखो, तीनो गुणो से बने हुए इस प्रपञ्चमय जगत् मे, प्राकृत गुणो से रहित एव अनन्त दिव्य लीलाओ के रचयिता पुरुषोत्तम श्रीहरि भी जिस प्रकार सुशोभित हो जाते है, उसी प्रकार बादलो की गर्जना से परिपूर्ण आकाश मे, निगुण (बिना डोरीवाला) इन्द्र धनुष भी सुशोभित हो गया ॥१२॥

और देखो, अपनी प्रभा के द्वारा भासित की गई अहकारमयी बुद्धि के द्वारा, ढके हुए स्वत प्रकाशस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीहरि भी जिस प्रकार प्रकाशित नही हो पाते, ठीक उसी प्रकार विशेष बरसा करनेवाले बादलो से ढका हुआ राजा (चन्द्रमा), उस समय अपनी चाँदनी के द्वारा प्रकाशित होकर भी सुशोभित नही हो रहा था ॥१३॥

और देखो, आसक्ति के द्वारा ठगे हुए एव तीनो तापो से तपे हुए गृहस्थी लोग भी, इस ससार मे, श्रीहरि के प्यारे भक्तो के आगमन से, जिस प्रकार प्रसन्न हो जाते है, उसी प्रकार उस समय, मयूरगण भी, अपने निकट आये हुए अपने प्यारे मेघो को देखकर नाचने लग गये ॥१४॥

और देखो, वन मे रहनेवाले मुनिजन, कामना से तप करने के कारण पहले तो कृश हो जाते है, अतएव श्रम को प्राप्त होकर भी अपनी कामना के प्राप्त हो जानेपर जिस प्रकार पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार, सभी वृक्ष, अपनी जडो से बरसाती जल पीकर, अनेक रूपवाले होकर भूतलपर प्रकाशित हो गये ॥१५॥

अशान्तरोधस्सु सरित्सरस्सु च, समूपुरप्कुक्कुट - चक्र - सारसा ।
अशान्तहृत्स्येषु गृहेषु नित्यशो, दुराशया ग्राम्यजना यथाऽऽसते ॥१६॥

प्रवर्षतीन्द्रे पयसा कदम्बकं-, र्बलादभिद्यन्त हि सेतवो दृढा ।
दुराशयं पण्डितमानिभिर्नरैं, कलौ कुतर्कं श्रुतिसेतवो यथा ॥१७॥

घनाघना वातसमीरिता मुदा, समस्तभूतेभ्य इवाऽमृत ददु ।
यथा प्रजानामखिलान् मनोरथान्, द्विजेरिता भूपतयो दयालव ॥१८॥

समीपमागत्य भुव पयोधरा, नमन्ति वर्षन्ति बुधा इवाऽर्यका ।
जवाऽर्कवृक्षा अपि पत्र - हीनता, ययु सुराज्ञीव शठा वृथोद्यमा ॥१९॥

और देखो, अशुद्ध हृदयवान विषयी ग्रामीणजन, नित्य ही अशान्त हृदयोंवाले घरो में भी जिस प्रकार पड़े रहते हैं, उसी प्रकार, कांटे, कीचड़, एव जल के बहाव के कारण प्राय अशान्त रहनेवाले नदी एव सवोवरो के तीरोंपर भी जल के मुर्गे, चकवा-चकवी एव सारस आदि पक्षी, निवास कर रहे थे ॥१६॥

और देखो, कलियुग मे, बुरे अन्त करणवाले अतएव पण्डित न होकर भी अपने को पण्डित माननेवाले नास्तिक मनुष्यो के द्वारा, उनकी कुतर्को से, वेदा की मर्यादायें जिस प्रकार टूट जाती है, उसी प्रकार उस वर्षा मे, इन्द्र के वर्षा करने पर, नदियो के एव खेतो के दृढतर बांध भी जल-समूहों के द्वारा, बल पूवक टूट गये ॥१७॥

और देखो, विद्वान् ब्राह्मणो के द्वारा प्रेरित हुए दयालु राजागण, जिस प्रकार प्रजाओ के सभी मनोरथो को देते रहते हैं उसी प्रकार वायु के द्वारा प्रेरित किये हुए घनाघन (पानी से भरे हुए काले बादल) सभी प्राणियो के लिये अमृत के समान अपने जल को हर्षपूर्वक देने लग गये ॥१८॥

और देखो, श्रेष्ठ विद्वान् जिस प्रकार विनम्र होते हैं, एव अपने ज्ञानामृत की वर्षा करते रहते हैं ठीक उसी प्रकार वर्षालु बादल भी भूमि के निकट आकर विनम्र हो गये एव वर्षा करने लग गये। एव सुन्दर तथा धर्मात्मा राजा के होते ही, जिस प्रकार दुष्टो का उद्यम, व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार वर्षा ऋतु मे जवासे के वृक्ष, एव आक के वृक्ष भी पत्तो से हीन हो गये। [इस श्लोक मे 'सुराज्ञि' शब्द मे, 'न पूजनात्' इस सूत्र से निषिद्ध हो जाने के कारण, 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इस सूत्र से समासान्त 'टच्'-प्रत्यय नहीं हुआ] ॥१९॥

न चोपराया भुवि रोहति क्वचित्, तृणं सता काम इवाऽमले हृदि ।
वृता च सस्येन मही महीयसी, सुशोभते सम्पदिवोपकारिण· ॥२०॥

सुशोभते जन्तुगणावृता मही, प्रजा यथा राजनि शोभते सति ।
नदीजन स्थैर्यमवाप वारिधौ, यथा हरिं प्राप्य शरीरिणा गणः ॥२१॥

तम. कदाचिन्निविड दिनान्तरे, प्रकाशते क्वापि दिवाकर - प्रभा ।
प्रकाशहीन हि यथा कुसङ्गत, सुसङ्गतो ज्ञानमपि प्रकाशते ॥२२॥

गोवर्धनः सलिल-धौतशिलः सुनीलो,विद्युत्प्रभा-रचितपीतपटोत्तरीयः ।
नृत्यन्मयूर - बकपक्ति-रथाङ्गशंख ,ख वामनोऽपर इवाऽऽक्रमितुं प्रवृत्तः॥२३॥

एव सन्तो के निर्मल हृदय मे जिस प्रकार कामदेव बिल्कुल उत्पन्न नही हो पाता, ठीक उसी प्रकार वर्पा होनेपर भी ऊपर भूमि मे कही भी तृण उत्पन्न नही हुआ। तथा उपकारो व्यक्ति की सम्पत्ति जिस प्रकार परोपकार से सुशोभित होती है, उसी प्रकार पृथ्वी भी, अनेक प्रकार के अनाजो से घिरकर भारी सुशोभित हो गयी ॥२०॥

और देखो, सज्जन राजा के होते ही, जिस प्रकार प्रजा सुशोभित हो जाती है, उसी प्रकार उस समय पृथ्वी भी अनेक प्रकार के बरसाती जन्तु-गणो से ढककर परम सुशोभित हो गयी। एव प्रलयकाल मे, अन्तन प्राणियो का समूह, श्रीहरि को प्राप्त करके जिस प्रकार स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार सभो नदियो का जल, समुद्र मे जाकर स्थिर हो गया ॥२१॥

और देखो, कुसङ्गियो के सङ्ग से, प्रकाश से रहित ज्ञान भी, सुसङ्गियो के सुसङ्ग से जिस प्रकार पुन प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार उस वर्षा ऋतु मे दिन भी, कभी गाढा अन्धकार छा जाता था एव कहीपर कभी-कभी सूर्य की कान्ति भी प्रकाशित हो जाती थी ॥२२॥

एव जिसकी सारी शिलाये, बरसाती जल से घुल गई थी, ऐसा वह गोवर्धन पर्वत, सुन्दर श्यामवर्णवाला दिखाई देने लगा, तथा बिजली की प्रभा से ही मानो उसने पीताम्बर धारण कर लिया था, और अपने शिखरो पर नाचते हुए मयूरगण एव बगुलाओ की पक्ति ही मानो उसके सुदर्शन चक्र तथा शख बन गये थे। अतएव वह गिरिराज, उस समय आकाश को लाँघने के लिये तत्पर हुए, मानो दूसरे वामन भगवान् के समान ही प्रतीत हो रहा था। [इस श्लोक मे, 'वसन्ततिलका' छन्द है, एव 'रूपक' तथा 'उपमा' से अनुप्राणित–'उत्प्रेक्षा' अलकार है] ॥२३॥

श्रीगोवर्धन - शैलराजमभित सर्वे जलैः पूरिताः
शोभन्ते सलिलाशयाः शुभगुणैः पूर्णा यथा सज्जना ।
कासारेषु जलं च धातुमिलितं मण्डूक - शब्दैर्युतं
नाना-धातु - विचित्र-शब्द-सहित काव्यं यथा शोभते ॥२४॥

पक्व खर्जूर - जम्बूभि - विभाति सकलं वनम् ।
दर्शितैर्बहुधानुष्कैः सुराज्ञः पत्तनं यथा ॥२५॥

कदम्बक - कदम्बकैरपि कदम्ब - वृक्षो बभौ
रमा - मिलनतो यथा पुलकितो रमानायक ।
रसालकुलमाचितं लसति पक्वपीतैः फलैः-
स्तपस्विकुलक यथा सफलमाप्तवाञ्छाकुलम् ॥२६॥

और देखो, गिरिराज श्रीगोवर्धन के चारो ओर बरसाती जल से भरे हुए सभी सरोवर, उस प्रकार सुशोभित हो गये कि, जिस प्रकार अनेक शुभ गुणो से परिपूर्ण सज्जन व्यक्ति शोभा पाते है। और अनेक धातुओ के द्वारा बने हुए विचित्र शब्दो से भरा हुआ 'काव्य' जिस प्रकार शोभा पाता है उसी प्रकार, नील, पीत, श्वेत, रक्त आदि अनेक वर्णों की गैरिक आदि धातुओ से मिला हुआ, एव मेढको के शब्दो से युक्त बरसाती जल, श्रीराधा-कुण्ड, श्याम-कुण्ड, कुसुमसरोवर आदि बड़े-बड़े सरोवरो मे भरकर शोभा पाने लगा। [इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है एव 'उपमा'-अलंकार है] ॥२४॥

और देखो, पके हुए खजूर एव जामुन के वृक्षो से भरा हुआ सारा ही वृन्दावन, उस प्रकार सुशोभित हो गया कि, जिस प्रकार कवच पहने हुए बहुत से धनुर्धारियो के द्वारा, सज्जन राजा का नगर सुशोभित होता है। [अत्रापि श्लोके 'सुराज्ञ' इत्यत्र 'न पूजनात्' इति निषेधात् समासान्तो न । इस श्लोक मे 'अनुष्टुप्' छन्द है 'उपमा' अलकार है] ॥२५॥

और देखो, उस समय खिले हुए एव पीली केसरवाले फूलो के समूहो के द्वारा कदम्ब का वृक्ष, उस प्रकार शोभा पाने लगा कि, जिस प्रकार ब्रज की रमा-स्वरूप श्रीराधिका के मिलन मे रोमाञ्चित हुए रमानायक-श्रीकृष्ण, सुशोभित होते हैं। और पककर पीले रङ्गवाले अनेक फलो से भरा हुआ, आम के वृक्षो का समूह, उस प्रकार प्रकाशित हो गया कि, जिस प्रकार सकामी तपस्वियो का समूह, अपनी कामनाओ की प्राप्ति से सफल होकर प्रकाशित हो जाता है। [इस श्लोक मे 'पृथ्वी'-नामक छन्द है] ॥२६॥

भाले शक्रधनुर्लता-तिलकिता तालीफलैः सुस्तनी
विद्युत्तारकिताऽम्बुदाऽम्बरवृता खर्जूरकान्तिच्छटा ।
भेकी-चातक-केकि-सारस-रवैर्मञ्जीरमञ्जुध्वनि-
गाढध्वान्त-सुकुन्तला विजयते मूर्त्तेव वर्षा-वधू ॥२७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
प्रावड्वर्णन नाम द्वादश सर्ग सम्पूर्ण

अथ त्रयोदशः सर्गः

श्रीकृष्ण-दर्शनाय तपश्चरणम्

अथ शैलराजमभिन स चिर, विनिभाल्य वृष्टिसुषमा-ललितम् ।
ललिन तथोद्धवसरोमिलितं, वनमेत्य निर्जनमुवास सुखम् ॥१॥

वह वर्षारूप वधू मानो मूर्तिमान् होकर विजय को प्राप्त हो गयी। वर्षारूप वह वधू, अपने मस्तकपर, इन्द्र के धनुष की लता के द्वारा बने हुए तिलक से युक्त थी, एव पके हुए ताल के फलो के द्वारा ही मानो सुन्दर स्तनोवाली हो रही थी, एव बिजली के द्वारा बने हुए ताराओ से युक्त, काले काले बादलोके वस्त्रोसे ही वह ढकी हुई थी, उसकी छटा, पके हुए खजूरो से बढ रही थी, मेढकी, चातक (पपीहा) मयूर, एव सारस आदिको की सुमधुर ध्वनियो के द्वारा ही मानो, उसके नूपुरो की सुन्दर ध्वनि हो रही थी, तथा गाढा अन्धकार ही मानो उसका सुन्दर केश-कलाप बना हुआ था। [इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है] ॥२७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ महाकाव्ये वर्षा-ऋतु वर्णन नाम
द्वादश सर्ग सम्पूर्ण ॥१२॥

तेरहवाँ सर्ग

श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ तपस्या करना

उसके बाद, वह हरिप्रेष्ठ, वर्षा की परमशोभा से सुन्दर, श्रीगिरिराज महाराज को, बहुत देरतक चारो ओर से निहारकर, एव उद्धव-कुण्ड से सम्मिलित, परमसुन्दर तथा निर्जन-वन मे जाकर सुखपूर्वक निवास करने लग गया (इस सर्ग मे चौदहवें श्लोक तक'प्रमिताक्षरा'-नामक छन्द हैं)॥१॥

अथ तत्र राम - मधुसूदनयो-, रवलोकनाय स चकार तपः।
स्वशरीर-रक्षणकृते सरलां, जगृहे च वृत्तिमपि माधुकरीम् ॥२॥
प्रतिवासरं त्रितयलक्षमित, हरिनाम - जापमकृताऽविरतम्।
सलिलेन यापयति वा दिवसं, लघु - भोजनेन ननु रात्रिमसौ ॥३॥
विरहाऽऽर्ति - पीडितमना नितरां, न कदाचिदन्नमपि भक्षयति।
कृशतामवाप नितरां स तदा, तपसा यथा व्रजति भूमिरपि ॥४॥

श्रीकृष्ण-बलदेवयोर्दर्शनाय प्रार्थना

रटति स्म चातक इवाऽविरतं, घनसुन्दरं पशुपराज - सुतम्।
अयि कृष्ण ! भक्तजन - रञ्जन हे !, समुपेहि वर्त्म मम लोचनयो. ॥५॥
तव दर्शनं वत विना विफल, मम जीवनं व्रजति माधव हे !
सफलो कुरुष्व प्रकटय्य निजं, वपुरात्महारि पथि लोचनयोः ॥६॥
अहमस्मि पापधनवानपि चेत्, त्वमपि प्रसिद्ध इह तस्कररात्।
मम तद्धनं परिहरन् कुरुषे, न कथं यथार्थमिह नाम निजम् ॥७॥

वहाँपर भी वह, श्रीकृष्ण-बलदेव के दर्शनों के लिये तपस्या करने लग गया। एवं उसने, अपने शरीर की रक्षा के लिए भी, अत्यन्त सरल माधुकरी वृत्ति ग्रहण करली। वह प्रतिदिन निरन्तर तीनलाख हरिनाम का जाप करता रहता था। अतएव अपने दिन को तो, जल के द्वारा ही व्यतीत कर देता था, एव रात को भी थोड़े से भोजन के द्वारा ही व्यतीत कर देता था। तथा श्रीकृष्ण-बलदेव के विरह की पीड़ा से विशेष पीड़ित मनवाला वह, कभी कभी तो अन्न भी नही खाता था। अतएव उस समय वह, तपस्या के द्वारा उस प्रकार भारी कृश हो गया था कि, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के द्वारा भूमि भी सूखकर कृश हो जाती है ॥२-४॥

दर्शन के लिये श्रीकृष्ण-बलदेव की प्रार्थना

वह हरिप्रेष्ठ, सजल-जलधर के समान सुन्दर श्रीनन्दनन्दन को, चातक की भाँति निरन्तर इस प्रकार पुकारता रहता था कि, हे भक्तजन-रञ्जन ! श्रीकृष्ण ! भैया ! तुम मेरे नेत्रो के मार्ग मे आजाओ ॥५॥

और हे माधव ! आपके श्रीदर्शन के विना मेरा जीवन दुःखमय होकर निष्फल ही जा रहा है, अतः अपने मनोहर रूप को, मेरे नेत्रो के मार्ग मे प्रकट करके, मेरे जीवन को कृपया सफल बना दीजिये ॥६॥

यदि कहो कि, तू तो बड़ा पापी है, अतः तेरे सामने कैसे आऊँ ? तो इसके उत्तर मे मैं, यही कहता हूँ कि, हाँ भैया ! यद्यपि मैं, पापरूपी धन

यदि पापहीनजनमेव निज, मनुषे कृत तव दयालुतया।
सफली चिकीर्षसितरा यदि ता, लघु तर्हि कृष्ण ! उररीकुरु माम् ॥८॥
मयि चेत् करिष्यसि न वा करुणा, मम तर्हि कृष्ण ! न कथचिदपि।
तरण भविष्यति तृषा - सलिला-, दतिदुस्तराद्धि भवसागरत ॥९॥
बलदेव ! रोहिणिशिशो ! बलवन् !, बलवत्तया प्रथितया तव किम्।
यदि नो सखायमपि मामभितो, रिपुतोऽपि रक्षसि मनोभवत ॥१०॥
अथवा प्रसिद्धतमया दयया, तव किं कृत यदि न दीनजने।
मयि राम ! भक्तिरहिते निहित, स्वकवैभवस्य लवमात्रमपि ॥११॥
किमह तवाऽतिप्रियमाचरेयं, बलभद्र ! येन मुदितस्त्वमपि।
व्रजराजपुत्रमपि मित्रयुत, मम प्रेषयिष्यसि दृशोरयनम् ॥१२॥

का धनिक हूँ, किन्तु तुम भी तो इस ससार मे "तस्कराणा पतये नमो नम" 'चौराग्रगण्य पुरुष नमामि" इस उक्ति क अनुसार चोरो के राजा कह कर प्रसिद्ध हो। अत आप मेरे उस पापरूप धन को चुराकर, मेरे विषय मे यहाँपर उस अपने 'तस्करराट्' नाम को,सार्थक क्यो नही कर रहे हो?॥७॥

और हे सखे श्रीकृष्ण ! यदि तुम पापो से रहित जन को ही अपना मानते हो तो, सर्वतोभाव से सर्वत्र समान रूप से सचरणशीला विचित्र-लीलावाली आपकी दयालुता व्यर्थ ही हो जायगी, यदि तुम, उसको भली भाँति सफल बनाना चाहते हो तो, मुझ को शीघ्र ही, सख्य-भाव से स्वीकार करलो ॥८॥

हे प्रिय सखे ! श्रीकृष्ण ! यदि तुम, मुझ दीनपर कृपादृष्टि नही करोगे तो, तृष्णा रूपी जल से परिपूर्ण, अतिशय दुस्तर इस ससार—सागर से, मेरा उद्धार किसी प्रकार भी नही हो सकेगा ?॥९॥

हे श्रीबलदेव भैया ! हेरोहिणी-नन्दन ! हे बलवन् ! बताइये, सर्व-शास्त्र प्रसिद्ध, आपकी उस बलवत्ता से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? जब कि, आप, मुझ अपने सखा को भी, 'कामदेव'—नामक शत्रु से चारो ओर से नही बचा रहे हो ॥१०॥

अथवा हे श्रीबलराम ! आपकी अतिशय-प्रसिद्ध उस दया देवी ने ही क्या कार्य किया ? जब कि, भक्ति से रहित मुझ दीन-जन के ऊपर, उस प्रसिद्ध दयादेवी ने, अपने वैभव का लेशमात्र भी प्रभाव स्थापित नही किया ॥११॥

अत हे मित्रवर्य ! श्रीबलभद्र जी ! बताइये, मैं आपका ऐसा कौन सा प्रिय कार्य करूँ कि, जिसके द्वारा आप मुझपर प्रसन्न होकर, मित्र मण्डल

शरदभ्रकान्तिललितां स्वतनुं, हरिगात्र-नीलकिरणैः शबलाम्।
प्रकटय्य लोचनपथे मम भो!, बलभद्र! भद्रमपि मे वितर ॥१३॥
प्रमिताक्षरामिति निवेद्य गिरं, हरये बलाय विकलः स ततः।
हरिमेव लक्ष्यमभिलक्ष्य चिरं, बहुलाऽक्षरामुपजहार गिरम् ॥१४॥

श्रीकृष्ण-दर्शनाय पुनः पुनः प्रार्थना

हा कृष्णचन्द्र मम प्राण! सखे! दयालो!,नेत्राटवीं मम समाव्रज शीघ्रमेव।
दृष्ट्वा तदैव चरणौ भवतः सखे! हे, ताप त्वहं विरहजं लघु नाशयिष्ये ॥१५॥
सखे! श्रीकृष्ण! त्वं मयि कथमहो नैव दयसे
दया चेत् ते भ्रातस्तदपि सविधं नैन नयसे।
अहं पापीयांश्चेत् तदपि विमलं नैव कुरुषे
यथार्थां स्वामात्यां मयि कथमहो नैव कुरुषे ॥१६॥

के सहित श्रीव्रजराकुमार को, मेरे नेत्र-रूपी मार्ग मे भेजोगे, अर्थात् मेरे प्रिय सखा श्री हरि का दर्शन मुझे करवाओगे ।।१२।।

और हे श्रीबलभद्रजी! आप भी शरत्कालीन मेघ की कान्ति से भी परमसुन्दर एव इन्द्रनीलमणि के समान श्रीहरि के श्रीविग्रह की नील-किरणो से चित्रित, अपने श्रीविग्रह को, मेरे नेत्ररूपी मार्ग मे प्रकट करके मेरा कल्याण करदो, अर्थात् श्रीहरि के सहित अपना दर्शन देकर मेरी अभिलाषा पूर्ण कर दीजिये ।।१३।।

विरह से विकल हुआ वह हरिप्रेष्ठ, पूर्वोक्त प्रकार से परिमित अक्षरो वाली वाणी को, श्रीकृष्ण-बलदेव के प्रति निवेदन करके, केवल श्रीकृष्ण को ही लक्ष्य बनाकर, बहुत से अक्षरोवाली वाणी निवेदन करने लग गया ।।१४।।

श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ बारबार प्रार्थना

हा मेरे प्राण प्यारे सखे! दयालो! श्रीकृष्ण! मेरे नेत्ररूपी वन मे, अर्थात् मेरे नेत्रो के सामने शीघ्र ही आ जाइये। हे सखे! मैं, उसी समय आपके दोनों चरणो को निहारकर, आपके विरह से उत्पन्न हुए सन्ताप को शीघ्र ही नष्ट कर लूँगा। (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ।।१५।।

अहो! हे सखे! तुम, मुझ दीनपर भी दया क्यों नही करते हो? हे भैयाजी! यदि तुम्हारी दया है तो मुझको अपने निकट क्यो नही ले जाते हो? और यदि मैं पापी हू तो मुझ को निर्मल क्यों नही बनाते हो? एव सभी को अपनी ओर आकर्षण करने वाले आनन्दस्वरूप-अपने श्रीकृष्ण

दयालो ! श्रीकृष्ण ! व्रजपसुत ! गोवर्धनधर !
दयालुत्वेन त्वं यदपि प्रथित. शास्त्र - निवहे ।
तथाप्येतत्तेऽहं तदवधि न हे तात ! गणये
यदा पर्यन्तं त्वं मयि न दयसे दीनजके ॥१७॥

गजस्यार्थे त्यक्तं गरुडमय - संवाहनमहो !
कृते श्रीद्रोपद्या अहह ! पदकैर्धावितमलम् ।
दृगम्भोभिः प्रक्षालनमपि सुदाम्नः पदकयो-
र्मदर्थे श्रीकृष्ण! स्वपिषि ननु कस्मिन् गिरिबिले॥१८॥

मया शास्त्रे शास्त्रे श्रुतमिदमलं कृष्ण - विषये
यदा भक्तः कश्चित् तमतिप्रणयेनाऽऽह्वयति चेत् ।
तदा कृष्णः शीघ्रं व्रजति सविधे तस्य महतो
मदर्थे किं कर्णौ सपदि पिहितौ तेन हरिणा ॥१६॥

सत्यं वदामि किल नन्दतनूज ! कृष्ण ! वाक्चातुरीमहमहो नहि दर्शयामि ।
त्वामर्थयेऽहमनिश तव दर्शनार्थं,कृत्वा कृपां सपदि पूरय दर्शनाऽऽशाम् ॥२०॥

नाम को, मेरे विषय में यथार्थ क्यो नही बना रहो हो ? (सोलहवें श्लोक से उन्नीसवें श्लोक तक 'शिखरिणी' छन्द हैं) ॥१६॥

हे दयालो श्रीकृष्ण ! हे श्रीव्रजराजकुमार ! हे श्रीगोवर्द्धन-धारण-करनेवाले श्याम ! यद्यपि आप समस्त शास्त्रों मे दयालु शिरोमणि-रूप से प्रसिद्व है, तथापि मैं, तो, आपकी उस दयालुता को तब तक कुछ भी नही गिनता हूँ कि, जब तक मुझ दीन-जन के ऊपर दया नही करते हो ॥१७॥

हे सखे! श्रीकृष्ण! ग्राह से गजेन्द्र की रक्षा के लिये तो आपने, अपने गरुड-रूप वाहन को भी छोड़ दिया था; और भक्तिमती श्रीद्रौपदी देवी की रक्षा के लिये तो आपको,हाय ! हाय ! नङ्गे चरणों से ही विशेष दौड़ना पड़ा था; और अपने मित्रवर्य सुदामा के चरणो का धोना तो आपने, अपने नेत्रो के जल से ही किया था, अत. हे मित्रवर्य ! बताइये ? आप मेरे लिये कौन-से पर्वत की कौन-सी गुफा मे सो रहे हो ?॥१८॥

मैंने, प्रत्येक शास्त्र मे श्रीकृष्ण के विषय मे ऐसा समाचार विशेष रूप से सुना है कि, 'जब कोई भी भक्त उन्हे यदि अतिशय प्रेम से बुलाता है तो वे उस भक्तरूप—महात्मा के निकट शीघ्र ही पहुँच जाते है," परन्तु न जाने उन्हीं दयालु श्रीहरि ने,मेरे लिये अपने कानो को तत्काल क्यो बन्द कर लिया है ? ॥१६॥

त्वद्दर्शनार्थमयमर्थयते जनस्त्वां
त्वं किं शृणोषि नहि प्रार्थनमस्य कृष्ण! ।
चेत् त्व शृणोषि हि तदार्पय दृष्टिभिक्षां
भिक्षुः प्रयाति विमुखो नहि सद्गृहाद् भोः ॥२१॥

भिक्षां न भिक्षुरधिगच्छति कृष्ण! यावत्,कोलाहलं स तनुतेऽधिकमेव तावत् ।
तद्वत्त् कौतुकमयः खलु भिक्षुरेव,मौनं न धास्यति सखे! हरिश्रेष्ठनामा ॥२२॥

तव दर्शनमिच्छति भिक्षुरय, नहि केवलमन्नजिघृक्षुरयम् ।
उचितं नहि दर्शनलिप्सुजने, प्रिय! लोभवता भवता भवितुम् ॥२३॥

यदा भिक्षवे ह्यन्नदाता ब्रवीति, न दास्यामि भिक्षामहं त्वं प्रयाहि ।
तदा भिक्षुरन्यं गृहं याति मौनी, निषिद्धस्तु यावन्न तावन्न याति ॥२४॥

हे नन्दलाल ! भैया श्रीकृष्ण ! मैं, सत्य कह रहा हूँ, कोई वाणी की चतुराई ही नही दिखा रहा हूँ, मैं तो, केवल तुम्हारे दर्शनो के लिये ही निरन्तर तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ। कृपा करके शीघ्र ही दर्शन की आशा पूर्ण कर दीजिये। (बीसवें श्लोक से बाईसवें श्लोक-तक 'वसन्त-तिलका' छन्द है) ॥२०॥

हे प्यारे भैया! श्रीकृष्ण! यह जन तुम्हारे दर्शनो के लिये ही तुम्हारी प्रार्थना कर रहा है, तुम इसकी प्रार्थना को क्यो नही सुनते हो ? यदि सुनते हो तो, इसके लिये दर्शनरूपी भिक्षा का दान दे दो। हे प्यारे देखो, सज्जनों के घर से भिक्षु कभी भी विमुख नही जाता है ॥२१॥

हे सखे श्रीकृष्ण ! देखो, भिक्षुक-व्यक्ति को जब तक भिक्षा नहीं मिलती है, तब तक वह दाता के दरवाजेपर अधिकरूप से कोलाहल ही करता रहता है। उसी प्रकार हे सखे ! महाकौतुकी-'हरिश्रेष्ठ'-नामक यह भिक्षुक भी, जब तक आप इसको अपना दर्शनरूप भिक्षा नही दोगे तब तक हल्ला ही करता रहेगा ॥२२॥

"हे भिक्षुक ! तुम क्या चाहते हो ?" इसके उत्तर मे कहते है कि, यह भिक्षुक तो तुम्हारे दर्शन ही चाहता है, यह, केवल अन्न के ग्रहण करने की इच्छावाला नही है। हे प्रिय सखे ! देखो, केवल दर्शनमात्र को चाहने-वाले जन के विषय मे आपको इतना लोभी बनना उचित नही है। (इस श्लोक मे 'तोटक'-नामक छन्द है) ॥२३॥

अन्न देनेवाला व्यक्ति, भिक्षुक के लिये जब यह कह देता है कि, मैं, भिक्षा नही दूँगा, तुम यहाँ से चले जाओ, तब भिक्षुक चुपचाप दूसरे घर-

हरे ! चेदभीष्टा न दृष्टिः प्रदातुं, निषेधस्तदागत्य शीघ्रं विधेयः ।
यतोऽहं निराशः करिष्ये न चिन्तां, निराशो न तावन्न यावन्निषिद्धः ॥२५॥
निषेधोऽपि ते सौख्यकारी मुरारे !, निषेधेऽपि ते सिद्धिरायात्यघारे ! ।
समायाहि शीघ्रं निषेद्धुं बकारे ! निषेधेऽपि ते का क्षतिः पूतनारे ! ॥२६॥
निषेधे चेल्लज्जां व्रजसि भगवन्नन्दतनय !
तथाप्यायासि त्वं कथमिह न मे लोचनपथम् ।
तदेकं निश्चित्य त्वमिह वद चोक्त्वेदमपि मां
न दास्ये दास्ये वा कुरु सपदि सन्देह-रहितम् ॥२७॥
यद्यस्मि दोषनिवहैः परितः परीतो,नाऽऽलोकयन्ति सुहृदां सुहृदस्तथापि ।
एवं विचार्य भवताऽप्यनुकम्पनीयो,दीनः सखे!तव सखा हरिप्रेष्ठनामा ॥२८॥

पर चला जाता है; परन्तु वह, जब तक निषेध का वाक्य नहीं सुन लेता तब तक नहीं जाता है ।(चौबीसवें श्लोक से छब्बीसवें श्लोक तक 'भुजगप्रयात' छन्द हैं) ॥२४॥

हे हरे ! यदि आपको इस भिक्षुक के लिये अपना दर्शन देना अभीष्ट नहीं है तो, शीघ्र ही आकर निषेध कर दीजिये । जिससे कि मैं, निराश होकर चिन्ता नहीं करूँगा । परन्तु जब तक निषेध नहीं करते हो तब तक निराश भी कैसे हो जाऊँ ॥२५॥

हे मुरारे ! तुम्हारा तो निषेध करना भी सुखदायी है; क्योंकि, हे अघासुर को मारनेवाले श्याम ! देखो, तुम्हारे तो निषेध में भी कार्य की सिद्धि स्वतः आ जाती है । अतः हे बकारे ! निषेध करने को शीघ्र ही आ जाइये; हे पूतनारे ! निषेध करने में, तुम्हारी क्या हानि है ? ॥२६॥

पूर्वोक्त बात को ही दृढ करते हुए कहते है कि, हे भगवन् श्रीनन्द-नन्दन ! यदि तुम निषेध करने मे लज्जित होते हो तो, मेरे नेत्रों के मार्ग में क्यों नहीं आ रहे हो ? इसलिये एक बात निश्चय करके एवं "मैं, तुझे दर्शन नहीं दूँगा, अथवा अवश्य ही दर्शन दूँगा" इस प्रकार कह करके, मुझे शीघ्र ही सन्देह-रहित कर दीजिये । (इस श्लोक में 'शिखरिणी' छंद है) ॥२७॥

हे मित्रवर्य ! यद्यपि मैं, दोषों के समूहों से तो चारों ओर से घिरा हुआ हूँ, तथापि–सच्चे मित्र, मित्रों के दोषों को बिल्कुल नहीं देखते हैं । ऐसा विचार करके, आपको भी, दीन, गुणहीन 'हरिप्रेष्ठ'–नामक सखा के ऊपर अनुकम्पा ही कर देनी चाहिये । (इस श्लोक में 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥२८॥

मयि साधन - पीनता नहि, नहि भक्तिस्तव पादपद्मयो ।
कथमुद्धरण भवार्णवा-, दिति निश्चेतुमह नहि प्रभु ॥२९॥
श्रुतमस्ति परन्तु सन्मुखाद्, भुवि किञ्चिन्नहि दुर्लभ गुरो ।
गुरवस्तु समाश्रिता मया, भुवि दौर्लभ्य-गुणै समावृताः ॥३०॥
गुरवो यदि पूजिता मया, कपट दूरमपास्य सर्वदा ।
मयि तर्हि विधीयतां कृपा,वचस स्वस्य च कृष्ण!सत्यता ॥३१॥
वचन तु प्रमाणयामि ते, भवता किं नहि बुध्यते सखे !
हरिदासवराय यत् त्वया, गदित भागवते सुहृत्तया ॥३२॥
मुदितो न भवाम्यह तथा, तपसेज्यादिभिरन्वह कृतै ।
गुरु-सेवनतोऽन्वह यथा, इति सख्ये गदित वचः स्मर ॥३३॥

हे सखे ! मुझमें साधन की स्थूलता नहीं है, एव तुम्हारे चरणारविन्दो मे दृढ भक्ति भी नही है । इस कारण से तो मैं, "इस दुस्तर ससार-सागर से मेरा उद्धार भी किस प्रकार होगा" इस बात को भी निश्चय करने को समर्थ नहीं हूँ । परन्तु सज्जनो के मुख से मेने ऐसा सुना है कि, इस भूतलपर श्रीगुरुदेव के सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है । मैंने तो, ऐसे श्रीगुरुदेव का आश्रय ले लिया है कि, जो इस भूमि मे अतिशय दुर्लभ गुणो से परिपूर्ण हैं । अत हे सखे ! श्रीकृष्ण ! यदि मैंने, कपट को दूर फेंककर सर्वदा श्रीगुरुदेव का पूजन किया हो तो आप मेरे ऊपर भी अपनी कृपा कर दीजिये, एव अपने वचन को सत्यता भी कर लीजिये । हे सखे ! तुम्हारे वचन का मैं क्या प्रमाण दिलाऊँ ? आप अपने श्रीमुख के वचन नही जानते हो क्या ? क्योकि, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध मे, अपने मित्रभाव से, जो वचन, हरि के भक्तो मे श्रेष्ठ 'सुदामा'-नामक मित्र के प्रति कहा था । आपने, मित्र भाव से एक ही पलँगपर बैठे हुए सुदामा के प्रति यही तो कहा था कि, हे मित्रवर्य ! सुदामन् ! देखो भैया ! मैं, प्रतिदिन निष्कपट भाव से श्रीगुरुदेव की सेवा-शुश्रूषा से जिस प्रकार प्रसन्न होता हूँ, उस प्रकार तो प्रतिदिन की हुई तपस्या, एव यज्ञ आदि से भी प्रसन्न नही होता हूँ । इसलिये अपने सखा सुदामा के प्रति कहे हुए वचन को याद कर लीजिये । वह वचन यह है--(भा० १० । ८० । ३४)

"नाऽहमिज्या-प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च ।
तुष्येय सर्वभूतात्मा गुरु-शुश्रूषया यथा ॥"

अर्थात्—हे प्रिय मित्र! मैं प्राणीमात्रका आत्मा हूँ, सबके हृदय मे अन्तर्यामी रूप से विराजमान हूँ ! मैं, गृहस्थ के धर्म पञ्चमहायज्ञ आदि से, ब्रह्मचारी

शुद्धाऽशुद्धि-विचार-विहीनः,शास्त्र-वर्त्मनि कदापि न लीनः।
दुष्टाऽऽचार - निमग्न - मलीन., ससारार्णव-कर्दम-लीनः ॥३४॥

भक्ति-विहीनतयाऽप्यति - दीनः, पाप-समुद्र तरङ्ग-कुमीन ।
दुर्जन-भाव-भावना-पीनः, सज्जन - भाव - भावना-हीन ॥३५॥

विषय-भुजङ्गम-दष्ट-मनःश्री , भक्ति-विरक्तया दुष्ट-मन श्री ।
प्राप्स्यत एव मया नरकश्री , हरि-विमुखस्य कुतो नु सुखश्री ॥३६॥

अहमस्म्येतादृश-गुण-शील-,स्त्वमसि साधुजन-कीर्तित-लील. ।
मामुरी कुरु हे प्रियमित्र !, तव तु सखा खलु नाहममित्रः ॥३७॥

मित्रभावयुतमागतमात्र, नैव त्यजामि जन क्षणमात्रम् ।
दोषी यदपि भवेदतिमात्र, महतामेतदगर्हितमात्रम् ॥३८॥

के धर्म उपनयन–वेदध्ययन आदि से, वानप्रस्थ के धर्म तपस्या से, और सब ओर से उपरत हो जानारूप सन्यासी के धर्म से भी उतना सन्तुष्ट नही होता हूँ कि, जितना अपने श्रीगुरुदेव की सेवा-शुश्रूषा से सन्तुष्ट होता हूँ। (इन पांचो श्लोको मे 'वियोगिनी' छन्द हैं) ॥२९-३३॥

अब अपना स्वरूप एव श्रीकृष्ण का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं कि, हे प्रिय मित्र ! श्रीकृष्णचन्द्र ! आपकी लीला का गायन तो साधुजनो ने वारम्बार किया ही है, किन्तु मेरी लीला को भी सुन लीजिये कि, मैं, कैसे गुण एव स्वभाववाला हूँ। देखो, सखे! मैं तो, शुद्धाऽशुद्धि के विचार से बिल्कुल विहीन हूँ, एव शास्त्रो के मार्ग मे तो कभी भी तल्लीन नही हुआ, सदा दुष्टो के आचार-विचार मे ही विशेष लीन रहता हूँ, अतएव— ससाररूपी आँगन के विषयरूप कीचड मे लीन हूँ, भक्ति से विहीन होने के कारण ही मैं, अत्यन्त दीन हूँ, एवं पापरूपी समुद्र की तरङ्गो मे विहार करनेवाला कुत्सित मीन हूँ. अतएव दुर्जनो के भाव की भावना मे तो मैं, बहुत मोटा हूँ एव सज्जनो के भाव की भावना मे दुर्बल हूँ, अतएव मेरे मन की शोभा को, विषयरूपी सर्प ने डस लिया है, एव भक्ति मे विरक्त होने के कारण मेरे मन की शोभा विगड गई है, अत मुझको नरक की सम्पत्ति अवश्य ही मिलेगी, क्योकि, श्रीहरि से विमुख व्यक्ति को सुख की श्री कहां से मिल सकती है ? देखो मित्र ! मैं तो, इस प्रकार के गुण एव स्वभाववाला हूँ। आपको लीला को तो साधुजन गाते ही रहते है, तो भी आप मुझको अङ्गीकार कर लो, क्योकि, मै, तुम्हारा ही तो सखा (मित्र) हूँ, शत्रु नही हूँ। ३४-३७॥

इतिरूपा स्वप्रतिज्ञा भ्रात !, स्मरसि किमु त्रेतायुग-जात ।
करिष्यसि त्व कपिसेनाऽग्रे, क्व विभीषण आयास्यत्यग्रे ॥३६॥

मित्रैर्दोषा नाऽऽलोक्यन्ते, मित्र - गुणा एवाऽऽलोक्यन्ते ।
इति भवता गदित बहुबार, अहमायात स्मार स्मारम् ॥४०॥

अहमपि मित्रभावमुपयात, सँस्तव पादमूलमुपयात ।
स्वीकुरु मा भव सत्य-प्रतिज्ञ, किं कथयानि बहु त्वमभिज्ञ ॥४१॥

इस प्रकार चार श्लोको से अपना अभिप्राय प्रकाशित करके, अब दो श्लोको के द्वारा प्रमाण के सहित इस वात को कहते है कि, मित्रभाव से श्रीहरि की शरणागति लेनेवाला तो, दोषी होनेपर भी त्यागने योग्य नही हैं। इस विषय मे प्रमाण तो, श्रीवाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड मे, श्रीविभीषण शरणागति के प्रसङ्ग मे श्रीराघवेन्द्र-सरकार के श्रीमुखका वचन ही है यथा—

"मित्र भावेन सम्प्राप्त न त्यजेय कथचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥"

अर्थात् जो व्यक्ति, मेरी शरण मे, मित्रभाव से आता है, मैं उसको क्षणभर भी नहीं त्याग सकता। मेरी शरण मे आनेवाला वह जन, चाहे कितना भी दोषी क्यो न हो किन्तु सज्जनो के लिये वह किञ्चिद् भी निन्दनीय नही है। हे भैया कृष्ण ! त्रेता युग मे श्रीराम रूपसे की हुई पूर्वोक्त प्रकार वाली अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण आपको है या नही ? यदि पूछो कि वह प्रतिज्ञा कहाँपर की थी ? तो उसके उत्तर मे मैं, कहता हूँ कि, रावण को त्यागकर मित्रभाव से आपकी शरण लेने को, समुद्र के किनारे आये हुए विभीषण के प्रति वानरी सेना के आगे ही तो की थी। (**इस ३६वें श्लोक मे, 'करिष्यसि' एव 'आयास्यति' इन पदो मे जो लृट् लकार है वह 'विभाषा साकाङ्क्षे' इस पाणिनीय-सूत्र के द्वारा, भूतकाल के अर्थ मे हुआ है, ऐसा जानना चाहिये**) और मित्र-भाव से युक्त-सुग्रीव की शरणागति मे भी, ऐसे वचन मिलते हैं कि, "**निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्य परमा-गति**" तात्पर्य— मित्र चाहे निर्दोषी हो चाहे सदोषी हो, परन्तु मित्र की तो मित्र ही परम गति है ॥३८-३६॥

यदि कहो कि, हे भाई ! तुम विभीषण के समान निर्दोषी मित्र नही हो, अत तुमको किस प्रकार स्वीकार कर ल, इसी अभिप्राय से कहता हूँ कि, हे सखे ! देखा मित्रजन, अपने मित्रा के दोषो की ओर दृष्टिपात भी

वसनमपि बिभ्राणा विद्युल्लता - परितापकं
जलद-पटल-श्यामा वामा करे मुरलीधरा ।·
स्मितमुखयुता गुञ्जाहारा वरेभ - गतिश्च ते
नयनपथगा भूयान्मूर्तिर्हरा मनसो मम ।।४२।।

श्यामला गौरवर्णेन रामेण या, भूषिता हास्यमाना मुदा मित्रकं ।
सूर्यजा - तीरजाते कदम्बे स्थिता,वंशिका - वादने पण्डिता मण्डिता ।।४३।।

पादयोर्नूपुरान् मेखलां कांचनीं, श्रोणिदेशे दधाना शरीरेंऽशुकम् ।
पीतवर्णं तडित्कान्ति - विस्मापकं,मौक्तिकं नासिकाऽग्रे करे कङ्कणम् ।।४४।।

हस्तयोरङ्गदे कौंकुमं चन्दनं, केकिबर्हं किरीटे करे यष्टिकाम् ।
मूर्तिका या गवां पालने तत्परा,प्रावुरास्तां सदा स्रग्विणी काऽपि सा ।।४५।।

नही करते हैं, वे तो अपने मित्रों में, गुणों का ही अवलोकन करते हैं, मैं भी, इस प्रकार, आपके द्वारा बारम्बार कहे हुए वचन को बारम्बार स्मरण करके आया हूँ। अर्थात् मैं भी, मित्र-भाव से युक्त होकर ही, तुम्हारे चरणों के निकट आया हूँ। मैं, आपसे कोई बहस नही कर रहा हूँ ? आप सर्वज्ञ हैं, आपसे अधिक क्या कहूँ, बस, आप तो मुझको स्वीकार कर लो, और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करके, सत्य-प्रतिज्ञ बन जाओ। (**चौंतीसवें श्लोक से इकतालीसवें श्लोक तक 'पज्झटिका' छन्द हैं**) ।।४०-४१।।

यदि पूछो कि, भाई ! प्रसन्न हुए मुझसे तुम क्या चाहते हो ? इसके उत्तर मे मैं कहता हूँ कि, हे सखे ! श्रीकृष्ण ! देखो, मेरे नेत्ररूपी-राजमार्ग में, मेरे मन को हरनेवाली आपकी वह श्रीमूर्ति विहार करती रहे कि जो, बिजली को भी तिरस्कृत करनेवाले पीताम्बर को धारण किये हुए हो, और वर्षाकालीन नवीन जलधरों के समान श्यामवर्णवाली हो, एव बहुत ही बाँकी झाँकीवाली हो. कर-कमल मे मुरली धारण किये हुए हो, तथा मन्द-मुसकान से युक्त मुखारविन्दवाली हो, गुञ्जाओं के हार धारण किये हुए हो, और मदमत्त गजेन्द्र की-सी चालवाली हो। (**इस श्लोक में 'हरिणी' छन्द है**) ।।४२।।

उसी मूर्ति का पुन वर्णन करता हुआ कहता हू कि, हे सखे ! मेरे नेत्रों के सामने तो, आपकी वही मोहिनी मूर्ति सदैव प्रगट होती रहे कि, जो मूर्ति, इन्द्रनीलमणि के दर्पण के दर्प को चूर्ण करनेवाले श्यामवर्ण से युक्त हो, एव दाहिनी ओर गौरवर्ण-वाले श्रीबलरामजी के विराजमान होने

यदि स कृपया यायादक्ष्णोः पदं सबलो हरि-
　　विपुल –पुलकाढ्याभ्यां दोर्भ्यां पुरा परिरम्भणम् ।
तदनु च करिष्याम. पूजां फलाऽऽहरणादिभि–
　　र्हरि !हरि !!तदाऽस्माक भाग्य फलिष्यति भूरिशः ॥४६॥

ममाऽस्ति काम एव तेऽ-, स्तु पादपद्मयो सखे !
रतिः प्रवाह् - शालिनी, सदाऽश्रुजाल - मालिनी ॥४७॥
भवाब्धि - पार - कारिणी, ममाऽस्तु हृद्विहारिणी ।
तव स्मृति - प्रदायिनी, सदैव चाऽनपायिनी ॥४८॥

से जो विभूषित हो, एव सुदामा, श्रीदामा, वसुदामा, आदि मित्रो के द्वारा जो हर्षपूर्वक हँसाई जा रही हो, श्रीयमुनाजी के कमनीय-कूलपर उत्पन्न हुए कदम्ब के नीचे जो विराजमान हो, वशी के बजाने मे पण्डित हो एव व्रज के आभूरणो से जो मण्डित (विभूषित) हो, चरणो मे नूपुर पहने हो, कटि-प्रदेश मे किकिणी जाल से युक्त सुवर्णमयी करधनी धारण किये हुए हो, एव अपने शरीरपर, बिजली की कान्ति को भी चकित करनेवाले पीताम्बर धारण किये हुए हो, नासिका के अग्रभाग मे मोती को एवं कर-कमलो मे कङ्कण पहने हो, दोनो भुजाओ मे बाजुबन्द एव मस्तकपर केसर कस्तूरी, कर्पूर मिश्रित चन्दन को धारण कर रही हो, तथा मुकुटपर मोर-पख एव कर मे लकुट लिये हुए हो, और जो मूर्ति, श्रीवृन्दावन मे गोपालन-रूप कर्म मे तत्पर हो, और वनमाला तथा वैजयन्ती माला पहने हो। **(तैतालीस से पैंतालीस तक 'स्रग्विणी' नामक छन्द हैं)** ॥४३-४५॥

हमारे ऊपर अपनी अहैतुकी कृपा के वशीभूत होकर यदि परमदयालु वह श्रीकृष्ण, श्रीबलदेव भैया क सहित, हमारे नेत्रो के सामने आ जायें तो, पहले तो हम, उनके दर्शनसे भारी पुलकावलियो से युक्त अपनी भुजाओ के द्वारा उनसे आलिङ्गन करेंगे, उसके बाद, पत्र, पुष्प, फल आदि लाकर उनकी पूजा करेंगे । अहह ! उस समय हमारा भाग्य विशेष-रूप से फली-भूत हो जायगा । (इस श्लोक मे 'हरि हरि'–शब्द, हर्ष एव खेदवाचक अव्यय है, और 'हरिणी' छन्द है) ॥४६॥

"भाई हरिश्रेष्ठ ! मेरे मे तेरी जब रति (प्रेम) ही नही है तब तेरे लिये दर्शन देना भी निरर्थक-सा ही हो जायगा ?" ऐसी आशका करके आपसे प्रार्थना करता हूँ कि, हे सखे ! मेरी तो यही अभिलाषा है कि, आपके श्रीचरण-कमलों मे, मेरी ऐसी रति (प्रेम) हो जाय कि, जिसका प्रवाह,

तवाऽऽत्म - सङ्ग - दायिनी, कुसङ्गि - सङ्ग - दाहिनी ।
अनङ्ग - सङ्ग - भङ्गिनी, त्वदीय - सङ्ग - सङ्गिनी ॥४६॥

विशुद्धतां यास्यति हा दुरात्मनो, मनो दुरागोमलिन कदा मम ।
इतीव चिन्ताचय - चिन्तितात्मनो, मनो न मे शान्तिमुपैति हे सखे ! ॥५०॥

अयिनाथ ! तवाऽस्ति कृपा मयि चे-, न्मम नाशय तर्हि मनोजरिपुम् ।
गमिते सति यस्य हि नाश-दशां, सुसुखी भवतीह जनो नितराम् ॥५१॥

मम मनो विषयेषु हठात् सखे !, व्रजति तत् कथमत्र निरोधये ।
तव पदाब्जयुगे प्रविशेद् यथा, भ्रमरवद्धि तथैव विधीयताम् ॥५२॥

श्रीगङ्गाजी के समान निरन्तर सुशोभित हो, अश्रु बिन्दु-रूपी मुक्ताओ की माला को धारण करनेवाली हो, ससाररूप सागर से पार करनेवाली हो, मेरे मनमन्दिर मे विहार करनेवाली हो, तुम्हारी स्मृति को देनेवाली हो, एन सदैव अविनाशिनी हो, तुम्हारे श्रीविग्रह का सङ्ग देनेवाली हो, कुसङ्गियो के सङ्ग को जलानेवाली हो, अनङ्ग (कामदेव) के सङ्ग को भङ्ग करनेवाली हो, तुम्हारे प्यारे भक्तो के सङ्ग की सङ्गिनी हो । (इन तीन श्लोको मे 'प्रमाणिका'-नामक छन्द है) ॥४७-४६॥

"मन की विशुद्धि के बिना रति नही मिल सकती" इस विचार से, मन की विशुद्धि के लिये भी अपने सखा से ही खेदपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि, हा सखे ! कृष्णचन्द्र ! बडे-बड़े अपराधो से मलिन हुआ मुझ दुरात्मा का मन, कब विशुद्ध होगा ? इस प्रकार की चिन्ता के समूह से चिन्तित रहनेवाला मेरा मन, शान्ति को नही प्राप्त कर रहा है । अत कृपया उसको विशुद्ध बनाकर शान्त कर दीजिये । (इस श्लोक मे 'वशस्थ' छन्द है) ॥५०॥

"मन की विशुद्धि भी, कामरूपी दोष के विनष्ट हो जानेपर ही होती है" ऐसा विचारकर, उस दोष की शान्ति के लिये भी अपने सखा से ही प्रार्थना करते हैं—हे नाथ ! मेरे ऊपर यदि आपकी थोडी सी भी कृपा है तो, पहले मेरे कामरूपी शत्रु का ही विनाश कर दीजिये, क्योकि, जिसका नाश हो जाने के बाद तो इस ससार मे जन-मात्र ही महान् सुखी हो जाता है । (इस श्लोक मे 'तोटक' नामक छन्द है) ॥५१॥

अपने मन की चञ्चलता को देखकर प्रार्थना करते है कि, हे सखे ! मेरा दुष्टमन, प्राकृत-विषयो मे हठात् जाता है, मै, उसका विरोध कैसे करूँ ? मेरा वही दुष्टमन, आपके दोनो चरणारविन्दो मे, जिस प्रकार भ्रमर

न जाने पूर्वं किं वृजिनमनुचीर्णं बहु मया
यतो चेतो भ्रातर्व्रजति विषये मेऽनुदिवसम्।
निरोद्धु तच्चाऽहं कथमपि समर्थो नहि हरे!
त्वदन्य क श्रीमन्! कथय शरणं यामि विकल ॥५३॥

काम-क्रोधौ लोभ-मोहौ तथाऽन्यौ, चैते भ्रातर्दस्यव पीडयन्ति।
आपत्काले रक्षणायैव मित्रं, मित्रं स्व किं त्रायसे नैव कृष्ण! ॥५४॥

कृपासिन्धो! बन्धो! कथमहह! बन्धो न भवता
मदीय ससारे जनि-मरणरूपो विघटित।
विपन्ने नो युक्ता सुहृदि तव मौनस्थितिरिय
इमे कामाद्या मा विदधति यमौकोऽतिथिमहो! ॥५५॥

की तरह अनुरक्त होकर प्रविष्ट हो जाय, उसी प्रकार का विधान कर दीजिये (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥५२॥

"अपने विचार से ही मन का निरोध करलो, मेरी प्रार्थना से क्या प्रयोजन ?" ऐसा आशका करके कहते है कि, हे सखे ! न जाने पहले जन्मो मे, मैंने, ऐसा कौन-सा भारी पाप किया है कि, जिसके कारण मेरा मन, प्रतिदिन, विषयो मे ही जाता रहता है। हे भक्त दु खापहारिन् हरे ! मैं उसको रोकने को किसी प्रकार भी समर्थ नही हूँ, अत हे श्रीमन् ! आप ही बताइये कि, ऐसी स्थिति मे, सर्वत्र विकल हुआ मै, आपको छोडकर किसकी शरण मे जाऊँ ? अर्थात् आप जैसा समर्थ, कोई भी नही दीखता है। (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥५३॥

हे सखे ! श्रीकृष्ण ! देखो, भैया ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एव मात्सर्य, ये छ शत्रु, मुझको भारी पीडित कर रहे है। आपत्ति काल मे रक्षा करने के लिये ही मित्र किया जाता है, अत तुम, इन भयकर शत्रुओ से मेरी रक्षा क्यो नही करते हो ? । (इस श्लोक मे 'शालिनी'–नामक छन्द है।) ॥५४॥

"मित्र को मित्र के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये" इस बात को दिखाते हुए प्रार्थना करते है कि, हे कृपासिन्धो ! बन्धो ! आप जैसे बन्धु के होते हुए भी, इस ससार मे वारम्वार जन्म-मरण रूपी मेरा बन्धन, आपने दूर क्यो नही किया ? आपके मित्र के विपत्ति मे पड जानेपर, आपको चुपचाप होकर बैठ रहना उचित नही है। यदि कहो कि, तेरे ऊपर कौन-सी विपत्ति है तो कहता हूँ कि, इससे अधिक और क्या विपत्ति होती कि, ये

अतीवसूक्ष्मं किल वासनाङ्कुरं, समूलमुन्मूलयितुं क्षमेत क।
ऋते भवन्त भगवन्नधोक्षज !, सखे ! मम श्रीव्रजराजनन्दन ! ॥५६॥
ममाऽस्ति चित्ते किल वासना - तरु, समूलमुन्मूलय त सखे ! मम।
हरेऽनुकम्पा मयि तेऽस्ति चेद् तदा, हित यथा मेऽस्तु तया विधीयताम् ॥५७॥
हा चित्ते मम वासना गुरुतरा ह्येका वरीवृत्यते
सा पूर्णा भवताद् दयालवबलाच्छ्रीमद्गुरूणा मम।
सा चैषा बलराम - कृष्ण - मुखचन्द्रौ मे चकोराविव
नेत्रे पास्यत एव यर्हि सफले तर्ह्येव ते सम्मते ॥५८॥
नेत्रे चञ्चलता गते मम सखे ! लोकस्य रूपेऽल्पके
तनाऽऽसक्तिमती च मे निरयवास कर्तुमेवोद्यते।
यद्यास्ते मयि हे सखे ! तव कृपा-लेशोऽपि नेत्रे तदा
सौन्दर्याम्बुधिकोटि - विस्मयकरे रूपेऽनुरक्ते कुरु ॥५९॥

कामादिक शत्रु, मुझको यमराज के दरवार के अतिथि वना रहे है। अत आप ही विचारिये कि, आपका मित्र, यमराज के दरवाजेपर जाय तभी आपकी कीर्ति होगी क्या ?। (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥५५॥

"कामरूपी दोष का नाश भी वासना-क्षय के अनन्तर ही होता है" ऐसा निश्चय करके उसके विनाश के लिये, 'वशस्थ'—नामक छन्द के दो श्लोको के द्वारा प्रार्थना करते हुए कहते है कि हे मेरे प्रिय सखे ! श्रीव्रजराज-नन्दन ! वासना का अकुर अत्यन्त ही सूक्ष्म होता है, आपके विना उसको मूल के सहित कौन उखाड सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। क्योकि, आपका ज्ञान अतीन्द्रिय है, अत इन्द्रियातीत अत्यन्त-सूक्ष्म उस वासना के अकुर को, इन्द्रियातीत ज्ञानवाला ही समूल नष्ट कर सकता है। हे सखे! मेरे चित्त मे तो वासना का वडा भारी वृक्ष ही विद्यमान है, उसको आप समूल विनष्ट कर दीजिये। हे हरे ! यदि मेरे ऊपर तुम्हारी अनुकम्पा है तो, जिस प्रकार मेरा हित हो वैसा ही कर दीजिय ॥५६ ५७॥

अव अपनी लोकोत्तर वासना का ही निर्देश करते हुए कहते है कि, हाय ! मेरे चित्त मे तो एक वडी भारी वासना, विशेषरूप से विद्यमान है, यदि मेरे श्रीगुरुदेव की कृपा का लश भी मेरे ऊपर हो जाय तो वह वासना पूर्ण हो सकती है। वह वासना भी यही है कि, मेरे दोना नेत्र, निर्निमेषभाव से चकोरो की भाति, श्रीकृष्ण-वलदेव के मुख रूप चन्द्रा का जब पान करगे, तभी वे, सज्जनो के मत म सफल माने जायगे। (इस श्लोक मे 'शार्दूल-विक्रीडित' छन्द है) ॥५८॥

मम यान्ति दिनानि विना त्वयका, विफलानि सखे ! सफलानि कुरु ।
प्रकटय्य निजं सखिभि-सहितं, सबलं वपुरात्म - मनः - सुखदम् ॥६०॥
किमु कदापि हरिः कृपयिष्यति, मयि दुरात्मनि तद्विमुखात्मनि ।
कुरु हरे ! सफलां स्वदयालुतां, पथि दृशोः प्रकटय्य सुविग्रहम् ॥६१॥
यदि करिष्यति हे भगवन् ! भवान्, मयि कृपां नहि तर्हि कदापि मे ।
भवितुमर्हति यत्न - शतैरपि, भव - महार्णवतस्तरण - क्रिया ॥६२॥
यस्येप्सितं तव तु दर्शनमेव लोके, तस्येप्सितं मम तु दर्शनमेव लोके ।
यद्दर्शनाद् वितनुते तव दर्शनाऽऽशा, सेवेत को नहि बुधस्तव दर्शनेप्सून् ॥६३॥

अपने नेत्रों को, कभी प्राकृत रूपपर लगे हुए देखकर, उनकी निवृत्ति के लिये,प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि,हे मेरे प्यारे सखे! देखो, ये मेरे नेत्र,इस प्राकृत लोक के अत्यन्त तुच्छ थोड़े से ही रूपपर चंचल हो रहे है; और उसी प्राकृत-रूपपर आसक्त होकर, मेरा निवास, नरक मे ही कराने को तत्पर हो रहे है। अतः हे सखे ! यदि मेरे ऊपर आपकी कृपा का लेश भी है तो, मेरे इन चचल नेत्रों को, सुन्दरता के करोड़ों समुद्रों को भी विस्मित करनेवाले अपने रूपपर ही अनुरक्त कर लीजिये । (इस श्लोक में भी 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥५६॥

हे सखे ! आपके श्रीदर्शन के विना, मेरे सभी दिन निष्फल जा रहे है; अतः आप, मेरे नेत्रों के सामने, सभी सखाओं के सहित एवं श्रीवलदेवजी के सहित, मेरे तन मन को सुख देनेवाले अपने शरीर को प्रगट करके, उन दिनों को कृपया सफल वना दो । (इस श्लोक में 'तोटक' छन्द है) ॥६०॥

'द्रुतविलम्बित' छन्द से भी, पुन उसी वात की प्रार्थना करते है कि, हाय ! मै तो अत्यन्त दुरात्मा हूँ, मेरा मन भी श्रीकृष्ण से विमुख है, ऐसे मुझपर भी, वे दयालु श्रीहरि कभी कृपा करेगे क्या ? । हे हरे । अपने सुन्दर श्रीविग्रह (शरीर) को मेरे नेत्रों के सामने प्रगट करके, अपनी दयालुता को सफल वना लो ॥६१॥

हे भगवन् ! यदि आप मुझपर कृपा नही करोगे तो, इस संसार-सागर से मेरा उद्धार, सैकडो उपायो से भी, कभी भी नहीं हो सकता है (इसमे भी, 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥६२॥

"यदि आप, मुझको साक्षात् दर्शन देने के योग्य नही समझते है तो, आपके दर्शन चाहनेवाले महापुरुषों का ही दर्शन मुझको हो जाय" इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए कहते है कि, हे हरे ! इस लोक मे, जो व्यक्ति, आपके

यदि न दातुमहो सहते भवान्, सपदि दर्शनमेव दुरात्मने।
भवतु दर्शमेव तथापि मे, त्वदवलोकन-प्राणवतां सताम् ॥६४॥

अस्मिञ्जन्मनि नो मया तु भगवन्! स्वस्येहितैर्लक्ष्यते
प्राप्तिस्ते व्रजराजनन्दन! सखे! पूर्णाऽनुकम्पां विना।
अस्मिञ्जन्मनि नो कृपा यदि तवेप्टा चेत् तदैव कुरु
ससारे भ्रमत. स्वकर्मनिवहै सङ्गः सतां जायताम् ॥६५॥

सता सङ्गात् के नो भवजलनिधेः पारमगमन्
कियन्तो वा दुप्टास्तव नहि सुभक्ता समभवन्।
दुराचारा. भ्रातः! कति नहि सदाचारमभजन्
सुगोलोके के वा नहि कथय लोका. समवसन् ॥६६॥

दर्शन करना चाहता है, मैं भी उसी के दर्शन करना चाहता हूँ। क्योकि, जिसके दर्शन से आपके दर्शनो की अभिलाषा बढ जाती है। अत. इस ससार मे, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा कि, जो आपके दर्शनाभिलाषियो की सेवा न करे। (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥६३॥

पूर्वोक्त भाव को ही, 'द्रुतविलम्बित' छन्द के द्वारा दृढ करते हुए पुन. प्रार्थना करते हैं कि,यदि आप, मुझ दुरात्मा को तत्काल दर्शन देना नही चाहते हो तो भी, आपका दर्शन ही जिनका प्राण है, ऐसे सन्तो का दर्शन ही मुझको हो जाय ॥६४॥

हे भगवन्! हे सखे! श्रीव्रजराजनन्दन! देखो, आपकी पूर्ण अनुकम्पा के विना, मुझे अपने कर्तव्यो से तो, इस जन्म मे, आपकी प्राप्ति नही दीखती है, यदि आप, मुझपर, इस जन्म मे कृपा नही करना चाहते हो तो इतना तो अवश्य कर देना कि, इस ससार मे, अपने कर्मो के वशीभूत होकर घूमते हुए मुझको, सन्तो का सङ्ग तो अवश्य ही मिलता रहे। (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द) ॥६५॥

यदि कहो कि, सत्सङ्ग से तुम्हारी क्या सिद्धि होगी? इसके उत्तर मे, कहते हैं कि, हे भैया कृष्णचन्द्र! आपही बनाइये कि, सज्जनो के सङ्ग से, इस ससार-सागर से, कौन से व्यक्ति पार नही हुए हैं? एव सत्सङ्ग से, कितने ही दुष्ट,आपके सुन्दर-भक्त नही हो गये हैं क्या और कितनेही दुराचारी, सदाचारी नही वन गये हैं क्या? और बताइये! सत्सङ्ग के प्रभाव से, ऐसे कौन से व्यक्ति हैं कि, जो, आपके सुन्दर गोलोक-धाम मे निवास नही कर गये हैं? । (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥६६॥

इत्थं नित्यं वहु स विलपन्नाधिभाराऽवसन्न.
कृष्णं द्रष्टुं प्रतिदिनमधाद् ध्यानपूर्वां समाधिम् ।
रिक्ते ध्यानादपि च समये कृष्णमेवाऽभिलक्ष्य
श्रीरामं वा विविधमतनोद् भूरि वृत्ताऽभिलापम् ॥६७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
श्रीकृष्ण-दर्शनाय तपश्चरणादि-वर्णन नाम
त्रयोदश सर्ग सम्पूर्ण ॥१३॥

अथ चतुर्दशः सर्गः

अनेकविधाऽभिलाप-प्रदर्शनम्

कदा श्रीकृष्णांसे दधदपि च दोर्दक्षिणमहं
सखे ! फुल्लं वृन्दावन - वनमिदं पश्य विमलम् ।
अय केकी नृत्यत्यटति हरिणो कूजति पिको
वदन्नित्थं पश्यन् मुखमपि हरेः स्यां प्रमुदित ॥१॥

इस प्रकार वह हरिप्रेष्ठ, श्रीकृष्ण के विरह की मानसी व्यथा के भार से पीड़ित होकर, प्रतिदिन अनेक-प्रकार से विलाप करता हुआ, श्रीकृष्ण को देखने के लिये, प्रतिदिन ही ध्यानपूर्वक समाधि लगाता था। ध्यान से अतिरिक्त समय मे तो वह, श्रीकृष्णको लक्ष्य वनाकर, तथा कभी श्रीवलराम को लक्ष्य वनाकर, अनेक प्रकार के छन्दो के द्वारा, अनेक प्रकार के चरित्रो की अभिलाषा का विस्तार करता रहता था। वे अभिलाषाये अगले सर्ग मे वर्णित होगी। (इस श्लोक मे 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है) ॥६७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये श्रीकृष्ण-दर्शनाय तपश्चरणादि-वर्णन नाम
त्रयोदश सर्ग सम्पूर्ण ॥१३॥

चौदहवाँ सर्ग

अनेक प्रकार की अभिलाषाओ का प्रदर्शन

अव अनेक प्रकार के छन्दो के द्वारा 'हरिप्रेष्ठ' की अनेक प्रकार की अभिलाषाओ को प्रदर्शित करते हुए, पहले चौदह 'शिखरिणी' छन्दो के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। यथा—अहह ! मैं, श्रीकृष्णचन्द्र के कन्धेपर अपनी दाहिनी भुजा रखकर, एव हे सखे ! देखो, देखो, श्रीवृन्दावन के अन्तर्गत ये वारहो वन, छ ओ ऋतुओ से परिपूर्ण, हरे-भरे पुष्पित, फलित एव परम-निर्मल कैसे सुन्दर प्रतीत हो रहे है, और देखो, भैया ! यह मयूर कितना सुन्दर

कदा वा यास्यामस्तव चरणपाथोजसविधं
कदा वा श्रोष्यामस्तव वचनमाध्वीक - पटलीम् ।
कदा वा द्रक्ष्यामस्तव सहचराणां परिषदं
कदा वा नंस्यामस्तव सपदि पित्रोः पदयुगम् ॥२॥
कदा वृन्दारण्यात् सकलऋतुपुष्पैरपि युता-
दहं हृष्ट शीघ्रं विविधकुसुमानामवचयम् ।
विधायान्ते सान्द्रां सपदि वनमालां सुविमलां
हरे कण्ठे धृत्वा हरि हरि भविष्यामि मुदितः ॥३॥
समायातोऽयं ससृति - विविधदु खादित - तनुः
सखा मे श्रीदामन्नयमपनयाम्यस्य विरहम् ।
विहारैः श्रीवृन्दावन - भुवि सदा कौतुकमयै-
र्वदन्नित्य गाढ सुखयतु परिष्यज्य स हरिः ॥४॥

नृत्य कर रहा है, एव यह हरिणी आनन्दपूर्वक वनविहार कर रही है, तथा यह कोयल कैसी सुहावनी बोली बोल रही है। इस प्रकार कहता हुआ एवं अपने प्रिय सखा श्रीहरि के श्रीमुख का दर्शन करता हुआ कब आनन्दित होऊँगा ॥१॥

हे सखे ! हम, आपके श्रीचरणकमलों के निकट कब पहुँचेंगे, एवं मधु से भी मीठी आपकी वचनो की श्रेणी को, अर्थात् आपके वचनामृत को हम, अपने कर्ण-रूपी कटोरों मे भर-भरकर कब पान किया करेंगे; एवं आपके सखाओं की सभा का दर्शन भी हम, कब करेंगे; और आपके नित्य-सिद्ध माता-पिता श्रीयशोदा एव श्रीनन्दजी के चरणकमलो मे हम, कब साष्टाङ्ग प्रणाम करेंगे। हा ! सखे ! ऐसा शुभदिन कब आयेगा ? ॥२॥

अहह ! ऐसा शुभदिन कब आयेगा कि, जिस दिन, प्राकृत नेत्रो के अगोचर अतएव दिव्यातिदिव्य उस श्रीवृन्दावन से, जिसमे छहो ऋतु प्रत्येक समय विद्यमान रहते हैं, मैं, अत्यन्त हर्षित होकर, अनेक प्रकार के पुष्पो का चयन करके, पश्चात् सघन एवं विमल वनमाला को बनाकर शीघ्र ही श्रीहरि के कण्ठ मे धारण कराकर प्रसन्न हो जाऊँगा ॥३॥

हे सखे ! श्रीदामन् ! संसार के अनेक प्रकार के दुखों से दुखित शरीरवाला यह मेरा प्यारा सखा, आज मेरे पास आ गया है। अतः मैं, इसके विरह को, श्रीवृन्दावन को भूमि पर होनेवाले, कौतुकमय विविध विहारो के द्वारा, अभी दूर किये देता हूँ। श्रीदामा से, मेरे विषय में, ऐसा वार्तालाप करते हुए श्रीहरि, मुझको गाढा आलिङ्गन देकर सुखी कर द। हाय ! ऐसा शुभदिन कब आयेगा ? ॥४॥

सदा हा कृष्णेति क्वचिदपि च रामेति गदतः
सदा दृग्धाराभ्यां व्रजवनरजः पंकिलयतः ।
महामूर्च्छां यातः क्वचिदपि च भूमौ विलुठतः
कदा शेषा यास्यन्त्यहह ! दिवसा हे मम सखे ! ॥५॥

मनः श्रीकृष्णे त्वं कथमहह ! रक्तं भवसि नो
कथं वा संसारादपि खलु विरक्तं भवसि नो ।
यमाद् भीतिं भ्रातः कथमपि मनाक् त्वं भजसि नो
यमाद् भीश्चेत् कृष्णं तदपि कथमाहो भजसि नो ॥६॥

सदा सुध्युपास्य: कमलनयनो मध्वरिरपि
मुरारिर्धात्रीशो व्रजप - तनयो लाकृतिरपि ।
सखा यो गोपानां तरणि - तनया - तीरवसतिः
स वै श्रीकृष्णो मे नयनपदवीं यास्यति कदा ॥७॥

हे सखे ! श्रीकृष्ण ! देखो, मेरे अब तक के अनेकों जन्मों के दिवस तो, जिस प्रकार वीतने थे सो उसी प्रकार व्यतीत हो गये, किन्तु बाकी के बचे हुए मेरे इस जीवन के दिवस इस प्रकार कब व्यतीत होंगे कि, सदैव हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! एवं कभी कभी बीच बीच में, हा राम ! हा भैया बलराम ! इस प्रकार कहते हुए एवं सदैव बहनेवाली अश्रुधाराओं के द्वारा व्रज के वनों की रज को गीली बनाते हुए, तथा कभी महती मूर्च्छा को प्राप्त होते हुए और कभी व्रज की भूमि में लोट लगाते हुए ही व्यतीत हो जायें ॥५॥

अब अपने चञ्चल मन को समझाते हुए कहते हैं कि, अरे मेरे मन ! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि, तू ससार में महान् दुःख भोगते हुए भी, श्रीकृष्ण में अनुराग क्यों नहीं कर रहा है ? और इस असार ससार से विरक्त क्यों नहीं हो रहा है ? हे भैया मन ! तू यमराज से किंचिद् भी भय क्यों नहीं कर रहा है ? हाँ यदि तुझे यमराज से भय है तो यह बड़े आश्चर्य की बात है कि, यम से भय होनेपर भी तू श्रीकृष्ण का भजन, किसी प्रकार भी क्यों नहीं कर रहा है ? अब भी करने लग जाओ, नहीं तो पीछे पछिताओगे ॥६॥

मेरे नेत्रों के सामने वे श्रीकृष्ण कब आयेंगे कि ('सुध्युपास्य.' इत्यत्र सुधी उ उपास्यः, इति छेदः । अर्थात् सुधीभिः उना शम्भुना च उपास्य उपासनीय इत्यर्थ.) जो सुन्दर बुद्धिवाले विद्वानों के द्वारा तथा शंकरजी ने

सुमेघे मन्द वर्षति सति हि गोवर्धन - गिरौ
कदम्ब - श्रेण्याढ्ये व्रतति - तति युक्ते सुरभिले ।
युतो मित्रैः सर्वैरपि च बलदेवेन सहितः
कदा दोलारूढो नयनपदवीं यास्यति हरिः ॥८॥
कदा वा वर्षतौ नवदल - कदम्बेन निबिडे
कदम्बे श्रीकृष्ण सबलमुरुदोला - गतमहम् ।
प्रपश्यन् गायन् वा किमपि मधुरं पद्य - शकल
प्रकुर्वन् दोला - चालनमपि करिष्यामि मुदितम् ॥९॥
कदा वा श्रीरामः सखिसुखकरो रोहिणिसुतो
मुदा क्रीडन्त मा सखिभिरखिलैश्चापि हरिणा ।
गवां दूरं यात गणमपि समानेतुमखिल
सखे ! शीघ्र याहि त्वमिति वचन द्राक् कथयिता ॥१०॥

द्वारा भी उपासना करने योग्य है, अर्थात् वे भी जिनकी उपासना करते है, एव जिनके नेत्र, कमल के समान विस्तीर्ण है' एव जो 'मधु'–नामक दैत्य को मारनेवाने हैं, मुर के शत्रु हैं, एव विधाता (ब्रह्मा) भी जिनका अ श है, व्रजराज श्रीनन्द जी के जो पुत्र है, एव जिनकी 'आकृति' 'लृ'–अक्षर की तरह से तीन जगह टेढी है, अर्थात् जो त्रिभङ्ग छवि से सुशोभित हैं, और जो व्रजवासी गोपो के सखा है, श्रीयमुनाजी के तीरपर जिनका निवास स्थान है ॥७॥

कदम्बो की श्रेणी से सुशोभित एव माधवी आदि अनेक प्रकार की लताओ से युक्त, एव विविध पुष्पो की सुगन्ध से सुगन्धित श्रीगोवर्धन पर्वत मे, वर्षाऋतु मे सजल जलधर जब धीरे धीरे वरस रहा हो, एव कदम्ब की शाखापर, रेशम की डोरियो से युक्त मणिमय झूला पडा हो, उस झूलेपर श्रीबलरामजी के सहित श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हो, तथा सुदामा, श्रीदामा आदि सभी मित्र, जिनके चारो ओर विराजमान हो, ऐसी शोभा से युक्त श्रीकृष्ण, मेरे नेत्रो के सामने कब आयेगे ॥८॥

अहह ! ऐसा शुभ दिन कब आयेगा कि जिस दिन, वर्षाऋतु मे, श्रीगोवर्धन मे, नवीन एव कोमल पत्रो के समूह से सघन एक कदम्ब के वृक्षपर, बहुत ही सुन्दर एव अतिशय विशाल एक झूलापर श्रीबलदेवजी के सहित विराजमान श्रीकृष्ण का दर्शन करता हुआ, एव अतिशय मधुर किसी पद के "झूला झूल हरि-बलराम तरैटी श्रीगोवर्धन की" इसी एक टुकडे का ही गायन करता हुआ और धीरे धीरे झूला झुलाता हुआ मैं, अपने प्राण प्यारे श्रीहरि को प्रसन्न करूँगा ॥९॥

किमायाता कालः स इह जनने मे हतविधे-
　　यदा कृष्णो वक्ष्यत्ययि ! मम सखे ! मामुपगतः ।
त्वयाऽऽप्तं दुःखं संसृति - जलधिमग्नेन विपुलं
　　मया सार्धं क्रीडन्नविरतमिदानीं भव सुखी ॥११॥
कदा वा श्रीकृष्णं सखिभिरखिलैश्चापि हलिना
　　मुदाऽहं क्रीडन्तं तरणि - दुहितुर्वारिणि शिवे ।
वयस्यान् कुर्वन्तं मृदुसलिलसेकैर्हि मुदितान्
　　जलं सिञ्चन् दोर्भ्यां तदुपरि करिष्यामि मुदितम् ॥१२॥
अये कृष्ण ! भ्रातर्बलप्रिय ! यशोदेक्षणविधो !
　　व्रजानन्दिन् ! नन्दीश्वर - दयित ! हे नन्दतनय ! ।
सखे ! गोपालेन्दो ! सखिसुखद ! गोवर्धनधर !
　　कदाऽऽयातासि त्वं मम नयन - वीथीपथिकताम् ॥१३॥

अथवा ऐसा शुभ अवसर कब आयेगा कि, जब सभी सखाओं को सुख देनेवाले रोहिणीनन्दन श्रीबलरामजी, सभी सखाओं के साथ एव श्रीकृष्ण के साथ. हर्षपूर्वक खेलते हुए मुझसे शीघ्र ही ऐसा वचन कहेंगे कि, "हे सखे ! गउओं का समूह, हरी-हरी घास चरते चरते बहुत दूर चला गया है, अतः उनको लौटाने के लिये तुम शीघ्र ही चले जाओ ॥१०॥

अहह ! मन्दभाग्यवाले मेरे इस जन्म में वह समय भी कभी आयेगा क्या ? कि जब, श्रीकृष्ण मुझसे इस प्रकार कहेंगे कि, "हे मेरे प्रिय सखे ! अब तुम मेरे निकट आ गये हो, हाय ! सखे ! तुमने इस ससार-सागर में निमग्न होकर महान् दु.ख पाया है, अब घबराने की कोई भी बात नही है। क्योंकि, अब तो तुम, मेरे साथ निरन्तर क्रीडा करते हुए सुखी हो जाओ" ॥११॥

अहह ! मेरी यह अभिलाषा कब पूर्ण होगी कि, सभी सखाओं के सहित एवं श्रीहलधर के सहित, श्रीयमुनाजी के मङ्गलमय सुन्दर जल मे हर्षपूर्वक क्रीडा करते हुए, एव कोमल-कोमल जल के प्रपात से अपने सखाओं को प्रसन्न करते हुए श्रीकृष्ण को, उनके ऊपर, अपने दोनों हाथो के द्वारा अर्थात् दोनों हाथों की ही पिचकारी के द्वारा जल फेंकता हुआ मैं भी उनको प्रसन्न करूँगा ॥१२॥

हे भैया श्रीकृष्ण ! आपको श्रीबलदेवजी बहुत प्रिय लगते हैं । एव आप, श्रीयशोदा मैया के नेत्रों के तो मानो चन्द्रमा ही हो ! ब्रज को आनन्द

कदा वृन्दाटव्यां तरणि - दुहितू रोधसि हरिं
वसानं कौशेयं दधतमपि हस्ते मुरलिकाम् ।
तथा वामे पाणौ सरल - लकुटं काञ्चनमयं
करिष्ये गोविन्दं भुजयुगल - मध्यप्रणयिनम् ॥१४॥

अस्मत्कृते किमु कदापि भविष्यतीह, संदर्शनं भगवतो व्रजपासुतस्य ।
गोपैर्युतस्य बलदेव - समीपगस्य, श्रीयामुने तटवरे हसने परस्य ॥१५॥

मम तु परमप्रेष्ठस्तावत् समागतवानयं
बहुल - विमुखो मत्तो भूत्वा भ्रमन् भववारिधौ ।
इति हि निगदञ्श्रीदामानं हरिः प्रणयेन मां
स्वकरकमले धृत्वा गेहं प्रवेक्ष्यति हा कदा ॥१६॥

देनेवाले हो ! एवं श्रीनन्दग्राम आपको बहुत प्रिय है ! एवं वात्सल्य के मूर्तिमान् स्वरूप श्रीनन्दजी के तो आप प्रिय पुत्र ही हो ! हे सखे ! सभी नक्षत्रों की शोभा जिस प्रकार चन्द्रमा के द्वारा होती है, उसी प्रकार सभी ग्वालबालों की शोभा भी आपके ही द्वारा है। क्योंकि, आप सभी सखाओं को सुख देने वाले हो ! अतएव व्रजमात्र की रक्षा के लिये, श्रीगोवर्धन धारण करनेवाले हो ! हा भैया श्याम ! आप मेरे नेत्ररूपी गलों के पथिक कब बनोगे ॥१३॥

श्रीवृन्दावन में श्रीयमुनाजी के तीरपर, रेशमी पीताम्बर पहने हुए एवं दाहिने हाथ में मुरली तथा बायें हाथ में, मणियों से खचित सुवर्णमय सीधे लकुट को धारण किये हुए और गैया चराते हुए श्रीगोविन्द को मैं, अपनी दोनों भुजाओं के मध्य में प्रेम करने वाला कब बना लूँगा। अर्थात् उनमें भुज भरके कब मिलूँगा ॥१४॥

एवं यमुनाजी के कमनीय-कूलपर, सभी ग्वालबालों से युक्त एवं श्रीबलदेवजी के निकट बैठे हुए तथा हास्यरस में प्रधान श्रीमधुमङ्गल आदि सखाओं के साथ हँसने में तत्पर, यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्ण का सुन्दर दर्शन, मेरे लिये भी कभी होगा क्या ? हाय ! ऐसा समय इस जन्म में कभी आयेगा क्या ? । (इस श्लोक में 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥१५॥

श्रीकृष्ण के कर-कमल के स्पर्श की अभिलाषा को 'हरिणी' छन्द से प्रगट करते हुए कहते हैं कि "देखो, देखो, प्रिय सखे ! श्रीदामन् ! मुझसे अधिक विमुख होकर अतएव संसार-सागर में चक्कर लगाता हुआ यह मेरा प्यारा सखा आज, मेरी ही कृपा दृष्टि से मेरे निकट आ गया है" इस

न चाऽस्माकं प्रीतिर्गुरुवर - पदाम्भोजयुगले
न चाऽस्माकं प्रीतिर्बलहरि - पदाम्भोजयुगले।
न चाऽस्माकं प्रीतिर्हरिजन - पदाम्भोजयुगले
न जानीमः कस्मिन् वयमिह पतिष्याम उदरे ॥१७॥
यश उज्ज्वलयितुमिच्छसि भ्रात-, श्चेन्मे चेतः सायं प्रातः।
तर्हि भजस्व मनोरमलीलौ, व्रजराजाङ्गण - खेलनशीलौ ॥१८॥
वयस्य - मण्डलेन साकमर्कजा - जलेऽमले
मुदा विहार - तत्परा पराऽवराऽभिपूजिता।
मुकुन्द ! नूपुराह्व - चञ्चरीक - वन्दिवन्दिता
कदा पदाम्बुजद्वयी तवाऽवलोकयिष्यते ॥१९॥

प्रकार श्रीदामा के प्रति कहते हुए श्रीकृष्ण, अपने करकमल में मेरे हाथ को प्रेमपूर्वक धारण करके, श्रीयशोदा मैया के भवन में प्रवेश करेंगे। हाय ! ऐसा शुभ अवसर न जाने कब आयेगा ? ॥१६॥

भक्ति से विमुख होने के कारण कभी अपने मन को कुछ उत्पथगामी सा देखकर 'शिखरिणी' छन्द से कहते हैं कि, हाय ! न तो हमारी प्रीति श्रीगुरुदेवजी के ही चरणारविन्दों में है, एव न श्रीकृष्ण-बलदेव के ही चरणारविन्दों में है, और न श्रीहरि के भक्तों के ही चरणारविन्दों में प्रीति है। अत. हम नहीं जानते कि, कोन सी योनि में एव किस माता के उदर में जाकर गिरेंगे ॥१७॥

कदाचित् अपने मनकी चञ्चलता को देखकर अपने में कलक-पात की आशका करके अपने मन को समझाते हुए 'पज्झटिका' छन्द से कहते है कि, हे भाई मन ! यदि तुम अपने यश को उज्वलित करना चाहते हो तो प्रति-दिन प्रात काल एव सायंकाल के समय, परम मनोहर लीलावाले एव श्रीव्रजराज के आँगन मे खेलनेके स्वभाववाले श्रीकृष्ण-बलदेव का ही भजन कर ॥१८॥

कभी श्रीकृष्ण के दोनों चरण-कमलों के दर्शन को अभिलाषा करते हुए 'पञ्चचामर' छन्द से कहते हैं कि, हाय ! ऐसा दिन कब आयेगा कि जिस दिन मैं, अपने निर्हेतुक (अकारण) सुहृद (मित्र) श्रीव्रजराजकुमार श्रीकृष्ण के दोनों चरणकमलो का दर्शन करूँगा। हे सखे ! मुकुन्द ! आप अपने उन दोनों चरण-कमलो का दर्शन कराओ कि जो, मित्र-मण्डल के साथ मिलकर, श्रीयमुनाजी के निर्मल-जल मे हर्षपूर्वक विहार करने मे तत्पर

कलिन्दजा - तटी - वने वयस्य - युद्ध - केलिना
श्रमं गता गता च कुञ्जमध्य - पुष्पतल्पकम्।
विलोक्य राम - माधवद्वयी मया करिष्यते
गतश्रमा पदाम्बुजादि - लालनेन हा कदा ॥२०॥

कृतान्त-भगिनी - तटी-वन - विहारतः श्रान्तयो-
र्निकुञ्जवसतौ मुदा सहचरैश्च विश्राम्यतो.।
हलायुध - मुकुन्दयोरपि शनैः शनैरेव किं
विधास्यति जनो मुदा पदसरोज - संवाहनम् ॥२१॥

याऽऽसक्तिर्मे विविध - विषये या च देहे च गेहे
या वा लोके सुहृदि सकले पुस्तकालोकने या।
मिथ्याऽऽलापे परगुणगणाऽऽच्छादने या मुकुन्द
सा ते श्रीमत्पदकमलयोर्भाविनी हा कदा नु ॥२२॥

है, एवं ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त भी जिनकी पूजा करते हैं, तथा 'नूपुर' नामक चञ्चरीक(भ्रमर) रूप वन्दीजनोंके द्वारा जो प्रतिक्षण वन्दित है ॥१६॥

कभी श्रीकृष्ण-बलदेव के पादसंवाहन के सौभाग्य की अभिलाषा करते हुए 'पञ्चचामर' छन्द से कहते हैं कि, अहह! ऐसा सौभाग्य कब प्राप्त होगा कि, जब, श्रीयमुनाजी के तीरवाले वन में, सखाओं के साथ युद्ध-क्रीडा करने के कारण श्रम को प्राप्त हुए, अतएव सखाओं के द्वारा बनाई हुई पुष्पमयी शय्यापर, निकुञ्ज में विराजमान श्रीकृष्ण-बलदेवरूप दोनों भाइयों को निहारकर, उनके चरण-कमलों की सेवा आदि के द्वारा मैं, उन को परिश्रम से रहित करूँगा ॥२०॥

फिर भी चरण-सेवा की अभिलाषा को रूपान्तर से प्रगट करते हुए 'पृथ्वी' नामक छन्द से कहते है, यथा—श्रीयमुनाजी के तट के समीपवर्ती वनों में विहार करने से थके हुए, अतएव सखा-मण्डल के सहित निकुञ्ज में, सखाओं के द्वारा ही बनाई हुई नवीन कमलदलों की शय्यापर विश्राम करते हुए, दोनों भैया श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणकमलों की सेवा, धीरे-धीरे आनन्द-पूर्वक यह दीनजन भी कभी करेगा क्या? हाय! ऐसा सौभाग्य, मुझ पतित को न जाने कब मिलेगा ॥२१॥

"कभी अपनी आसक्ति को अन्यत्र देखकर हे हरे! आपके श्रीचरणों में ही मेरी गाढी आसक्ति कब होगी" इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द से कहते हैं कि, हे सखे मुकुन्द! विविध विषयों में, देह में, गेह में, लोक में, एवं सांसारिक प्रिय-मित्रों में, पुस्तकों के अवलोकन में,

शरन्मेघाभाभं दधतमपि नीलाम्बरमहो
　　दधानं गुञ्जानां स्रजमुरसि कापाटसदृशे ।
ललाटे कस्तूरी - रचित - तिलकं वीरमपि च
　　कदा वै द्रक्ष्यामो नयनपथमाप्तं हलधरम् ॥२३॥

कदा वा कालिन्दीतट - परिसरे नन्दतनयं
　　सुदाम्ना श्रीदाम्ना सुबल - वसुदाम्नाऽपि सुहृदा ।
विलास्योजस्विभ्यां विजय - कलविङ्काऽशुभिरपि
　　युतं देवप्रस्थेन्द्रभट - कलकण्ठादिभिरपि ॥२४॥

परितः परितप्यतेऽनया, भवबह्नेः शिखयाऽतितीक्ष्णया ।
कथमत्र न रक्ष्यते त्वया, जन एष त्वयि किं न भो ! दया ॥२५॥

मिथ्या-आलाप (भाषण) मे अर्थात् परस्पर मिथ्या भाषण मे, तथा दूसरे जनो के गुण-गणो को ढाँकने मे और पराये दोषो के उद्घाटन करने मे जो मेरी आसक्ति है, हाय ! वही आसक्ति, आपके परम शोभायमान दोनो चरणकमलो मे कब होगी । अर्थात् मेरा प्रेम, जैसा बाह्य वस्तुओ मे है, वैसा ही आपके श्रीचरणो मे कब होगा ॥२२॥

जिनका श्रीविग्रह, शरत्कालीन मेघ के समान शुभ-वर्ण का है, एव जो नीलाम्बर धारण किये हुए हैं, एव कपाट (किवाड) के समान विस्तीर्ण वक्ष स्थलपर जो गुञ्जाओ की माला एव वनमाला भी धारण किये हुए हैं, एव जिनके विशाल भालपर, कस्तूरी केसर मिश्रित चन्दन का हरिमन्दिराकृति तिलक विराजमान है, ऐसे वीरवर हलधर श्रीरोहिणीकुमार को हम, अपने नेत्ररूपी राजमार्ग मे आते हुए कब देखेंगे । और ऐसा सौभाग्य भी न जाने कब प्राप्त होगा कि, श्रीयमुनाजी के कमनीय-कूलपर इन्द्रनीलमणि के समान हरी हरी कोमल घास के ऊपर विराजमान, एव सुदामा, श्रीदामा वसुदामा, सुबल, विलासी, ओजस्वी, विजय, कलविंक, अंशु, देवप्रस्थ, इन्द्र-भट एव कलकण्ठ आदि सखाओ मे परिवेष्टित श्रीनन्दनन्दन को भी हम निर्निमेष नेत्रो से कब देखेंगे । (इन दोनो श्लोको मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥२३-२४॥

कभी काम-क्रोधादिरूप सासारिक दावाग्नि से पीडित होकर खद-पूर्वक प्रार्थना करते हुए 'वैतालीय' छन्द से कहते हैं कि, हे सखे ! देखो, विषयो मे लीन, अतएव भक्ति विहीन, अतएव अतिशय दीन, आपका ही यह एक जन समाररूपी दावानल की अतिशय तीक्ष्ण शिखाओ के द्वारा, चारो

हा हा हे कृष्ण! भ्रात 'कथमहह' जन नानुगृह्णासि दीन
दीनोद्धारावतार ! व्रतमपि किमहो विस्मृत विश्वबन्धो ! ।
बन्धो स्वस्याऽस्य किं ते विपदु न विदिताऽशेषविज्ञानरोह!
रोह किं स्वस्य सख्युर्मम न विदलित ससृतेर्वाटिकाया ॥२६॥

वीरभद्र - बलभद्र - सुभद्रं , स्तोककृष्ण - मणिबन्ध - विटङ्कं ।
भद्रसेन - सुविशाल - मरन्दै-, दाम - किंकिणि - वरूथप - वेधै ॥२७॥

गोभटादिभिरह सखिवृन्दै क्रीडताऽलममृते यमुनायाः ।
अच्युतेन सह कर्हि मिलित्वा, क्रीडनादि - सुखाभाग् भवितास्मि ॥२८॥

अयि सखे ! भुजपञ्जरगो मम, सबल एव भवान् भविता कदा ।
समुपलभ्य भुजान्तरगामह, तव तनु सुखितो भवितास्म्यहो ॥२६॥

ओर से जला ही जा रहा है । ऐसी अवस्था मे भी आप इसकी रक्षा क्यो नही करते हो ? आपमे दया नही रही है क्या ? अथवा अत्यन्त कठोर वज्र के मित्रस्वरूप कौस्तुभमणि के चिरकालीन सङ्ग से ही आप मे कठोरता आ गई है क्या ? ॥२५॥

कभी ससार से अत्यन्त दु खी होकर, उससे छूटने की प्रार्थना **'स्रग्धरा'** छन्द से करते हुए कहते है कि, हाय ! हाय !! हे भैया श्रीकृष्ण ! तुम इस दीन जनपर अनुग्रह क्यो नही करते हो ? हे सखे ! तुम्हारा अवतार तो दीनो के उद्धार के लिये ही हुआ करता है । क्या आप अपने व्रत को भी भूल गये हो ? हे विश्वभर के बन्धो ! (मित्र !) आपके इस सखापर आनेवाली विपत्तियाँ आपको विदित नही हैं क्या ? क्योकि, आप तो सम्पूर्ण विज्ञान के उत्पत्ति स्थान हो ! तो भी आपने, अपने इस सखा के, इस *ससाररूपी वाटिका मे,* बारम्बार जन्म-मरणरूपी अकुर को क्यो नही उखाडा ? अर्थात् हे सखे ! इस माया के चक्कर से शीघ्र ही छुडाकर, अपने नित्य सहचर परिकर मे मुझको भी कृपया मिला लो ॥२६॥

अब सखाओ के साथ खेलते हुए श्रीकृष्ण के साथ श्रीयमुनाजी के जल मे क्रीडा के सुख की अभिलाषा प्रगट करते हुए **'स्वागता'-नामक छन्द के दो श्लोकों से** कहते हैं कि, वीरभद्र, बलभद्र, सुभद्र, स्तोककृष्ण, मणिबन्ध, विटङ्क, भद्रसेन, विशाल, मरन्द, दाम, किङ्किणी, वरूथप, वेध, एव गोभट आदि सखा-वृन्दो के साथ मिलकर, निर्मल यमुना-जल मे, अतिशय क्रीडा परायण श्रीकृष्णचन्द्र से मिलकर मैं भी, जल-क्रीडा के सुख का भागी कब होऊँगा ॥२७-२८॥

सुबल - कोकिल-भगुर-भारती -, सुमधुमङ्गल - बन्ध - वसन्तकं ।
गृहल-गन्ध-कडार-सनन्दना‍ऽ-, र्जुन-विदग्धक - सान्धिक-हसकैः ॥३०॥

कपिल मङ्गल-पल्लवकोज्ज्वलाऽऽ-,दिभिरलं सखिभिर्नु कदा हरि ।
सुपरिहासपरो यमुनातटे, नयनवीथिगतो हि करिष्यते ॥३१॥

कदा प्रातः काले सखिभिरखिलैः साग्रजमहं
गवा पृष्ठे यान्त दधतमपि हस्ते मुरलिकाम् ।
तथा भृङ्ग वामोदर - परिसरे तुन्द - वसने
तथा वामे पाणौ सरल - लकुटं पीतवसनम् ॥३२॥

गले गुञ्जाहारान् विविधकुसुमानामपि तथा
मयूराणा पिच्छैं रचितमुकुट मूर्धनि तथा ।
ललाटे कस्तूरी - रचिततिलक मन्दिरविध
तथा मार्गे क्रीडां हरिमनु गमिष्यामि मुदित ॥३३॥

अब दोनो भाइयो मे भुजभर के मिलने की अभिलाषा प्रगट करते हुए 'द्रुतविलम्बित' छन्द से कहते हैं कि, अयि सखे व्रजराजकुमार ! आप, श्रीबलदेव भैया के सहित मेरे भुजारूपी पिंजरे मे कब आओगे। अहह ! हे सखे ! मैं तो तभी सुखी होऊँगा कि जब, आपकी श्रीमूर्ति को अपनी भुजाओ के अन्तर्गत देखूँगा ॥२६॥

अब श्रीयमुनाजी के तटपर, सखाओ के सहित परिहास परायण श्रीहरि के दर्शन की अभिलाषा को प्रकट करते हैं—सुबल, कोकिल, भगुर, भारती, मधुमङ्गल, बन्ध, वसन्त, गृहल, गन्ध, कडार, सनन्दन, अर्जुन, विदग्धक, सान्धिक, हस, कपिल, मङ्गल, पल्लव, उज्ज्वल आदि सखाओं के साथ, श्रीयमुनाजी के तटपर अतिशय परिहास परायण श्रीहरि को, मैं, इन नेत्रो से कब देखूँगा। (इन दोनो श्लोकों मे 'द्रुतविलम्बित'छन्द: है) ॥३०-३१॥

अब प्रात काल गोचरणार्थ श्रीवृन्दावन जाते हुए श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे जाने की अभिलाषा प्रगट करते हुए कहते हैं कि, अहह ! ऐसा शुभदिन कब आयेगा कि जिस दिन, दाहिने करकमल मे मुरली धारण किये हुए, तथा कमर मे कसे हुए पटुका मे, उदर की बाई ओर शृङ्ग को धारण किये एव बायें करकमल मे मणिमय सरल लकुट लिये हुए, पीताम्बर धारण किये हुए, गले मे गुञ्जाओ के हार एव अनेक प्रकार के पुष्पों के गजरे धारण किये हुए, तथा मस्तकपर मोर की पखों के द्वारा बनाया हुआ मुकुट धारण किये

सर्वर्तूद्भव - पुष्पैरपि युताच्छ्रीधाम - वृन्दावनाद्
हृष्ट सन्नविलम्बित विविधपुष्पाण्याहरिष्याम्यहम् ।
आचित्य ग्रथनं विधाय वनमालानां ततस्ता गले
श्रीसङ्कर्षण - नन्दनन्दनकयोर्निक्षेपयिष्ये मुदा ॥३४॥

पाषाणं श्यामवर्णैर्मरकतसदृशैर्यस्य पर्यन्तभूमि
श्यामाकारा कृता निर्झरमधुररवैर्ध्वानितो यस्य देशः ।
शृङ्गाण्याभान्ति रत्नैर्विविध-विधयुतैर्धातुभी 'रञ्जितानि
यश्चाऽसंख्यैर्लता-शाखिभिरपि विविधैरावृत स्वोद्भवैर्हि ॥३५॥

एतादृशे गिरिवरे क्रीडिष्यामि दरीषु च ।
साग्रजेन समित्रेण श्रीकृष्णेन सम कदा ॥३६॥

हुए, एव विशाल भालपर, केसर, कस्तूरी, एव कर्पूर मिश्रित चन्दन द्वारा विनिर्मित हरिमन्दिराकृति तिलक धारण किये हुए, प्रात काल श्रीदाऊजी के सहित एव सखा मण्डल से मण्डित होकर गऊओं के पीछे-पीछे जाते हुए, तथा मार्ग मे सखाओ के साथ अनेक प्रकार की क्रीडा करते हुए श्रीहरि के पीछे पीछे मैं भी हर्षित होकर जाऊँगा । [इन दोनो श्लोको मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥३२-३३॥

अब वनमालाये बनाकर उनको श्रीकृष्ण-बलदेव के गले मे अर्पण करने की अभिलाषा को प्रकट करते हुए 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द से कहते है कि, सदैव छ हो ऋतुओ के पुष्पो से युक्त श्रीधाम वृन्दावन से मैं, प्रसन्न होकर पहले तो अनेक प्रकार के पुष्पो को तोडूँगा, पश्चात् सुन्दर-सुन्दर वनमालाओ को बनाकर उन वनमालाओ को श्रीकृष्ण बलदेव के गल मे कब धारण कराऊँगा ॥३४॥

और देखो, जिस गिरिराज गोवर्धन के निकट की भूमि, मरकतमणि के समान श्यामवर्णवाली शिलाओ ने श्यामवर्ण की बना रखी है, एव जिसके आसपास का सारा प्रदेश, झरनाओ की सुमधुर ध्वनियो ने, प्रतिध्वनित कर रक्खा है, और जिसके अनेक शृङ्ग, रत्नो के द्वारा तथा अनेक प्रकार की धातुओ के द्वारा सुशोभित हैं, तथा जो, अपने मे ही उत्पन्न होनेवाले असख्य लता वृक्षादिको से ढका हुआ है । इस प्रकार के गिरिराज मे मैं, बडे भैया श्रीबलदेवजी एव सभी मित्रो से युक्त श्रीकृष्ण के साथ, श्रीगिरिराज की गुफाओं मे कब खेला करूँगा । [यहाँपर पहले श्लोक मे 'स्रग्धरा' छन्द है, दूसरे मे 'अनुष्टुप्' छन्द है) ॥३५-३६॥

अयि तात ! कदा तव बाहुयुगं, मम बाहुयुगे मिलितं भविता ।
बहुकाल - वियोगज - दु:खमहो, यमुना - पुलिने शमितं भविता ॥३७॥

हरे ! तवाङ्घ्रिपङ्कजं, पितामहादिवन्दितम् ।
स्वभक्तकामपूरक कदाऽवलोकयिष्यते ॥३८॥

अन्तर्यामित्वेन वेदा भवन्तं, गायन्तो नो पारमापुस्तथापि ।
अन्तर्यामी कल्पते नो सुखाय, मूर्धस्थं वा भोजनं क्षुन्निवृत्यै ॥३९॥

कल्पान्ते ते भाविनी चेत् प्रसक्ति-,स्तावत्कालं को वियोगं सहेत ।
सयोगो वा नो तदर्नो वरीयान्, बाहुभ्यां ते यत् परिष्वङ्ग-हीनः ॥४०॥

अब श्रीकृष्णचन्द्र से भुजभरकर मिलने की अभिलाषा को प्रगट करते हुए 'तोटक' छन्द से कहते हैं कि अयि प्रिय सखे ! श्रीकृष्ण ! तुम्हारी दोनों भुजायें मेरी दोनो भुजाओं मे कब सम्मिलित होंगी । अतएव बहुत समय के वियोग मे उत्पन्न हुआ मेरा दुःख भी, श्रीयमुना के तीरपर कब शान्त होगा ॥३७॥

अब श्रीकृष्णके चरणारविन्द के दर्शन की अभिलाषा प्रगट करते हुए 'प्रमाणिका'–नामक छन्द मे कहते है कि, हे हरे ! तुम्हारे उस चरणारविन्द का दर्शन मैं कब करूँगा कि, जो चरणारविन्द, ब्रह्मा आदि देवताओं के द्वारा सदैव वन्दित है, एव अपने भक्तों की सभी अभिलाषाओं को पूर्ण कर देता है ॥३८॥

"यदि कहो कि, मैं, अन्तर्यामीरूप से तो तेरे पास प्रतिक्षण रहता ही हूँ, तथापि तेरा मेरे दर्शनके विषयमें, इतना लोकोत्तर आग्रह क्यों है ?" इस आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि, 'सर्व-भूतेषु गूढः' 'सर्वस्य चाऽहृ हृदि सन्निविष्ट.' इत्यादि श्रुति–स्मृतियाँ, 'मैं, सभी के हृदय मे अन्तर्यामीरूप से सदैव निवास करता हूँ' इत्यादि रूप से आपके अन्तर्यामीपने का गायन करती हुई यद्यपि आपका पार नही पाती हैं तथापि अन्तर्यामी, प्राणीमात्र के सुखसविधान के लिये उस प्रकार समर्थ नही हो पाता कि जिस प्रकार मस्तकपर रक्खा हुआ भोजन भूख की निवृत्ति के लिये समर्थ नही हो पाता । (यहाँ 'शालिनी' छन्द है) ॥३९॥

"हे सखे ! यदि कहो कि, प्रलय के अन्त मे तो मेरे साथ तुम्हारा सयोग, स्वतः हो सिद्ध हो जायगा, फिर आकस्मिक सयोग के लिये क्यों पच रहे हो ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि, हे सखे ! व्रजराज-नन्दन! प्रलय के अन्त मे, यद्यपि तुम्हारा सयोग स्वतः हो हो जायगा तथापि तब तक आपके वियोग को कौन सहे । यदि किसी प्रकार आपके वियोग को

दक्षिणेक्षणेन भास्करेण दक्षिण ! क्षिणु
भक्तिभाजमाशु माऽनुगृह्य मानसं तमः ।
वामलोचनेन तापमर्पितेन मे कथ
ग्लौमयेन माधुनाऽधुना धुनासि नाथ ! नो ॥४१॥

विधि - निषेधमयीं ननु लंघयन्नहमहर्निशमस्मि गिरं तव ।
न सुलभ तपसाऽपि गिरैव भोस्तव प्रसादमपत्रप इच्छुकः ॥४२॥

ये सत्सङ्गमुपास्य भक्तिरसमाप्याऽपास्य ससारितां
याताः पारमपारसृष्टिजलधेर्धन्या हि ते मानवा ।
धन्यास्तेऽपि ये यतन्त इह वै गन्तु हि पार पर
निन्द्यास्ते हरिभक्ति-रक्ति-रहिता ये मादृशा दुर्जनाः ॥४३॥

सहन भी कर ले तो भी, उस प्रलय के समय का सयोग भी तो अच्छा नही है। क्योकि, वह सयोग तो आपकी भुजाओं के आलिङ्गन से रहित है, अत. ऐसे निरर्थक मयोग को मैं नही चाहता ॥४०॥

अब कभी अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याकुल हुआ एव तीनो तापो से सतप्त हुआ वह, इन दोनो की निवृत्ति के लिये अपने सखा से ही प्रार्थना करता हुआ कहता है कि, हे दक्षिण ! अर्थात् हे चतुरशिरोमणि सखे ! सख्य-भाव से भजन करनेवाले इस अपने सखापर अनुग्रह करके, इसके मानसिक अन्धकार को, अपने दक्षिण नेत्र-स्वरूप सूर्य के द्वारा दूरकर दीजिये। और हे आशीर्वाद प्रदान करनेवाले चतुर सखे ! इस अपने सखा के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इन तीनो तापों को, अपने वाम-नेत्र स्वरूप सुन्दर चन्द्रमा के द्वारा दूर क्यो नही कर रहे हो ? । (इस श्लोक में 'तूणक-नामक' छन्द है) ॥४१॥

अहह ! बड़े आश्चर्य की बात है कि, विधि एव निषेधरूप आपकी वाणी जो वेद है, उसको तो मैं रात-दिन लघन करता जा रहा हूँ, और चिरकाल की तपस्या से भी दुर्लभ आपकी प्रसन्नता को, केवल वचनमात्र से ही प्राप्त करना चाहता हूँ। अत. हे सखे ! इस ससार मे, मेरे समान भी कोई निर्लज्ज होगा क्या ? (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४२॥

इस ससार मे वे मनुष्य धन्य है कि जो, सत्सङ्ग के द्वारा भक्ति के रस को प्राप्त करके ससारीपने को छोडकर, अपार ससार-सागर से पार चले गये। एव वे भी धन्य हैं कि, जो इसी जन्म मे पार जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु निन्दनीय तो मुझ जैसे वे दुर्जन ही हैं कि जो, श्रीहरि की भक्ति

येनाऽनिष्ट-परम्पराढ्य-विषयेष्वारोप्यते सौख्यधीः
सोऽङ्गारस्पृगु सेवते विषलतां निस्त्रिशमालिङ्गति ।
कृष्णाशीविषगूहनं च कुरुते दन्तोद्धृतिं दन्तिनः
स्वात्मानं विनिपातयन् विनिपतन् नो वेत्ति गर्तेऽप्यहो ॥४४॥

अधिगतिस्तव नो बहुभिः श्रुतैः, प्रवचनैर्नहि कृष्ण ! न बुद्धिभिः ।
त्वमिह यं वृणुषे कृपया स्वया, तमिह दर्शयसि स्वकलेवरम् ॥४५॥

प्रयतते स हि ते लघु लब्धये, यमवलोकयसि स्वतया सखे ! ।
समधिगच्छति स त्वरितं जनो, मतिबलं परियच्छसि यस्मकं ॥४६॥

के अनुराग से बिल्कुल रहित है। (यहाँ 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥४३॥

अब इस बात का वर्णन करते हैं कि, जो व्यक्ति, विषयों में सुखमयी बुद्धि का आरोपण करते हैं, उनका सर्वथा पतन ही होता है। यथा—देखो, जो मनुष्य, अनिष्ट की परम्पराओं से भरे हुए विषयों में भी सुखमयी बुद्धि का आरोप करता है–वह, मानो जलते हुए अङ्गार का स्पर्श करता है, विष की लता की सेवा करता है अर्थात् विष-लता को सींचता है, नङ्गी तलवार से आलिङ्गन करता है, काले नाग से भुजभर के मिलता है, मदमत्त हाथी का दाँत उखाड़ता है, और अपनी आत्मा को गिराता हुआ तथा स्वयं गड्डे में गिरता हुआ भी नहीं समझ पाता है। अहह ! विषयों को छोड़ना बडा ही कठिन है। (यहाँ भी 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥४४॥

"अपनी बुद्धि एवं विद्या आदि के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति, भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता, हाँ वे जिसके ऊपर कृपा कर दें वह तो उनको अनायास ही प्राप्त कर लेता है" इस बात को 'द्रुतविलम्बित' छन्द के दो श्लोकों के द्वारा, सप्रमाण कहते हैं कि, हे प्रिय सखे ! श्रीकृष्ण ! आपकी प्राप्ति, वेद-पुराण आदि बहुत से शास्त्रों के पढ़ने से, सुन्दर से भी सुन्दर लच्छेदार व्याख्यान देने से एवं नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं से भी नहीं हो पाती, परन्तु आप, जिस व्यक्ति को अपनी अहैतुकी कृपा से अपनालेते हो, उसी व्यक्ति को, अपने भुवन-मोहन श्रीविग्रह का दर्शन कराते हो। इस विषय में यही श्रुति प्रमाण है कि,

"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥"

और हे सखे, आप, जिस जीव को अपना समझ करके देखते हो, वह शीघ्र ही, आपकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है; और आप, जिसको बुद्धि

धिग् धिग् धिङ्मामजस्रं नहि मम सदृशः कोऽप्यलज्जो हि जन्तु-
र्योऽहं ज्ञात्वापि शास्त्रं गुरुवरकृपया कर्तुमिच्छामि पापम्।
सत्यं सत्यं वदामि व्रजपतिसुतके नास्ति गन्धोऽपि प्रेम्णो
नो जाने भीमकर्मा हरिरतिरहितः कान् गमिष्यामि लोकान् ॥४७॥
सर्वं पद्ये मयाऽस्मिन् निगदितमनृप पूर्वके स्वस्य वृत्तं
वृत्तं श्रुत्वा मदीयं तदपि न दयसे हा सखे! निर्दयोऽसि।
योऽहं यादृक् तवाऽहं तव पदकमलं हा विहायाऽन्यदेवं
कं वा याचे मुरारे! नहि तव सदृशो दृक्पथं मे समेति ॥४८॥

का बल प्रदान करते हो वह आपको शीघ्र ही प्राप्त भी कर लेता है। इस विषय मे आपके श्रीमुख का वचन ही प्रमाण है—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इति। अत हे सखे! आपके श्रीचरणो मे मेरी भी यही करबद्ध प्रार्थना है कि, आप मुझे भी उसी बुद्धि-योग का प्रदान कीजिये कि, जिससे मैं भी आपको अनायास प्राप्त कर लूँ ॥४५-४६॥

कभी अपनी आत्मा को कुपथगामी-सा देखकर अपनी आत्मा को धिक्कार देते हुए कहते है कि, श्रीगुरुजी की कृपा से सभी शास्त्रो के रहस्य को जान करके भी मैं, पाप करना चाहता हूँ, क्योकि, मेरे समान कोई भी निर्लज्ज नही है। अत मुझको बारम्बार धिक्कार है। मैं सत्य कहता हूँ कि, श्रीव्रजराजकुमार मे मेरा किञ्चित् मात्र भी प्रेम नही है, अतः श्रीहरि की प्रीति से हीन अतएव भयकर कर्म करनेवाला मैं, न जाने कौन से लोको मे जाऊँगा? (इस श्लोक मे 'स्रग्धरा' छन्द है) ॥४७॥

पहले श्लोक मैं यथार्थ कहे हुए अपने चरित्र को श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन करके, उसकी रक्षा के लिये भी, दीनतापूर्वक उन्ही से प्रार्थना करते हुए 'स्रग्धरा' छन्द से कहते हैं कि, हे हरे! देखो, पहले श्लोक मे मैंने, अपने सम्पूर्ण चरित्र को यथार्थ-रूप से सत्य-सत्य ही कहकर सुनाया है। मेरे चरित्र को सुनकर भी आप दया नही कर रहे हो। हा सखे! आप बड़े निर्दयी हो, हा जाओ, इसमे मेरी कोई हँसी नही है, आपकी ही हँसी है क्योकि, आपके मित्र की ऐसी दशा होना उचित नही है। देखो, मैं तो, जो कुछ हूँ, जैसा हूँ तैसा आपका ही हूँ, क्योकि, "**निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गति**" 'मित्र चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष हो, परन्तु मित्र की तो मित्र ही परम गति है" यह, वाल्मीकीय-रामायण के, सुग्रीव एव श्रीरामजी के प्रसग का आधा पद्य ही मेरी गति के लिये, महामन्त्र का-सा काम कर रहा है। यदि कहो कि, मुझको छोडकर और किसी आशुतोष देवता को शरण

नरके परिपात-योग्यता, मयि सम्यक् खलु वर्तते सखे !
कुरुषे यदि मां स्वपार्श्वगं, प्रकटा स्यात् तव तर्हि योग्यता ॥४९॥
नरके पतनाय किंकरा-, स्त्वरयन्त्येव यमस्य रक्ष माम् ।
नहि भो ! पतनोन्मुखः सुहृत्, सुहृदा कर्हिचिदप्युपेक्ष्यते ॥५०॥

समापन्ने किंचित् त्वयि किमपि कार्यं न रमया
वचः किं सुग्रीवं प्रति निगदितं विस्मृतमिदम् ।
न चेत् कृष्ण ! भ्रातः ! कथमिह समापन्नमपि मा
दशास्योर्ध्वात् कामादपि कृतरणं तर्ह्यवसि नो ॥५१॥

ले लो, तहाँ कहते है कि, हे मुरारे ! आपके पद कमलो को छोडकर, दूसरे किस देवता की प्रार्थना करूँ । हाय ! मुझे तो, आपके समान मित्रो पर प्यार करनेवाला कोई भी नही दीखता है ॥४८॥

हे सखे ! देखो, नरक मे गिरने की तो मुझमे बहुत अच्छी योग्यता है, परन्तु आपकी योग्यता तो तभी प्रगट होगी कि जब आप, मुझको अपना निकटवर्ती सहचर बना लोगे । हे सखे ! यमराज के किंकर मुझको नरक मे डालने के लिये शीघ्रता कर रहे हैं । प्रियवर ! रक्षा करो, रक्षा करो, हे सखे ! कोई भी मित्र, गिरते हुए अपने मित्र की उपेक्षा नही करता है । (इन दोनो श्लोको मे 'वियोगिनी' छन्द है) ॥४९-५०॥

"अब श्रीहरि को, त्रेतायुग के मित्र-श्रेष्ठ श्रीसुग्रीव के, युद्ध-काण्ड के चरित्र का स्मरण कराते हुए, रावण से भी विशिष्ट बलवान् कामदेव-रूप शत्रु से रक्षा कीजिये" ऐसी प्रार्थना करते हुए 'शिखरिणी' छन्द से कहते है कि, हे रामावतारिन् ! सखे श्रीकृष्ण ! देखो, श्रीरामावतार मे, सुवेल पर्वत के शृङ्गपर प्रधान-प्रधान मित्रो के सहित बैठे हुए आपने, मित्र भाव मे भरकर, श्रीसुग्रीव के प्रति यह वचन कहे थे कि,

"इदानीं मा कृथा वीर ! एवंविधमरिन्दम ! ।
त्वयि किंचित् समापन्ने किं कार्यं मम सीतया ॥"

"हे मित्रवर्य ! सुग्रीव! यदि तुमपर किंचित् भी विपत्ति आ जाती तो मुझको 'सीता' से भी क्या प्रयोजन रह जाता ?" इन वचनो को आप भूल गये हो क्या ? । यदि नही भूले हो तो, महाभयकर विपत्ति में पड़े हुए मुझको क्यो नही बचाते हो ? यदि कहो कि, वह विपत्ति कौन सी है ? तो सुनिये ! देखो, सुग्रीव ने तो, अपने बराबर के मल्ल रावण से द्वन्द्व-युद्ध किया था, अत उससे विजयी होकर सकुशल आपके पास, सुवेल पर्वतपर आ गया

अयि हरे ! त्वयका कृपया यया, गृह - निबन्धनतो बहिरापित. ।
तव पदाब्ज - युगस्य शुभच्छटां लघु तया कृपयैव निदर्शय ॥५२॥

वेदैरावामजित ! कथितौ द्वौ सुपर्णौ सखायौ
सर्वज्ञस्त्व भवसि नितरामल्पबोधाऽऽश्रयोऽहम् ।
दु ख चातो विरहजनित प्राप्यते मित्रवर्य !
दु.ख येन व्रजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥५३॥

शुष्के तुण्डे मम विलपत प्रावृषा किं सुधाया
ससाराब्धौ लयमपि गते नाविकेनाऽथ किं वा ।
दृश्यां हीनां गतवति दशां मन्दहास्येन किं ते
प्राणैर्हीने सति वपुषि मे दर्शनेनाऽपि किं ते ॥५४॥

मधुराकृति विश्वमोहन, मुखमानीलरुगाविकस्वरम् ।
कुटिलाऽलक - वृन्दशोभितं, कृपया दर्शय हे सखे ! मम ॥५५॥

था। किन्तु मेरा द्वन्द्व-युद्ध तो, रावणपर भी विजय प्राप्त करनेवाले 'कामदेव'–नामक विशिष्ट मल्ल से हो रहा है मैं महान् दुर्बल हूँ, उसपर विजयी नही हो सकता। अत आपको, अपने निर्बल सखा की तो और भी विशेष सहायता करनी चाहिये।'५१॥

हे हरे ! आपने अपनी जिस महती कृपा से, गृहरूपी कठिन-बन्धन से मुझे बाहर निकाल दिया, कृपा करके उसी कृपा से तुम्हारे दोनो चरणारविन्दो की मङ्गलमयी-छटा को शीघ्र ही दिखा दीजिये (यह 'द्रुतविलम्बित छन्द है) ॥५२॥

अब श्रीकृष्ण के साथ अपने नित्य सख्य सम्बन्ध का स्मरण कराते हुए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द से कहते है कि, हे अजित ! भैया श्रीकृष्ण ! देखो, तुम्हारी वाणीरूप वेदों के द्वारा, हम तुम दोनो ही समान गुणवाले सखा कहे गये हैं। किन्तु तुम तो, विशेष सर्वज्ञ हो, मैं, महान् अल्पज्ञ हूँ; अतएव आपके विरह से उत्पन्न हुए दु ख को भोग रहा हूँ। अत. आपके विरह का दु ख जिस प्रकार दूर हो जाय, वह विधि भी आप ही सम्पादन करें ॥५३॥

'मन्दाक्रान्ता'-छन्द के चौवनवें श्लोक का भावार्थ सवैया मे–

मुख सूख गया यदि रोते हुए, तब अमृत ही बरसाया तो क्या ? ।
भवसागर मे जब डूब चुके, तब नाविक नाव को लाया तो क्या ? ॥
युग-लोचन बन्द हमारे हुए, तब निष्ठुर ह्वै मुसिकाया तो क्या ? ।
जब जीव ही न रहा जग में, तब दर्शन आके दिखाया तो क्या ? ॥५४॥

चत्वारो वार्षिका मासा रुदतस्तस्य निर्ययु ।
हा राम ! हा सखे ! कृष्णेत्यार्तवद् गदतस्तथा ॥५६॥

तथापि विरहव्याधे-र्वारकं तारकं हरिम् ।
अलब्ध्वा पतितुं सैच्छत् कुसुमाख्ये सरोवरे ॥५७॥

परन्तु भक्तविरहं कृष्ण सोढुमपारयन् ।
मूर्च्छां तु तस्य रक्षार्थं सखीमिव समादिशत् ॥५८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये

अनेकविधाऽभिलाप-प्रदर्शनं नाम

चतुर्दश सर्ग सम्पूर्ण ॥१४॥

हे प्राणप्रिय सखे ! आप मुझको कृपया, अपने उस मुखारविन्द का दर्शन करा दो कि, जिसकी आकृति बहुत सुन्दर है और दर्पण मे देखते समय उसका प्रतिबिम्ब जब आपको भी मोहित कर देता है तब, विश्वभर को मोहित कर देगा, इस विषय मे तो फिर कहना ही क्या है ? और जिसकी कान्ति, इन्द्रनीलमणि के समान है, एव जो मन्द मुसकान से तथा घुँघराली अलको से सदैव सुशोभित रहता है ॥५५॥

इस प्रकार अनेक भावनाओ का प्रदर्शन कर-करके रोते हुए एव "हा भैया ! बलराम ! एव हा सखे ! कृष्ण !" इस प्रकार आर्त की भाँति कहते हुए उस हरिप्रेष्ठ के वर्षा के चारो महीने व्यतीत हो गये । तथापि, विरहरूपी व्याधी से उबारनेवाले एव ससार सागर से तारनेवाले श्रीहरि को न पाकर, वह, 'कुसुम-सरोवर'-नामक सरोवर मे गिरने की इच्छा करने लग गया । परन्तु उसी समय, भक्त के विरह को सहन करने मे असमर्थ हुए श्रीकृष्ण ने, उस हरिप्रेष्ठ की रक्षा के लिये, मानो अपनी सखी की तरह मूर्च्छादेवी, उसके निकट भेज दी ॥५६-५८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते

श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये अनेकविधाऽभिलाप-प्रदर्शन नाम

चतुर्दश सर्ग सम्पूर्ण ॥१४॥

अथ पञ्चदशः सर्गः

मूर्च्छावस्थाया श्रीकृष्ण-बलदेव-दर्शनम्

एव मायैर्बहु स विलपन् दीर्घ - मूर्च्छा बभाज
देहे चाऽस्य प्रणय - रभसाद् भेजुरष्टौ विकाराः ।
कृष्णो दृष्ट्वा चरम - दशया तं गृहीत सखाय
मोक्तुं दुःखादिव सुरऋषिं प्रेषयामास शीघ्रम् ॥१॥

तत्रैवाऽऽस्तां गिरिवरनिले भौतिक तस्य देह
जीवाऽऽत्मान सपदि सविधे मे मुने ! प्रापयेथा ।
पश्चाच्छीघ्र मम सुरऋषे ! दर्शन कारयित्वा
त तत्रैव प्रशम - विमल लोक - हेतोर्नयेथाः ॥२॥

श्रुत्वा वाक्य भगवत ऋषिर्नारदो वीणया च
श्रीकृष्णेति प्रणय - रभसाद् भर्तृ - नामानि गायन् ।
गत्वा शीघ्रं विपुल - सुयशा भक्त दुःख जिहीर्षु-
र्मूर्च्छाभाजो हृदय - विवरे तस्य प्रादुर्बभूव ॥३॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

मूर्च्छावस्था मे श्रीकृष्ण-बलदेव का दर्शन

पहले दो सर्गों मे कहे हुए अनेक प्रकारके भावो द्वारा अधिक विलाप करता हुआ वह हरिप्रेष्ठ दीर्घकालीन मूर्च्छा को प्राप्त हो गया । एव स्तम्भ स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु (कम्पन) वैवर्ण्य (शरीर का रङ्ग बदल जाना) अश्रु, प्रलय (मूर्च्छा) आदि ये आठो सात्विक-भाव, प्रेम के वेग के कारण, इसके शरीर की सेवा करने लग गये । अर्थात् इसके शरीर मे आठो सात्विक विकार उत्पन्न हो गये । उस समय श्रीकृष्ण ने, अपने सखा को अन्तिम दशा के द्वारा पकडे हुए देखकर, मानो उस दुःख से छुडाने के लिये, उसके निकट, देवर्षि श्रीनारदजी को शीघ्र ही भेज दिया । [इस सर्ग मे आठवे श्लोक तक 'मन्दाक्रान्ता'—नामक छन्द है] ॥१॥

भेजते समय श्रीकृष्ण ने, नारदजी से कहा कि, हे मुनिजी ! देखो, उस हरिप्रेष्ठ के पाञ्चभौतिक देह को तो, उस गिरिराज की गुफा मे ही पडा रहने देना, एव उसकी जीवत्मा को शीघ्र ही मेरे निकट पहुचा देना । तथा हे देवर्षे ! उसके बाद, उसको मेरे दर्शन कराकर, मेरे मे निष्ठावाली बुद्धि से युक्त होने के कारण परम निर्मल उस हरिप्रेष्ठ को, लोक-कल्याणार्थ वही पर पहुँचा देना ॥२॥

वीणावन्त विमल - यशसा सर्व - लोकं पुनान
कान्त्या स्वान्तर्गत - बहुतम पापपुञ्जं धुनानम् ।
सर्वैः पूज्य शिवगिरिनिभ स्वच्छवासो वसान
स प्रीतात्मा हृदय - विवरे नारद सददर्श ॥४॥

कृष्ण श्रीमांस्तव सहचरो मामिदं सदिदेश
देवर्षे ! त्वं मम सहचर शीघ्रमेवाऽऽनयेथाः ।
तस्माच्छीघ्रं चल चल फलो भाग्य-शाखो तवाऽद्य
खेदं मा गा इति सुविनतं नारदस्त बभाषे ॥५॥

जीवात्मानं तदनु कथयन्नेव तस्याऽपि नीत्वा
श्रीकृष्णं त सह सहचरं रौहिणेयेन युक्तं ।
यशीनादैरिव सहचरान् प्रीणयन्तं नितान्तं
नीपस्याऽध स्थितमपि मुनिर्दर्शयामास भूय ॥६॥

ऋषिवर्य श्रीनारद भी, भगवान् श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर, अपनी वीणा के द्वारा, प्रेम के हर्षमय वेग के कारण, अपने स्वामी श्रीकृष्ण के "श्रीकृष्ण! गोविन्द ! हरे ! मुरारे! हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव!" इत्यादि नामो को गायन करते करते, वहाँपर शीघ्रही जाकर, अतएव महान् यश से युक्त होकर, एव भक्त के दु ख को हरने की इच्छा से युक्त होकर, मूर्च्छित दशा मे पडे हुए उस हरिप्रेष्ठ के हृदय-रूप छिद्र मे, अर्थात् उसके हृदय मे प्रगट हो गये ॥३॥

उस समय प्रसन्न मनवाले हरिप्रेष्ठ ने भी, अपने हृदयरूप बिल मे पधारे हुए श्रीनारदजी का दर्शन किया। श्रीनारदजी वीणा लिये हुए थे, अपने निर्मल यश के द्वारा सभी लोगो को पवित्र कर रहे थे, एव अपनी गौरकान्ति के द्वारा, हरिप्रेष्ठ के अन्त करण के अज्ञानरूपी भारी अन्धकार को तथा पापपुञ्ज को दूर कर रहे थे, सभी जनोके द्वारा पूजनीय थे कैलास-पर्वत के समान सफेद कान्ति से युक्त थे, तथा स्वच्छ-वस्त्र धारण कर रहे थे ॥४॥

उस हरिप्रेष्ठ के हृदय मे, योग के द्वारा प्रविष्ट हुए श्रीनारदजी ने विनम्र हुए उसके प्रति कहा कि हे प्रिय हरिप्रेष्ठ ! देखो, भैया ! तुम्हारे भैया श्रीकृष्ण ने, तुम्हारे निकट भेजते समय मुझसे यह सन्देश दिया था कि, हे देवर्षे ! तुम मेरे सहचर (मित्र) उस हरिप्रेष्ठ को शीघ्र ही ले आओ । इसलिये हे हरिप्रेष्ठ ! तुम शीघ्र ही चलो ! शीघ्र ही चलो!, तुम्हारा भाग्य-रूपी वृक्ष, आज सफल हो गया है, अत खेद को मत प्राप्त करो ॥५॥

प्रेष्ठः पश्चादयमपि हरेः शोभमानौ त्रिभङ्ग्या
गोभिर्गोपैरपि परिवृतौ नीपमूले स्थितौ च।
गौर - श्यामौ वसनयुगले नील - पीते दधानौ
शान्ताकारौ चिरसहचरौ रामकृष्णौ ददर्श ॥७॥

भूयो भूय प्रणय - रभसाद् राम - कृष्णौ विलोक्य
पश्चावारात् पदकमलयोर्दण्डवत् संपपात।
स्नेहाधिक्यात् स्वप्रिय - मिलतात् प्रेममूर्च्छां बभाज
संज्ञां लब्ध्वा स पुनरचिरात् साञ्जलिःस्तोतुमैच्छत् ॥८॥

श्रीराम कृष्ण-स्तोत्रम्

वेदाः स्तोतु मैव सर्वे समर्था, यौ तौ मूढोऽहं कथ स्तोतुमीशः।
किन्तु श्रद्धाशालिनी-वाग् हि प्रीत्यै,जायेतेति स्तोतुमीशोऽस्मि बालः॥९॥

उसके बाद, इस प्रकार कहते हुए श्रीनारदजी ने, उस हरिप्रेष्ठ की जीवात्मा को, अपने साथ लेकर उसके लिये श्रीकृष्ण का दर्शन करा दिया। उस समय श्रीकृष्ण, अपने दिव्य वृन्दावन मे, अपने सभी मित्रो से युक्त थे एव रोहिणीनन्दन श्रीबलदेवजी से युक्त थे, एव अपनो वशो को सुमधुर ध्वनियों के द्वारा मानो अपने सखाओ को भारी प्रसन्न कर रह थे, तथा एक सघन कदम्ब के नीचे खडे थे ॥६॥

उसके बाद, इस हरिप्रेष्ठ ने भी, अपने सनातन सखा श्रीकृष्ण-बलदेव का दर्शन किया। उस समय श्रीराम-कृष्ण, दोनो भाई, त्रिभङ्गी चाल से खडे हुए अपनी बाँकी झाँकी से शोभा पा रहे थे; गोगण एव गोप-गणो से चारो ओर से घिरे हुए थे, कदम्ब के नीचे खड़े हुए थे, गौर-श्याम वर्ण से युक्त थे, नीलाम्बर एव पीताम्बर धारण किये हुए थे, उस समय दोनो का ही आकार शान्त था ॥७॥

उस समय वह हरिप्रेष्ठ, प्रेम के वेग से, अपने प्यारे श्रीकृष्ण-बलदेव को, हर्षपूर्वक बारम्बार निहार कर, उन दोनो के चरण-कमलो मे दण्ड की तरह गिर पडा। एव स्नेह को अधिकता के कारण, तथा अपने प्रिय सखाओं के मिलने से वह, प्रेममयी मूर्च्छा को प्राप्त हो गया। उसके बाद वह, शीघ्र ही सचेत होकर हाथ जोडकर, श्रीकृष्ण-बलदेव की स्तुति करने को इच्छा करने लग गया ॥८॥

श्रीराम-कृष्ण-स्तोत्र

वह स्तुति करते समय, अपने मन मे विचार करता हुआ बोला कि, जिन श्रीकृष्ण-बलदेव को स्तुति करने को, समस्त वेद भी जब समर्थ नही

आनन्दाब्धौ स्वाञ्जनान् मज्जयन्तौ, भूमेर्भारं दूरमापादयन्तौ।
यौ कुं प्राप्तौ स्वं यशः ख्यापयन्तौ,तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१०॥
यौ वात्सल्यान्नन्दगेहेऽवतीर्णौ, मातृत्वेन प्रेमरश्मौ निबद्धौ।
स्वीचक्राते रोहिणी-श्रीयशोदे, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥११॥
वृन्दारण्ये चेरतुश्चारयन्तौ, गाः गोपैर्यौ लीलया मर्दयन्तौ।
रक्षो-व्यूहान् देवताः प्रीणयन्तौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१२॥
यौ शोभेते नील - पीते दधानौ, वक्षे कक्षे शृङ्ग-वेत्रे दधानौ।
गुञ्जाहारान् वंशिकां चाऽऽदधानौ,तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१३॥
गौरां श्यामामङ्गशोभां दधानौ, बर्हापीडं मस्तके चाऽऽदधानौ।
ऊर्ध्वं पुण्ड्रं श्रीललाटे दधानौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौनमामः ॥१४॥

हैं तब, अतिशय मूढ-बुद्धिवाला मैं, स्तुति करने को किस प्रकार समर्थ हो सकता हूँ ? अर्थात् किसी प्रकार भी नही। किन्तु-"श्रद्धा से शोभायमान वाणी ही, भगवान् की प्रसन्नता के लिये सम्पन्न हो सकती है" इस कारण से तो मैं, अज्ञानी बालक भी, उनकी स्तुति करने को समर्थ हूँ। (इस श्लोक से छब्बीसवे श्लोक तक "शालिनी"-नामक छन्द है) ॥६॥

हम, उन श्रीकृष्ण-बलदेव को नमस्कार करते हैं कि, जो अपने भक्तों को आनन्दरूप समुद्र में गोता लगवाते हुए, भूमि का भार उतारते हुए एवं अपने यश का विस्तार करते हुए भूतलपर अवतीर्ण हुए थे। और जो, प्रेमरूपी रज्जू मे निबद्ध होकर, वात्सल्य रस से श्रीनन्द-भवन में अवतीर्ण हुए थे, एव जिन्होंने श्रीयशोदा एव श्रीरोहिणी को, मातृभाव से अङ्गीकार किया था ॥१०-११॥

और हम, उन्ही श्रीकृष्ण-बलदेव को नमस्कार करते हैं कि, जो, ग्वाल-बालों के सहित गैया चराते हुए, दैत्यों के समूह का, अनायास मर्दन करते हुए, देवताओं को प्रसन्न करते हुए श्रीवृन्दावन मे विचरण करते रहे। एव जो, श्रीराम-कृष्ण, क्रमशः नीलाम्बर पीताम्बर धारण करके सुशोभित हो रहे हैं; एव अपनी अपनी बगल में शृङ्ग एवं लकुट धारण करके, गले मे गुञ्जाओं के हार तथा अधरपर बंशी धारण करके सुशोभित हो रहे है ॥१२-१३॥

और हम, उन श्रीराम-कृष्ण को नमस्कार करते हैं कि, जो, अपने अपने श्रीअङ्ग की, गौर-श्यामवर्ण की शोभा को धारण कर रहे है, मस्तक-पर मोरमुकुट, कटि मे काछनी, एव शोभायमान ललाटपर उर्ध्व पुण्ड्र

श्रीनासाग्रे मौक्तिकं चाऽऽदधानौ,मुक्ता-हारान् कौस्तुभं चाऽऽदधानौ ।
केयूरे वा बाहुयुग्मे दधानौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१५॥

हैमे बाह्वोः कङ्कणे चङ्कणाख्ये, सौवर्णे वा कर्णयो कुण्डले द्वे ।
मञ्जीरौ वा हंसहारि - प्रणादौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमाम ॥१६॥

शैलूषाणां वेषमात्रं दधानौ,मित्राऽऽवेशाद् धातुचित्राणि चाऽङ्गे ।
रत्नाऽऽलीढां शृंखलां श्रोणिदेशे, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमाम' ॥१७॥

भृङ्गाकारं कुन्तलैरञ्चितौ यौ, यौ सर्वाङ्गं सुन्दरौ हृद्य देयौ ।
स्निग्धौ यौ हैयङ्गवीनादपीह, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमाम ॥१८॥

गोपं खेला नृत्य - वादित्र - गीतै-, र्बाहुक्षेपैः सेतुबन्धादिभिर्वा ।
यौ चक्राते स्वाङ्गगान् प्रीणयन्तौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥१९॥

हस्तौ धृत्वा मित्रयोरंस - देशे, यान्तौ गोष्ठे मोहनं चक्रतुर्यौ ।
गो-गोपाना गोपिकाना तिरश्चा, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमाम. ॥२०॥

गर्वं जिष्णोर्मर्दयाञ्चक्रतुर्यौ, शैल - श्रेष्ठं पूजयाञ्चक्रतुर्यौ ।
तन्माहात्म्यं दर्शयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमाम ॥२१॥

(मन्दिराकृति ऊंचातिलक) धारण कर रहे हैं । और शोभायमान नासिका के अग्रभाग मे, मोती धारण किये हुए हैं, तथा गले मे मुक्ताहार, कौस्तुभ-मणि पहने हुए है, और दोनो भुजाओं मे बाजूबन्द पहने हुए हैं ॥१४-१५॥

एव दोनो हाथो मे, सुवर्णमय 'चङ्कण'—नामक कङ्कण पहने हुए हैं, एवं दोनो कानो मे सुवर्णनिर्मित कुण्डल पहने हुए हैं' तथा दोनों चरणो मे हंसो की ध्वनि का तिरस्कार करनेवाले नूपुर पहले हुए हैं । एवं नटवर वेष धारण किये हुए हैं, एव मित्रभाव के आवेश मे, अपने अपने अङ्ग मे, नीली-पीली गैरिक आदि धातु के चित्र धारण कर रहे हैं, और कटिप्रदेश मे रत्न जटित करधनी को पहन रहे है ॥१६-१७॥

एव जो भ्रमरो के समान काले घुंघराले केशो से सुशोभित हैं' एवं सर्वाङ्ग सुन्दर हैं, मनोहर वेषवाले है, एव जो, नवनीत से भी कोमल हैं; एव जो, अपने प्यारे ग्वालबालो के साथ, नृत्य, वाद्य, गीत आदि के द्वारा, तथा ताल फटकारना, सेतुबन्धन आदि के द्वारा, अपने भक्तो को सुख देते हुए, ब्रज मे सदैव क्रीडा करते रहते हैं, हम उन्हीं श्रीकृष्ण-बलदेव को नमस्कार करते है ॥१८-१९॥

एव अपने दो सखाओ के कन्धेपर हाथधर कर, ब्रज मे भ्रमण करते हुए जिन्होंने, गोगण, गोपगण, गोपीगण एव पक्षीगण को भी मोहित कर

नन्दग्रामं भूपयाञ्चक्रतुर्यौ, नन्दाऽऽत्मानं तोषयाञ्चक्रतुर्यौ ।
भक्ताऽभीष्टं पोषयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥२२॥

चित्तं स्वानां मोषयाञ्चक्रतुर्यौ, वंशी - नादं घोषयाञ्चक्रतुर्यौ ।
कंसाऽऽत्मानं शोषयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥२३॥

कान्त्या मारं मोहयाञ्चक्रतुर्यौ, भूषा - सारं शोभयाञ्चक्रतुर्यौ ।
वृन्दागारं शोभयाञ्चक्रतुर्यौ, तौ श्रीयुक्तौ रामकृष्णौ नमामः ॥२४॥

प्रीतौ स्यातामेतया नः सखायौ,स्तुत्या प्रीतौ मित्र-भावं च दत्ताम् ।
गाढा प्रीतिस्तत्पदाब्जेषु चाऽऽस्तां,धीरास्तां नः पादपद्मे गुरूणाम्॥२५॥

स्तोत्रं चैतद् रामकृष्णेशयोर्यैः, लोके लोकैर्गास्यते भक्तियुक्तैः ।
भूमौ भोगान् प्राप्य भुक्त्वा तथाऽन्ते,गोलोकस्तैः प्राप्स्यते नाऽत्र चिन्ता।२६।

दिया; एवं जिन्होंने इन्द्र के मान का मर्दन कर दिया, तथा गिरिराज की पूजा करवा दी, अतएव श्रीगिरिराज की महिमा दिखा दी, हम उन्ही दोनों भैयाओ को नमस्कार करते हैं ॥२०-२१॥

एव जिन्होंने श्रीनन्दग्राम को विभूषित कर दिया, श्रीनन्दबाबा की आत्मा को सन्तुष्ट कर दिया, भक्तमात्र के अभीष्ट को पुष्ट कर दिया; अपने प्रेमी भक्तों के चित्त को चुरा लिया, वंशी की ध्वनि को घोषित कर, दिया, कंस की आत्मा को शोषित कर दिया; हम उन्ही दोनों भैयाओ को नमस्कार करते हैं ॥२२-२३॥

हम, उन्ही श्रीकृष्ण-बलदेव को बारम्बार नमस्कार करते हैं कि, जिन्होंने अपनी लोकोत्तर कान्ति के द्वारा, कामदेव को भी विमुग्ध कर दिया; एव अपनी अङ्गकान्ति के द्वारा, श्रेष्ठ भूषणों को भी विभूषित कर दिया; एव श्रीवृन्दावन का भी सुशोभित कर दिया। इस स्तुति के द्वारा, हमारे प्यारे सखा श्रीकृष्ण-बलदेव, हमपर प्रसन्न हो जायँ, एव प्रसन्न होकर, हमको अपने में मित्रभाव का प्रदान करदे। उन दोनों के चरण में हमारी प्रीति बनी रहे, तथा हमारी बुद्धि, श्रीगुरुदेव के चरण कमलों मे लगी रहे ॥२४-२५॥

जो लोग, भक्ति से युक्त होकर, भूतलपर इस 'श्रीराम-कृष्ण स्तोत्र' का गायन करते रहेंगे, वे सब, इस भूमिपर सभी भोगों को पाकर, उनका यथेष्ट उपभोग करके, अन्त में 'गोलोक धाम' को अनायास प्राप्त कर लेंगे। इस विषय में, कोई भी चिन्ता नही है ॥२६॥

दर्शनान्ते श्रीकृष्णादेश

इति स्तुवन्त हरिप्रेष्ठमाराद्, हरिः परिष्वज्य च रौहिणेयः।
समूचतु स्वागतपूर्वमेवं, सखे ! चिरादद्य समागतोऽसि ॥२७॥
करे हरिप्रेष्ठ - कर गृहीत्वा, निपीड्य पश्चाद् हरिरित्युवाच।
मया विना भूरि सखेऽन्वभावि, त्वयाऽसुख ससृति - चक्रवाले ॥२८॥

बहु भ्रान्त भ्रातर्मम विरहखिन्नेन भुवने
नहीदानीं त्वा मे विरह-जनिताऽऽतिर्व्यथयतु।
परन्त्वेका वार्ता कलय कथयामि स्फुटमह
धिया ध्यायन् धीमन् ! कुरु च सफलां तां मम सखे ! ॥२९॥

सुदुर्गम्या लोकैर्निगम - गदितत्वात् कुमतिभि-
विलुप्तप्राया सख्यरसपरिपाटी प्रकटिता।
ममाऽऽज्ञा-भक्तेनाऽविकल - कलकण्ठेन सुहृदा
तवैवाऽऽचार्येण त्वमपि विपुलां तां कुरु सखे ! ॥३०॥

दर्शन के अनन्तर श्रीकृष्ण का आदेश

इस प्रकार निकट से ही अपनी स्तुति करते हुए हरिप्रेष्ठ से, भुज भर के मिलकर, स्वागत-पूर्वक श्रीकृष्ण-बलदेव, इस प्रकार बोले कि, हे सखे ! तुम आज बहुत दिन मे आये हो ॥२७॥

उसके बाद, श्रीकृष्ण ने, हरिप्रेष्ठ के हाथ को अपने हाथ मे पकडकर एव उसके हाथ को मित्र-भाव से मसककर इस प्रकार कहा कि, हे सखे ! तुमने, मेरे विना, इस संसार-मण्डल मे महान् दु ख का अनुभव किया है। (२७, २८ वे श्लोको मे 'उपेन्द्रवज्रा' छन्द है) ॥२८॥

हे भैया ! देखो, मेरे विरह से खिन्न होकर तुम, इस ससार मे खूब चक्कर लगाते रहे, किन्तु अब, तुझको, मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाली पीडा पीडित नही कर सकेगी। परन्तु मेरी एक बात को ध्यान देकर सुनो ! मैं, तुमसे स्पष्ट कहता हूँ कि, हे धीमन् ! सखे ! तुम, मेरी उस बात को, बुद्धि से स्मरण करते हुए सफल कर दो। (२९ से ३१ के श्लोक तक 'शिखरिणी' छन्द है) ॥२९॥

वह बात यह है कि, देखो, मेरे सख्य-रस की परिपाटी अर्थात् मेरे मित्र-भाव की परम्परा, वेदो मे वर्णित होने के कारण, कुबुद्धिवाले लोगो के लिये प्राय महान् अगम्य ही है; अतएव वह प्राय लुप्त-सी भी हो चुकी है। परन्तु मेरी आज्ञा के परम-भक्त, अतएव समर्थ, मेरे प्रिय-मित्र 'कलकण्ठ'–

निपादे सुग्रीवे दशमुख - लघु - भ्रातरि तथा
सुदाम्नि श्रीदाम्न्युद्धव - सुबलयोरर्जुनसखे।
स्वभाव मे नैव प्रथितमपि जानन्ति कुधिय
कया रीत्या चैभी रतिमकरवं के नहि विदुः ॥३१॥

मित्र - भाव - युतमागतमात्र, नैव त्यजामि जन क्षणमात्रम्।
दोषी यदपि भवेदतिमात्रं, महतामेदगर्हितमात्रम् ॥३२॥

इति प्रतिज्ञां मम धारयित्वा, जना जनान् ये मम मित्र - भावे।
प्रवर्तयन्ते भुवि ते यथा मे, प्रसन्नता यान्ति तथा न चाऽन्ये ॥३३॥

ततस्त्वमप्येतददभ्र - बुद्धे !, वचो मम प्रीतमना गृहीत्वा।
प्रचार्य भूमौ मम मित्र - भाव, द्रुत समायाहि ममैव पार्श्वम् ॥३४॥

नामक सखा ने, वह सख्य-रस की परिपाटी, ससार मे प्रगट कर दी है। मेरे प्यारे वे 'कलकण्ठ'–नामक सखा ही, तुम्हारे श्रीगुरुदेव के रूप से अवतीर्ण हुए है। अत, हे सखे! सख्य-रस की उस परिपाटी का तुम भी अधिक रूप से प्रचार कर दो ॥३०॥

और देख, भैया! निपादराज के ऊपर एव सुग्रीव के ऊपर तथा रावण के छोटे भाई विभीपण के ऊपर और सुदामा, श्रीदामा, उद्धव, सुवल एव अर्जुन-नामक सखा के ऊपर, लोक-एव शास्त्र प्रसिद्ध भी मेरे मित्रभाव-मय स्वभाव को, कुबुद्धिवाले जन नही जानते है। मैंने, इन सव सखाओ के साथ, कौनसी रीति से प्रीति की है, इस बात को कौन से विद्वान् नहीं जानते? ॥३१॥

और देख, पहले त्रेतायुग मे श्रीरामरूप से अवतीर्ण होकर मैंने, विभीपण की शरणागति के प्रसङ्ग मे यह प्रतिज्ञा करी थी कि, "मित्र-भाव से युक्त हो, मेरी शरण मे आये हुए जन-मात्र को मैं, एक क्षण-मात्र भी नही त्यागता हूँ। चाहे वह महान् दोपी ही क्यों न हो? । क्योंकि, महापुरुपो की दृष्टि मे वह निन्दित नही है" इस प्रकार की मेरी प्रतिज्ञा को हृदय मे धारण करके, जो व्यक्ति, दूसरे जनो को भी मेरे मित्र-भाव मे प्रवृत्त कर देते है, इस भूमि मे वे व्यक्ति जिस प्रकार मेरी प्रसन्नता को प्राप्त कर लेते है, उस प्रकार की प्रसन्नता को दूसरे व्यक्ति नही प्राप्त कर पाते। (इन दोनो श्लोकों मे "पज्झटिका"–एव 'उपेन्द्रवज्रा' छन्द है) ॥३२-३३॥

अत हे विशालबुद्धे! सखे! मेरे इस पूर्वोक्त वचन को, तुम भी प्रसन्न मन से ग्रहण करके, भूतलपर मेरे मित्र भाव का प्रचार करके, शीघ्र

इतीरयित्वा भगवान् मुकुन्द, प्रबोधयामास दृगिङ्गितेन।
समीपगं देवऋर्षि पुरोक्तं, तथैव चक्रे मुनि - नारदोऽपि ॥३५॥

अथ प्रबुद्धस्तु हरिप्रियोऽसौ, गते मणौ सर्प इवाऽऽप खेदम्।
विचारयामास ततः स भूयो, विलोकित स्वप्न उताऽच्युतो वा ॥३६॥

नहीदृश स्वप्नवरो व्यलोकि, मया कदाचिद् भुवि जन्मभाजा।
न चार्हति स्वप्न इतीतिलीला, विलोकित श्रीहरिरेव नूनम् ॥३७॥

श्रीहरिदर्शनान्ते गुरोर्निकट आगमन वार्तालापश्च

इतीव निश्चित्य ततस्तदाज्ञां, यथाबल पूरयितु चचाल।
चलन्नमस्कृत्य च शैलराजं, कृत कृतार्थं पुनरित्युवाच ॥३८॥

ही मेरे निकट चले आना। (इस चौतीसवें श्लोक से ४६ वें श्लोक तक 'उपेन्द्रवज्रा' छन्द हैं) ॥३४॥

उस हरिप्रेष्ठ के प्रति इस प्रकार कहकर, जीवमात्र को मुक्ति देनेवाले श्रीकृष्ण ने, अपने नेत्र के इशारे से, अपने निकटवर्ती देवर्षि नारद को, पहली बात याद दिला दी। श्रीनारद-मुनि ने भी उसी प्रकार कार्य कर दिया। अर्थात् श्रीकृष्ण के इशारे से, हरिप्रेष्ठ की जीवात्मा को जिस प्रकार लाये थे, उसी प्रकार वही पर पहुँचा दी ॥३५॥

उसके बाद, मूर्च्छावस्था से सचेत हुआ वह हरिप्रेष्ठ, मणि के चले जानेपर जिस प्रकार मणिधर सर्प खेद को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-बलदेव के दर्शन के अभाव से खेद को प्राप्त हो गया। थोडी देर बाद, वह विचार करने लगा कि, यह मैंने स्वप्न देखा है अथवा श्रीकृष्ण का ही दर्शन किया है। मैंने इस भूमिपर जबसे जन्म लिया है तब से लेकर आज तक ऐसा स्वप्न तो कभी भी नही देखा है? अत यह स्वप्न नही हो सकता। क्योकि, स्वप्न मे इस प्रकार की अद्‌भुत लीला कभी भी नही हो सकती? अत मैंने, निश्चित रूप से श्रीहरि को ही देखा है ॥३६-३७॥

श्रीहरिके दर्शनके बाद श्रीगुरुजी के निकट आना एव वार्तालाप

"मुझको मूर्च्छावस्था मे श्रीकृष्ण-बलदेव का ही दर्शन हुआ है" ऐसा निश्चय करके वह हरिप्रेष्ठ, अपनी शक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण की आज्ञा को पूर्ण करने के लिये श्रीगिरिराज से चल दिया। चलते समय श्रीगिरिराज को नमस्कार करके पुन यह बोला कि, हे गिरिराज महाराज! आपने मुझको कृताथ कर दिया ॥३८॥

स्मरन् गुणानां च हरेर्बलस्य, शनैः शनैर्यान् सुपथः स पारम् ।
प्रचारयन्त भुवि मित्रभावं, गुरु स्वकीयं समया समायात् ॥३९॥

प्रसन्न - चित्तो हरिप्राप्तिहेतोः, स दण्डवच् श्रीगुरुदेवतायाः ।
पतन् पदाम्भोरुह - युग्ममध्यं, मुदुद्गतैरश्रुजलैरसिञ्चद् ॥४०॥

गुरु समुत्थाप्य च सस्वजे त, ततश्च पप्रच्छ विनीतवेषम् ।
मनोरथस्ते किमपूरि पुत्र !, गुरो ! कृपालो ! कृपया तवैव ॥४१॥

ततो निज सर्वमुदन्तजात, निवेद्य तस्यै गुरुदेवतायै ।
प्रसादितु ता गुरुदेवता च, स शास्त्रमध्येतुमथो ययाचे ॥४२॥

प्रतारितो देव ! मया चिर त्व, न पूरितस्ते मनसोऽभिलाषः ।
गुरो ! यथाशक्ति करिष्यते ते, वचोऽधुनाऽवश्यमपास्य शाठ्यम् ॥४३॥

वह हरिश्रेष्ठ, श्रीकृष्ण-बलदेव के गुणो का स्मरण करता हुआ धीरे-धीरे सुन्दर मार्ग के पार जाता हुआ, इस भूतलपर श्रीहरि के मित्र-भाव का प्रचार करनेवाले अपने श्रीगुरुदेव के निकट चला आया। (अत्र श्लोके 'सुपथः' इति शब्दे 'न पूजनात्' इति निषेधात् समासान्तो न) ॥३९॥

और आते ही, श्रीहरि की प्राप्ति के कारण प्रसन्न चित्तवाले उसने, श्रीगुरुदेव के चरणकमलो मे दण्ड की तरह गिरकर, श्रीगुरुदेव के दोनो चरण-कमलो के मध्य भाग को, हर्ष से उत्पन्न हुए अश्रुजलो के द्वारा अभिषिक्त कर दिया ॥४०॥

श्रीगुरुदेव ने उसको भली प्रकार उठाकर छाती से लगा लिया, उसके बाद, विनीत-वेषवाले हरिश्रेष्ठ से पूछा कि, हे पुत्र ! तेरा मनोरथ पूरा हो गया क्या ? । उत्तर देते हुए हरिश्रेष्ठ ने कहा कि, हां कृपालो ! गुरुदेव ! आपकी कृपा से मेरा मनोरथ पूरा हो गया ॥४१॥

उसके बाद वह, अपने सम्पूर्ण वृत्तान्त को श्रीगुरुदेव के प्रति निवेदन करके, उन्ही अपने श्रीगुरुदेव को प्रसन्न करने के निमित्त, एव व्याकरण शास्त्र को पढने के लिये प्रार्थना करने लगा ॥४२॥

हे दयालो गुरुदेव ! मैं, आपको बहुत समय तक धोखा देता रहा, किन्तु मैंने आपके मन का मनोरथ अभी तक पूर्ण नही किया है। किन्तु हे श्रीगुरुदेव ! अब तो मैं, शठता को छोडकर, आपके वचन का पालन, अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य ही करूँगा ॥४३॥

श्रीगुरोरादेश श्रीगुरुदेव-प्रार्थना च

इतीरिन तस्य निशम्य वाक्य, प्रसन्नचित्तो गुरुदेव उचे।
प्रपूरयन् पूर्वमनोरथ त्व, मनोरथ पूरय मे द्वितीयम् ॥४४॥

त्वमेकलो नैव च कृष्णभक्ति, प्रचारितु भूमितले समर्थ।
अत शिशु ब्राह्मण-वशजात, सहायतार्थं परमानयेथा ॥४५॥

इतीरिता लोकहिताऽनुकूला, गिर समाकर्ण्य गुरोरनुज्ञाम्।
ग्रहीतुकामोऽञ्जलि-बन्धपूर्वं, प्रसादयामास स देशिक स्वम् ॥४६॥

न ते वाक्ये श्रद्धाऽभवदहह ! किं पूर्ति-विषये
न चाऽकार्यं किञ्चित् तव प्रियकर कार्यममलम्।
न जाने आचार्यप्रवर ! मम का स्यान्ननु गति
समेषा शिष्याणामिव कुलकलङ्कं कलय माम् ॥४७॥

श्रीगुरुदेव का आदेश, और श्रीगुरुदेव की प्रार्थना

इस प्रकार कहे हुए हरिप्रेष्ठ के वचन को सुनकर, प्रसन्न मनवाले श्रीगुरुदेव ने उसके प्रति कहा कि, हे पुत्र ! देख, अपने पठन-रूपी मेरे पहले मनोरथ को पूर्ण करता हुआ तू, मेरे दूसरे मनोरथ को भी पूरा कर दे। वह दूसरा मनोरथ भी यह है कि "इस भूतलपर तू अकेला ही, श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचार करने को समर्थ न हो सकेगा, इसलिये, अपनी सहायता के निमित्त, शुद्ध-ब्राह्मण वश मे उत्पन्न होनेवाले एक दूसरे बालक को और ले आ" ॥४४-४५॥

इस प्रकार लोकमात्र के हित क अनुकूल कही हुई श्रीगुरुदेव की वाणी का सुनकर, श्रीगुरुदेव की अनुमति को ग्रहण करने की कामना से युक्त होकर वह हरिप्रेष्ठ, हाथ जोड़कर अपने श्रीगुरुदेव को प्रार्थना-पूर्वक प्रसन्न करने लग गया—॥४६॥

हे श्रीगुरुदेव ! खेद की बात तो यह है कि आपके सामने मैं, अपने स्वरूप का क्या वर्णन करूँ ? क्योंकि, मुझ भाग्यहीन की तो यह दशा है कि, आपके वचनो का पालन करता तो दूर रहा, हाय ! उनमे मेरी श्रद्धा भी नही हुई। और आपको प्रिय लगनेवाला कोई निमल कार्य भी मैंन नही किया। अत हे आचार्यप्रवर ! मैं नही जानता हूँ कि, मेरी क्या गति होगी ? बस आप तो मुझको, अपने समस्त शिष्य-कुल का कलङ्करूप ही समझ लीजिये (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥४७॥

वृन्दारण्यमुपेत्य देशिक ! यथा शीघ्रं पठेय तथा
कार्या दीनजने दुरात्मनि कृपा चेतोऽपि मे सलगेत् ।
शाब्दं ब्रह्म तथाऽन्तराय-रहितं शीघ्रं समाप्तिं व्रजेत्
सौम्यं कचन विप्रबालकमहं ते चाऽर्पयेय तथा ॥४८॥
तवाऽऽज्ञा - पालनं कृत्वा हरेराज्ञां प्रपूर्य च ।
यथा कृतार्थतां यायां तथा दृष्टिं निधेहि मे ॥४६॥
आचार्यस्तु निशम्य तस्य वचनं तं चाऽऽशिषाऽयोजयत्
सर्वे ते सफला भवन्तु नचिरात् कामाः शिशो ! मा खिद ।
इत्याशीर्वचनं निधाय हृदये नत्वा गुरुं सादरं
भूयः स्व स विलोकयन् गुरुवरं वृन्दावनं प्रस्थितः ॥५०॥
इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
मूर्च्छावस्थाया श्रीकृष्ण बलदेवदर्शनाद्यनेक-विषय-
वर्णन नाम पञ्चदश सर्ग सम्पूर्ण ॥१३॥

हे श्रीगुरुदेव ! अब तो मुझ दुरात्मा-रूप दीनजन के ऊपर, उस प्रकार से कृपा कर दीजिये कि, जिस प्रकार, वृन्दावन मे पहुँचकर शीघ्र ही सस्कृत पढने लग जाऊँ एव मेरा मन भी पढने मे भली प्रकार लग जाय। तथा मेरा सम्पूर्ण व्याकरण-शास्त्र निर्विघ्नता पूर्वक शीघ्र ही समाप्त हो जाय। और आपके लिये, परम-सुन्दर एव सुशील किसी ब्राह्मण-बालक को भी लाकर समर्पण कर सकूँ ?। (इस श्लोक मे 'शार्दूल-विक्रीड़ित' छन्द है) ॥४८॥

हे श्रीगुरुदेव ! मेरे ऊपर उस प्रकार की कृपा दृष्टि स्थापन कर दीजिये कि, जिस प्रकार से मैं, तुम्हारी आज्ञा का यथावत् पालन करके एव मित्र-भाव के प्रचारवाली श्रीहरि की आज्ञा को भी भलीप्रकार पूर्ण करके कृतार्थता को प्राप्त कर लूँ । (यह 'अनुष्टुप्' है) ॥४६॥

उसके वचन को सुनकर, श्रीगुरुदेव ने उसको अपने आशीर्वाद से युक्त कर दिया । और आशीर्वाद देते हुए कहा कि, "हे पुत्र ! अपने मन मे खेद मत कर, तेरे सभी मनोरथ शीघ्र ही सफल हो जायँ" इस प्रकार से, श्रीगुरुदेव के आशीर्वादमय वचन को हृदय मे धारण करके, एव श्रीगुरुदेव को आदरपूर्वक नमस्कार करके वह हरिप्रेष्ठ, अपने श्रीगुरुदेव को बारम्बार निहारता हुआ श्रीवृन्दावन की ओर चल दिया । (इस श्लोक मे 'शार्दूल-विक्रीड़ित' छन्द है ॥५०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनी नाम्नी भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये मूर्च्छावस्थाया श्रीकृष्ण-बलदेव-दर्शनाद्यनेक विषय-वर्णन नाम
पञ्चदश सर्ग सम्पूर्ण ॥१५॥

अथ षोडशः सर्गः

चरित्र नायक-ग्रन्थकारयो परस्पर समेलनम्

अथ प्रसङ्गः स विलिख्यतेऽधुना, यथा ममाऽनेन सुसङ्गमोऽभवत् ।
यथा च वृन्दावनमीयिवानहं, यथाऽभवन्मेऽस्य गुरु स्वयं गुरुः ॥१॥

अहं पुरा पञ्चनदे भुवस्तले, हिसार - प्रान्ते नगरे च वासके ।
जँजीरि-नाम्नी जननी-सुगर्भतः, श्रीमत्तुलाराम-पितुस्तथाऽभवम् ॥२॥

त्रैमासिक गर्भगत तु मे पिता, विहाय मां चाऽमरलोकमीयिवान् ।
शर्रापनन्देन्दु - मिते च वत्सरे, सुकालयोगेऽहमवातर भुवि ॥३॥

यथायथं मे सति जात - कर्मणि, ततो दशम्युत्तरमर्भ - कर्मणि ।
अथाऽष्टमेऽब्देऽप्युनीत - कर्मणि, निर्वर्तितेऽप्यक्षरबोध - कर्मणि ॥४॥

ततस्त्वहं देशविशेष - भाषिका-, मपीपठं यावनदेशभाषिकाम् ।
ततश्च काशीं नयति स्म मां मम, सहोदरो बालमुकुन्द-नामकः ॥५॥

सोलहवाँ सर्ग

चरित्रनायक एवं ग्रन्थकार का परस्पर संमेलन

अब मैं, उस प्रसङ्ग को लिखता हूँ कि, इस हरिप्रेष्ठ (श्रीहरिरामदासजी) के साथ, मेरा सम्मेलन जिस प्रकार से हुआ है, और मैं, जिस प्रकार से श्रीवृन्दावन मे आया, तथा इस हरिप्रेष्ठ के सद्गुरुदेव ही जिस प्रकार मेरे भी सद्गुरुदेव, अपनी कृपा से स्वय ही बन गये । (इस सर्ग मे छत्तीसवें श्लोक तक 'वशस्थ'-नामक छन्द हैं)॥१॥

मैं, इस भूतलपर पहले पजाब देश मे, जिला हिसार मे, 'वास'-नामक नगर मे, श्रीमान् 'तुलाराम'—नामक पिताजी के द्वारा, 'श्रीजँजीरी'-नामवाली माताजी के गर्भ से प्रगट हुआ था । मेरे पिताजी तो मुझ को, मेरी माता के गर्भ मे तीन महीने का ही छोडकर देव-लोक को चले गये थे । उसके बाद मैं, विक्रम स १९७५ मे शुभ समय एव शुभ योग मे, भूतलपर अवतीर्ण हो गया ॥२-३॥

उसके बाद, शास्त्र की रीति के अनुसार मेरा जात-कर्म सस्कार हो गया, तदनन्तर दश दिन के बाद मेरा नामकरण सस्कार भी हो गया, पश्चात् आठवें वर्ष मे मेरा यज्ञोपवीत सस्कार हो गया, पश्चात् जब मेरा 'अक्षरबोध'-नामक कर्म समाप्त हो गया, अर्थात् मुझे जब हिन्दी भाषा की वर्णमाला का ज्ञान हो गया तब मैंने, पजाब-देश की भाषा होने के कारण,

अहं च तत्राऽपि गिरीशमर्चयन्, दिने दिने विष्णुपदी-सुवारिणा ।
अपीपठ व्याकरण यथाबल, तथा च रुद्री मम कण्ठगाऽभवत् ॥६॥

स्तव महिम्नोऽमरकोष - पुस्तक, तथा च गोपालसहस्रनामकम् ।
विधाय गीतामपि कण्ठगामहं, त्वचीकरं विष्णुसहस्रनामकम् ॥७॥

गुरोर्गिरीशस्य तत समीहया, समं सता रासविहारि - शास्त्रिणा ।
द्विनन्दनन्देन्दु - मिते च वत्सरे, सुखेन वृन्दावनमीयिवानहम् ॥८॥

अहं च तस्मिन्नपि रामवाटिका-, गतो जगन्नाथबुधादपीपठम् ।
विलोक्य लोकान् बहुसाम्प्रदायिकान्,न सम्प्रदाय कमपि प्रविष्टवान्॥६॥

तथापि वृन्दावनमेत्य मे मनो, ग्रहीतुमैच्छद् गुरुमुत्तमोत्तमम् ।
परन्तु नाऽगामहमत्र निश्चय, क उत्तमो बालतया च भागतः ॥१०॥

पहले पहले पाँचवी कक्षा तक उर्दू-भाषा का अध्ययन किया । उसके बाद, बारह वर्ष की अवस्था मे मुझ को मेरे बडे भाई श्रीबालमुकुन्दजी ने, संस्कृत-भाषा के अध्ययनार्थ काशीजी भेज दिया ॥४-५॥

वहाँपर भी मैं, श्रीगंगाजी के सुन्दर जल के द्वारा प्रतिदिन शकरजी की पूजा करता हुआ, शक्ति के अनुसार व्याकरण शास्त्र पढने लग गया । और उस समय 'रुद्राष्टाध्यायी' भी मेरे कण्ठस्थ हो गयी । उसके बाद, शिव-महिम्न स्तोत्र,अमरकोष, श्रीगोपालसहस्रनाम एव श्रीगीता को भी कण्ठस्थ करके मैंने, 'श्रीविष्णुसहस्रनाम' भी कण्ठस्थ कर लिया था ॥६-७॥

उसके बाद, हमारे सद्गुरुदेव की समीहा (अभिलाषा) से एव श्रीशकर भगवान् की समीहा (प्रेरणा) से मैं, भरतपुर रियासत के अन्तर्गत 'सिनसिनी'-नामक ग्राम निवासी प श्रीराधेश्यामजी शास्त्री तथा श्रीवृन्दावन वासी गो० श्रीरासविहारीजी शास्त्री के साथ, वि० स० १६६२ मे फाल्गुन मास मे, सुखपूर्वक श्रीवृन्दावन धाम मे चला आया ॥८॥

उस वृन्दावन मे भी मैं, श्रीरामबाग की पाठशाला मे, भरती होकर, अयोध्या-निवासी प श्रीजगन्नाथजी शास्त्री से अध्ययन करने लग गया । श्रीधाम-वृन्दावन मे अनेक सम्प्रादायो के वैष्णव लोगो को देख कर भी मैं, किसी भी सम्प्रदाय मे प्रविष्ट नही हुआ । यद्यपि मैं, उस समय तक वैष्णव नही हुआ था, तथापि श्रीवृन्दावन मे आते ही मेरा मन भी, वैष्णवो मे भी सर्वोत्तम गुरुदेव को अङ्गीकार करने की इच्छा करने लग गया । परन्तु उस

यदा प्रदातुं प्रथमां परीक्षिकां, समुद्यतोऽहं पठितुं तदाऽऽगमत् ।
असौ हरिप्रेष्ठ उदार - मानसो, ममैव यो भाविगुरोर्हि शिष्यकः ॥११॥

अहं च यस्मादपठं विपश्चितः, समेत्य नित्यं ननु रामवाटिकाम् ।
असावपि व्याकरणं निरन्तरं, ग्रहीतुमायात् तत एव प्रत्यहम् ॥१२॥

अथाऽऽवयोर्दर्शनतः परस्परं, दिने दिने पाठविचारणात् तथा ।
अतर्क्य-जन्मान्तर-सङ्गकारणाद्, अलौकिकी प्रीतिरजायत ध्रुवम् ॥१३॥

द्वयोरप्येकगुरुता

ततस्त्वभूवाऽऽकथनात् परस्परं परस्परं सर्व - रहस्य - वेदिनौ ।
कथा-प्रसङ्गेन कदाचिदेष मां, पप्रच्छ मे शील - गुणाऽऽकुलीकृतः ॥१४॥

भवाऽम्बुराशेस्तरणाय कश्चन, गुरुस्त्वया तात ! समाश्रितो न वा ।
मया न नेत्युत्तरितं ततस्त्वसा-, वुवाच वाचं कुशलो मनोहराम् ॥१५॥

समय, बालक होने के कारण एवं विशिष्ट भाग्य के कारण मैं, इस विषय में इस बात का निश्चय नही कर पाया कि, सर्वोत्तम सद्गुरुदेव कौन से हैं? ९-१०॥

मैं रामबाग में पढते समय जब, अर्थात् जिस वर्ष, प्रथमा-परीक्षा देने को उद्यत हो गया था, उसी समय, उदार चित्तवाले उन श्रीहरिप्रेष्ठ (श्रीरामहरिदासजी) का आगमन, संस्कृत के अध्ययन के निमित्त हो गया कि जो मेरे भावी श्रीगुरुदेव के शिष्य थे। और देखो, मैं, प्रतिदिन रामबाग में आकर, जिन पण्डितजी से अध्ययन करता था, उन्ही से व्याकरण अध्ययन करनेके लिये, यह हरिप्रेष्ठ भी प्रतिदिन निरन्तर वहीं आने लग गया ।११-१२।

उसकेबाद, हम दोनों के परस्पर के दर्शन से, एवं प्रतिदिन आपस में पाठ विचारने से, तथा अचिन्तनीय दूसरे जन्म के सम्पर्क के कारण, हम दोनों में अलौकिकी अटल प्रीति हो गयी ॥१३॥

हम दोनों को एक ही सद्गुरुदेव की प्राप्ति

उसके बाद तो, हम दोनों, आपस में अपने अपने अभिप्राय को स्पष्ट कह देने के कारण, परस्पर में सम्पूर्ण गुप्त रहस्य के ज्ञाता हो गये। अर्थात् अपने-अपने चारित्र के जानकर हो गये। किसी दिन वर्षाऋतु में रामबाग में ही हम दोनो पाठ विचार रहे थे। उसी समय, मेरे सुन्दर-स्वभाव एवं सरस गुणों के द्वारा आकुलित हुए हरिप्रेष्ठ ने, आपस की बातों के प्रसङ्ग से ही मुझ से पूछा कि, हे भैया ! (बनवारीलाल !) ठीक ठीक बताओ, तुमने, संसार-सागर से पार होने के लिये, किसी सद्गुरुदेव का आश्रय लिया है अथवा नहीं ? । मैंने उत्तर दिया कि, भैयाजी ! मैंने अभी किसी

सखे ! यदीच्छस्यचिराद् भवाम्बुधे, पर प्रयातु क्रियतां तदा गुरु ।
गुरुं विना पारमुपैतुमक्षमो, विरिञ्चि - वैरिञ्च - समोऽपि मानव ॥१६॥
मनोहरः सर्वगुणाकरोऽथवा, सखे ! तवाऽक्ष्णोः पथि नाऽऽगतो यदि ।
गुरुं तदा सर्वगुणालय मम, गृहाण सोऽपीच्छति विप्रबालकम् ॥१७॥
विरागता ते यदि चेतसि स्थिता, स्थिरा समीहा क्रियता गुरोस्तदा ।
न रागिण मे गुरुवर्य इच्छति, विरागिण लोक - हिताय चेच्छति ॥१८॥
इतीरिता लोकहितां हि तां गिर, समा समाकर्ण्य ततोऽहमुत्तरम् ।
अगादिष भूरिविराग - मानसः, सखे ! तवाऽऽचार्यवर क्व वर्तते ॥१६॥
तवैव नेष्यामि गुरो समीपत, सखे ! मनुं सर्वगुणालयादहम् ।
बहूनि जन्मानि गतानि मे वृथा, गुरुर्मयाऽलाभि न सर्व - तापह ॥२०॥
सखे ! गुरुर्मे हरिभक्तिमर्पयन्, जने जने नास्तिक - लोकमर्दयन् ।
समागतोऽत्रैव सशिष्य - मण्डल-, श्चल द्रुत पश्य मनोतमोपहम् ॥२१॥

भी सद्गुरुदेव का आश्रय नही लिया है । उसके बाद, भक्ति मे परम-प्रवीण वह हरिप्रेष्ठ, मनोहर वाणी बोला कि,—॥१४ १५॥

हे मित्र ! यदि तुम, ससाररूप सागर से, शीघ्र ही पार जाना चाहते हो तो, सद्गुरुदेव को अवश्य अङ्गीकार करलो । क्योकि, इस ससार मे, श्रीगुरुदेव के विना, ब्रह्मा एव शिवजी के समान–मानव भी, ससार सागर से पार जाने को समर्थ नही हो सकता है ॥१६॥

और हे मित्र ! यदि तुम्हारे नेत्रो के मार्ग मे परम सुन्दर एव सर्व सद्गुणो के निधि, सद्गुरुदेव नही आये है, तब तो समस्त सद्गुणो के स्थानस्वरूप हमारे सद्गुरुदेव को ही ग्रहण करलो । क्योकि, वे भी, सनातन-धर्म के प्रचारार्थ ब्राह्मण के बालक को चाहते है । और तुम्हारे मन मे यदि ससार से वैराग्य है तब तो हमारे श्रीगुरुदेव की *अभिलाषा को स्थिर करदो । क्योकि, मेरे श्रीगुरुदेव, ससार मे अनुराग* रखनेवाले को नही चाहते हैं, हाँ वैराग्य मे मनवाले ब्राह्मण के बालक को तो वे, लोकमात्र के कल्याणार्थ चाहते है ॥१७-१८॥

इस प्रकार लोकमात्र अर्थात् जनमात्र के हित से परिपूर्ण उस समस्त वाणी को सुनकर अपने मन मे भारी वैराग्य को धारण करके मैंने उत्तर दिया कि हे सखे ! हरिप्रेष्ठजी ! कहिये, तुम्हारे श्रीगुरुदेव इस समय कहाँ-पर है ? क्योकि, हे भैयाजी ! देखो, मैं भी समस्त सद्गुणो के आलय-स्वरूप तुम्हारे श्रीगुरुदेव से ही मन्त्र ग्रहण करूँगा देखो, भैयाजी ! अब तक के मेरे बहुत से जन्म वृथा ही बीत गये है किन्तु समस्त

अहं त्ववोचं चल दर्शय द्रुत, गुरुं स्वकीयं मम तापहारिणम् ।
इतीरितोऽसौ स्वगुरोः समीपगं, विधाय मां शीघ्रमदर्शयद् गुरुम् ॥२२॥
विलोकनादेव महामुनेरहं, समापतं कोमल-पादकञ्जयोः ।
समर्पयन् मूर्धनि हस्तपङ्कजं, महामुनिर्मा स्वतया व्यलोकयत् ॥२३॥
अहं समुत्थाय विलोकयन् मुहु-, स्तदीयरूपं ननु चित्रितोऽभवम् ।
अचिन्तयं चेतसि चेदृशो गुरु-,र्न भाग्य-हीनैर्न् मिराप्यते क्वचित् ॥२४॥
ततश्च विज्ञाय समस्तमस्मकाद्,गुरु स्वशिष्याद् मम वृत्तमुज्ज्वलम् ।
विलोक्य मौग्ध्य मम मामतर्कयद्, समागतं मूर्तिमयं मनोरथम् ॥२५॥

सन्तापो को हरनेवाला सद्गुरुदेव तो मुझ को अभीतक नही मिल पाया है । हरिप्रेष्ठ बोला कि, हे भैया ! देखो, मेरे श्रीगुरुदेव, प्रत्येक जन के प्रति श्रीहरि की भक्ति को समर्पण करते हुए एव नास्तिक लोगो का मर्दन करते हुए अपने शिष्य-मण्डल के सहित, श्रीवृन्दावन मे ही आ गये है । इस समय वृन्दावन की परिक्रमा मे 'श्याम-कुटी'-पर ही विराजमान हैं। अतः शीघ्र ही चलो, एव मन के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूरकरने वाले सद्गुरुदेव का दर्शन करलो ॥१६-२१॥

मैंने भी कहा कि, हे भैयाजी ! शीघ्र ही चलिये एव मेरे समस्त सन्तापो को हरनेवाले या मेरी ममता को हरनेवाले अपने श्रीगुदेव को मुझे दिखा दीजिये । इस प्रकार कहे हुए उन हरिप्रेष्ठजी ने, मुझको अपने श्रीगुरुदेव का निकटवर्ती बनाकर शीघ्र ही श्रीगुरुदेव का दर्शन करा दिया ॥२२॥

मैं, उन महामुनीजी के दर्शन करते ही, उनके परमकोमल चरण-कमलो मे, साष्टाङ्गरूप से गिर पडा । उस समय मेरे भावी श्रीगुरुदेव-स्वरूप उन महामुनिजी ने मुझ को अपना करके ही देख लिया । अर्थात् मुझको मानो दृष्टि-मात्र से ही अपना लिया ॥२३॥

मैं, पृथ्वी से उठकर, उनके रूप को वारम्वार निहारता हुआ, निश्चित-रूप से चित्रलिखा-सा बन गया । और अपने मन मे यह विचार करने लगा कि, "भाग्य से रहित मनुष्यो को, इस प्रकार का महात्मा, गुरु-रूप से कही भी नही प्राप्त हो पाता" आज मेरा तो भाग्य खुल गया है। २४।

उसके वाद, हमारे श्रीगुरुदेव ने, मेरे परम -पवित्र समस्त-चरित्र को अपने शिष्यस्वरूप इस हरिप्रेष्ठ से ही जानकर, एव मेरे भोलेपन को देख-कर, अपने मूर्तिमान् मनोरथ को ही, भलीप्रकार आया हुआ समझ लिया ॥२५॥

ततो हरिप्रेष्ठ उदारमानसं, गुरुं स्वकीयं विनतो व्यजिज्ञपत् ।
अयं गुरो ! बालतया पुरस्तव,प्रवक्तुमीशो न ततो वदाम्यहम् ।।२६।।
अयं हि गौड़द्विजवंश - कोरकं, समीपवर्ती भवितुं तवेच्छति ।
विहाय गेहं तव वर्त्म पालयन्, मनोरथं पूरयितुं तवेच्छति ।।२७।।
इतीरितं तस्य निशम्य भाषितं, गुरुः प्रसन्नस्तमपि व्यजिज्ञपत् ।
शिशो! शिशुं शीघ्रमिमं त्विहाऽऽनय,ममाऽन्तिकस्थो भवितुं यदीच्छति।२८।
ततस्त्वहं श्रीगुरुवर्य - भाषितं, निशम्य वस्तून्यखिलानि चात्मन. ।
द्रुतं गृहीत्वा गुरुपार्श्वगोऽभवं, ततः परीक्षां प्रथमामदां मुदा ।।२९।।
हरिप्रियोऽपि प्रथमामदान्मया, सहैव पश्चाद् गुरुमभ्यभाषत ।
गुरो ! कृपालो ! कृपयाऽमुमर्भकं, गृहाण दत्त्वा मनुमात्ममण्डले ।।३०।।
ततो गुरुर्मामलोक्य सर्वथा, कृताऽऽग्रहं मध्वमताऽवलम्बने ।
विधाय कार्यं सकलं च दैक्षिकं, प्रदातुमारान्मनुवर्यमक्रमीत् ।।३१।।

उसके बाद, उदार चित्तवाले हरिप्रेष्ठ ने विनम्र होकर अपने श्रीगुरुदेव के प्रति निवेदन किया कि, हे पूज्यपाद श्रीगुरुदेव ! आपके सामने खड़ा हुआ यह बालक, बालक होने के कारण आपके सामने अपने अभिप्राय को कहने के लिये समर्थ नहीं है, अत इसकी ओर से मैं ही निवेदन करता हूँ कि, यह बालक गौड ब्राह्मण वंश का कलिका-स्वरूप है, आपके मनोरथ की पूर्ति के लिये आपका निकटवर्ती होना चाहता है, और अपने घर को छोड़कर आपके मार्ग का पालन करता हुआ आपके मनोरथ को पूर्ण करना चाहता है ।।२६-२७।।

हरिप्रेष्ठ के इस प्रकार से कहे हुए वचन को सुनकर प्रसन्न हुए श्रीगुरुदेव ने उनसे कहा कि, हे पुत्र हरिप्रेष्ठ ! देखो, यह बालक यदि मेरा निकटवर्ती होना चाहता है तो तुम इसको शीघ्र ही मेरे निकट लिवा लाओ। उसके बाद, मैं, श्रीगुरुदेव के वचन को सुनकर, अपनी पुस्तक आदि समस्त वस्तुओं को लेकर शीघ्र ही श्रीगुरुदेव का निकटवर्ती बन गया । उसके बाद मैंने हर्ष पूर्वक प्रथमा परीक्षा दे दी ।।२८-२९।।

इस श्रीहरिप्रेष्ठ ने भी मेरे साथ ही प्रथमा परीक्षा दे दी । पश्चात् श्रीगुरुदेव से निवेदन किया कि, हे कृपामय श्रीगुरुदेव ! इस बालक को, महामन्त्र एवं गोपालमन्त्र देकर कृपया अपने मित्रमण्डल मे अंगीकार कर लीजिये ।।३०।।

उसके बाद, श्रीगुरुदेव ने मुझको श्रीमन्मध्वाचार्य के मत का अवलम्बन करने के विषय मे सर्वथा आग्रह करनेवाला देखकर, दीक्षा-

त्रिनन्दनन्देन्दु - मिते च वत्सरे, शुभे समागच्छति मासि फाल्गुने ।
रवेर्युतायामपि पञ्चमीतिथौ, प्रदाय मन्त्र स्वतया समग्रहीत् ॥३२॥
घनप्रभावादिव मारुतालय, शरत्प्रभावादिव पुष्करालय ।
हरिप्रभावादिव कालियालय', शिवप्रभावादिव शकरालय ॥३३॥
मनुप्रभावाच्च विधूत - पातक, स्वशोभताऽऽत्मा मम पातकालय ।
गुरुस्ततो मां बल - कृष्ण - पादयो, समर्पयन् सख्यरसं समर्पयत् ॥३४॥
ततो हरिप्रेष्ठमिवाऽऽशु मामपि, प्रबोधयामास च भावपद्धतिम् ।
ततस्त्वहं दीक्षित - शिक्षितश्च, सनातन सख्यरस समीयिवान् ॥३५॥
तत. पर मा भजनस्य पद्धति, हरिप्रिय शिक्षयति स्म प्रत्यहम् ।
तथा भृश शिक्षण-वीक्षणादित-,स्त्वमानि शिक्षागुरुरप्यसौ मया ॥३६॥

सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य करके अपने निकट से सर्व श्रेष्ठ मन्त्र को देने का उप क्रम किया। उसके वाद, वि० स० १९९३ म मङ्गल-मय फाल्गुन मास मे, रविवार से युक्त शुक्लपक्ष की पञ्चमी तिथि के दिन, मन्त्र दे कर मुझ दीन जन को अपना बनाकर अगीकार कर लिया ॥३१-३२॥

उस समय महामन्त्र एव गोपाल मन्त्रके प्रभावसे, पातका का आलय (स्थान) स्वरूप मेरा मन, तत्काल पवित्र होकर इस प्रकार से सुशोभित हो गया कि, मेघो के प्रभाव से स्वच्छ हुआ आकाश, एव शरद ऋतु के प्रभाव से स्वच्छ हुआ वडा सरोवर,तथा श्रीकृष्ण के प्रभाव से स्वच्छ हुआ कालिय-नाग का आलय(स्थान)और शकरजीके प्रभाव से स्वच्छ हुआ शिवालय जिस प्रकार शोभा पाता है। तदनन्तर श्रीगुरुदेव ने मुझ को, श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणो मे अर्पण करते करते, 'सख्य-रस' अर्थात्— श्रीकृष्ण-बलदेव के प्रति सख्य-भाव भी कृपया समर्पण कर दिया ॥३२-३४

उसके बाद जिस प्रकार आठव सर्ग मे सख्य-भाव की पद्धति, इस हरिप्रेष्ठ को सप्रमाण समझाई थी, उसी प्रकार मुझ को भी समझा दी। तदनन्तर तो मैं भी दीक्षित होकर एव भाव की रीति से शिक्षित होकर, जीव-ईश्वर के सनातनी मित्र-भाव का भलीप्रकार प्राप्त हो गया। दीक्षा लेने के ६ वर्ष बाद मैंने भी, श्रीगुरुदेव की अपूर्व-कृपा से, सख्य-भाव का सर्वतोभाव से समझानेवाला, एव सभी वेद, पुराण आदि के अनेक प्रमाणों से परिपूर्ण, सख्य-भावमयी प्रार्थना से युक्त, २०८ श्लोको से युक्त 'सख्य-सुधाकर नामक ग्रन्थ की रचना कर दी। अत सख्य रस के उपासको को वह ग्रन्थ अवश्य ही पठनीय है एव प्रतिदिन अनुशीलन करने योग्य है।

आवयोः सहैव पठनम्

ततः परीक्षां प्रथमां मुदाऽऽवा-, मुत्तीर्य चोत्तीर्य च मध्यमाख्याम्।
तथा सम भागवत पठन्तौ, गुरोः सकाशात् सफलावभूव ॥३७॥
मत - मतान्तर - खण्डन - पद्धतिं, तदनु शिक्षयता गुरुणाऽऽवयो ।
मनसि निश्चयता - प्रतिपादिका,स्व - मत-मण्डन - पद्धतिरर्पिता ॥३८॥
निजमते निपुणौ ननु वर्णिनौ,निखिल - शास्त्र - रहस्य - विदावपि ।
कुश - लवाविव चाऽऽद्यमहर्षिणा, स्वगुरुणा लघु नौ प्रतिपादितौ ॥३९॥
अहमसौ स्वगुरु च हरिप्रियः, प्रतिदिन सुखयाव तदाज्ञया।
तनुमयाविव चाऽऽत्म - मनोरथौ, मुदमगादवलोक्य गुरुश्च नौ ॥४०॥

श्रीगुरुदेव से दीक्षित होने के बाद, श्रीहरिप्रेष्ठजी भी मुझ को प्रतिदिन भजन की रीति की शिक्षा देते रहते थे, तथा प्रतिक्षण देख रेख से भी भारी शिक्षा देते रहते थे। अतएव मैने, अपने बडे गुरु भाई उन श्रीहरिप्रेष्ठ को भी शिक्षागुरु मान लिया ॥३५-३६॥

हम दोनो का एक साथ ही संस्कृत का अध्ययन

उसके बाद हम दोनो प्रथमा परीक्षा को तथा माध्यमा परीक्षा को सहर्ष उत्तीर्ण करके और अवकाश के समय ग्रीष्मऋतु मे प्रतिवर्ष अपने श्रीसद्गुरुदेव से ही श्रीमद्भागवत को पढते हुए सफल हो गये। उस समय हम दोनों के श्रीगुरुदेव ने, मत-मतान्तरो के खण्डन की रीति की शिक्षा देते हुए हम दोनो के मन मे, निश्चयता की प्रतिपादक अपने मत के मण्डन की पद्धति भी समर्पित कर दी (इन दोनों श्लोको मे क्रमश 'उपजाति' एवं 'द्रुतविलम्बित' छन्द हैं) ॥३७ ३८॥

उस समय हमारे श्रीगुरुदेव ने हम दोनो ब्रह्मचारियो को, पाँच वर्ष मे ही, अपनी अलौकिक कृपा-शक्ति के द्वारा शीघ्र ही समस्त-शास्त्रो के गूढ तत्त्व के ज्ञाता उस प्रकार बना दिया कि, जिस प्रकार आदि महर्षि एव आदि कवि श्रीवाल्मीकिजी ने, श्रीरामजी के पुत्र कुश एव लव को सकल शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता बना दिया था (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥३९॥

उस समय हम दोनो गुरु-भाई, अपने श्रीगुरुदेव को, उनकी आज्ञा के द्वारा प्रतिदिन सुखी करते रहते थे। हमारे श्रीगुरुदेव भी उस समय, हम दोनों को मानो अपने मूर्तिमान् मनोरथ के समान ही देखकर, हम दोनों के ऊपर परम-प्रसन्न रहते थे (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४०॥

आवाभ्यां कृते सद्गुरोरुपदेश

तदनु शिक्षयति स्म निदेशिकः, प्रियसुताविव नौ विनयान्वितौ ।
अयि ! हरे प्रिय ! हे वनमालिनो,मम वच शृणुतं हितकारकम् ॥४१॥
युवाभ्यां मया मित्र - भाव प्रदत्तो, युवामप्यतश्चैकभावौ भवेतम् ।
युवाभ्यां मिलित्वा सदा कृष्णभक्ति , स्वदेशे विदेशेऽपि सचारणीया॥४२॥
न चित्ते कदाचिद् विधेयोऽभिमानोऽ-,भिमानो द्रुत वृद्धि-मूलं क्षिणोति ।
सदा राम-कृष्णद्वयो चिन्तनीया,तया सङ्गति सज्जनानां विधेया ॥४३॥
मानुष - देहमसुलभ, संसृति - जलधावभेद्य - नौकाभम् ।
प्राप्य युवामपि पुत्रौ !, व्यर्थं कान्न न यापयतम् ॥४४॥

हम दोनो के लिये सद्गुरुदेव का सदुपदेश

उसके बाद, हमारे सद्गुरुदेव, विनय से युक्त हम दोनो के प्रति, प्रिय पुत्रो की तरह इस प्रकार शिक्षा देते थे कि, हे प्रिय ! रामहरिदास ! एव हे प्रिय ! वनमालिदास ! हे पुत्रो ! मेरे हितकारक वचन को सुनो । देखो, मैंने तुम दोनो के लिये श्रीकृष्ण-बलदेव के प्रति मित्र-भाव दिया है, अतः तुम दोनो भी परस्पर मे मित्र-भाव मे निबद्ध हो जाओ । और तुम दोनो मिलकर स्वदेश एव विदेश में भी सदा श्रीकृष्ण की भक्ति का ही प्रचार करते रहना (इन दोनों श्लोको मे क्रमशः 'द्रुतविलम्बित' एवं 'भुजङ्गप्रयात' छन्द हैं) ॥४१-४२॥

और देखो, भैयाओ ! अपने चित्त मे कभी किसी प्रकार का भी अभिमान नही करना । क्योंकि, अभिमान, ऐसी बुरी बलाय है कि, यह, वृद्धि के मूल को तो शीघ्र ही विनष्ट कर देता है । अतएव शास्त्र मे ठीक ही कहा है कि—

"अभिमान सुरा - पान गौरव घोर - रौरवम् ।
प्रतिष्ठा सूकरी - विष्ठा त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥"

अभिमान को मदिरा-पान के समान समझना चाहिये. किसी बात के गौरव को घोर-रौरव नरक के समान ही समझना चाहिये. एव किसी पद की प्रतिष्ठा को भी सूकरी के विष्ठा के समान ही समझना चाहिये, मानव-मात्र इन तीनो दोषो को छोडकर ही सुखी हो सकता है, अन्यथा नही । और अपने प्रिय सखा श्रीकृष्ण-बलदेव का स्मरण सदैव करते रहना तथा सज्जनो की सङ्गति भी सदैव करते रहना । क्योकि, सत्सङ्गति सर्वथा मङ्गलकारक ही है । (इस श्लोक में 'भुजङ्गप्रयात' छन्द है) ॥४३॥

इति निगद्य गुरुर्मम मौनिता-, मधिगतः शुशुभे मुनिराडिव ।
अहमपि प्रणिपत्य पदाब्जयो-, रकरवं स्तुतिमञ्जलिपूर्वकम् ॥४५॥

काव्यकृता कृता निजगुरुदेव-स्तुतिः

श्रीरामानुज - पादपद्मयुगले भक्तेः सुसञ्चारकं
हारैर्भूषितकन्धरं मृदुगिरं संसारतस्तारकम् ।
शीलौदार्य - कृपा-क्षमादिनिलयं सत्यावतारं नवं
श्रीसङ्कीर्तन-भक्ति-दानविदितं वन्दे गुरुं ज्ञानदम् ॥४६॥

श्रीमद्भागवतस्य खण्डनपरो ग्रन्थश्च यो निर्मित-
श्चौमा-पत्तन - वासिना कुमतिना तस्यापि समर्दकः ।
ग्रन्थो वा निरमायि भागवत - तत्त्वादि विमर्शं तु य
लोकः शंसति भूरि येन स गुरुर्जीयाच्चिरं मेऽत्रनौ ॥४७॥

और हे पुत्रो ! देखो, यह मनुष्य का शरीर अतिशय दुर्लभ है, एव इस संसार सागर मे, पार होने के लिये अभेद्य नौका के समान है; अत देव-दुर्लभ इस शरीर को पाकर तुम, अपने समय को व्यर्थ ही व्यतीत नहीं करना। (इस श्लोक में 'आर्या'-नामक छन्द है) ॥४४॥

इस प्रकार उपदेश देकर मौन को धारण करके हमारे श्रीगुरुदेव, मुनिराज की तरह सुशोभित हो गये। उस समय मैंने भी, श्रीगुरुदेव के चरणकमलो मे प्रणाम करके हाथ जोडकर उनकी स्तुति आरम्भ कर दी। (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४५॥

काव्यकर्ता के द्वारा की गई अपने श्रीगुरुदेव की स्तुति

मैं, विशुद्ध ज्ञान को देनेवाले अपने उन श्रीगुरुदेव को वारम्बार नमस्कार करता हूँ कि, जो श्रीकृष्ण के चरण-कमलों मे सुदृढ-भक्ति का सञ्चार करनेवाले हैं और जिनका कण्ठ, अनेक प्रकार के पुष्पों के हारों से विभूषित है; एवं जिनकी वाणी अतिशय कोमल तथा मीठी है; और जो संसाररूप सागर से अनायास पार करनेवाले हैं, और जो सुशीलता, उदारता, कृपा, क्षमा आदि के स्थान-स्वरूप हैं और जो, इस जगत मे भक्ति-पूर्वक पूजित हुए हैं और जो श्रीहरिनाम के सकीर्त्तन की भक्ति के दान करने मे परम प्रसिद्ध हैं। (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥४६॥

और श्रीमद्भागवतजी के खण्डन-परक "श्रीभागवततत्त्व-मीमांसा"-नामक जो ग्रन्थ, आर्य-समाज पथानुगामी, 'चौमा'-ग्राम निवासी कुबुद्धि

चकार यो वेद-प्रमाण-पत्रिकां,हिताय लोकस्य समाज-खण्डिकाम् ।
हरेः क्षितौ चाऽप्यवतार-साधिकां,सुनाम-सङ्कीर्तन पुष्टि-साधिकाम्॥४८॥

गगादि-तीर्थस्य प्रमाण-बोधिका,कृतान्त-दण्डस्य भय-प्रबोधिकाम् ।
हरेश्च नैवेद्य-प्रदान-बोधिकां, पितुश्च श्राद्धस्य विधान-बोधिकाम् ॥४६॥

स्त्रियास्तथा चैकपतित्व बोधिकां, हरे सपर्यां सप्रमाण-बोधिकाम् ।
मित्रस्य भावस्य च पुष्टि-बोधिकां,हरेश्च मूर्ति हरिरूप-बोधिकाम्॥५०॥

भक्तिरत्नावली - ग्रन्थे भाषाटीका च योऽकरोत् ।
शकोत्तरपरां चैव तस्मै ते भूरिशोः नम ॥५१॥

श्रीरामकृष्ण - लीलादि - स्मृतेति पदान्तकः ।
ग्रन्थो विरचितो येन तस्मै ते भूरिशो नम ॥५२॥

'रायबहादुर' कायस्थ ने बनाया था, उस ग्रन्थ का भी खण्डन-परक ग्रन्थ जिन्होने बनाया है, सनातन-धर्म के लोग जिस ग्रन्थ को "श्रीभागवततत्त्व-विमर्श"-नाम से कहकर उस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशसा करते रहते हैं। अतएव उस ग्रन्थ के द्वारा हमारे श्रीगुरुदेव, इस भूतलपर चिरकाल तक उत्कर्ष प्राप्त करते रहे। (इस श्लोक मे भी 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥४७॥

और जिन्होने जगत् के हित के लिये 'श्रीवेद-प्रमाणपत्रिका'—नामक पुस्तक बनाई। वह पुस्तक 'आर्य-समाज' का खण्डन करनेवाली है, भूतलपर श्रीहरि के अवतारो को सिद्ध करनेवाली है, श्रीहरि के नाम-सकीर्त्तन की पुष्टि को सिद्ध करनेवाली है, श्रीगगा आदि तीर्थों की सप्रमाण बोधक है, पापियो को यमराज के दण्ड के भय को समझानेवाली है, श्रीहरि के भोग लगाने को समझानेवाली है, पितरो के श्राद्ध के विधान को समझानेवाली है, स्त्री के लिये एक ही पति के भाव को समझानेवाली है, भगवान् की मूर्ति की पूजा को प्रमाण-पूर्वक समझानेवाली है, जीव-ईश्वर के मित्र-भाव की पुष्टि को समझानेवाली है, तथा श्रीहरि की मूर्ति को साक्षात् श्रीहरि का-रूप ही बनानेवाली है। (इन तीनो श्लोको मे 'वशस्थ' छन्द है) ॥४८ ५०॥

और जिन्होने 'श्रीविष्णुपुरी'-नामक महात्मा के द्वारा बनाई हुई 'श्रीभक्ति रत्नावली'--नामक ग्रन्थ के ऊपर, अनेक प्रकार की शकाओ के समाधान परक बहुत ही सुन्दर भाषा टीका बनाई, ऐसे आपके लिये हमारा वारम्बार नमस्कार है (५१ से ५६ तक 'अनुष्टुप्' छन्द है) ॥५१॥

श्रीमद्भगवद्गीताया स्वाचार्य - मत - बोधिनी ।
टीका विरचिता येन तस्मै ते भूरिशो नमः ॥५३॥

वेदस्तुत्या कृता टीका संस्कृत - भाषया तथा ।
हिन्दी भाषा - समायुक्ता तस्मै ते भूरिशो नमः ॥५४॥

कृष्णकर्णामृते काव्ये बिल्वमङ्गल - निर्मिते ।
अकारि संस्कृत भाष्यं तस्मै ते भूरिशो नमः ॥५५॥

वृषभः कमला - देव्याः संकटाद् येन मोचितः ।
ईक्षयाऽमृतवर्षिण्या तस्मै ते भूरिशो नमः ॥५६॥

यः पूर्वं षोडशाब्दे धन - जन - जननी - गेहकूपांश्च हित्वा
यातः काशीं पठित्वा सपदि सकलशास्त्राणि संन्यासचिह्नम् ।
धृत्वाऽऽयातश्च वृन्दावनभुवि सहसा वैष्णवो यो बभूव
यो वा श्रीरामकृष्णौ निजहृदि विमले मित्रभावेन भेजे ॥५७॥

और जिन्होंने, सख्य-भाव की पुष्टि कारक एवं सखा-भाव की अष्ट-कालीन लीलाओं का बोधक 'श्रीराम-कृष्णलीलामृत'-नामक ग्रन्थ की रचना की है उन्हीं आपके लिये हमारा बारम्बार प्रणाम है ॥५२॥

और जिन्होंने, श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर, अपने आचार्यवर्य श्रीमन्मध्वाचार्य के द्वैत मत को समझाने वाली विचित्र भाषा टीका की रचना की है, एवं जिन्होंने श्रीमद्भागवत की 'वेद-स्तुति' की टीका हिन्दी भाषा से युक्त संस्कृत-भाषा के द्वारा की है, उन्हीं आपके लिये हमारा बारम्बार प्रणाम है ॥५३-५४॥

और जिन्होंने 'श्रीबिल्वमङ्गल'-नामक सुप्रसिद्ध महापुरुष के द्वारा विरचित 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत'-नामक ग्रन्थ के ऊपर, संस्कृत-भाष्य की रचना की है, उन्हीं आपके लिये मेरा कोटिशः प्रणाम है। और मथुरा मण्डलान्तर्गत 'भगण्डी'-नामक ग्राम निवासिनी एवं भक्तवर श्रीरामदयालजी की माताजी एवं हमारी गुरु-बहिन श्रीमती कमलादेवी के बैल को जिन्होंने, अमृत की वर्षा करनेवाली अपनी कृपामयी दृष्टि के द्वारा, मृत्यु-रूप महान् संकट से छुड़ा दिया, एवंगुण-विशिष्ट मित्रवर आपके लिये हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥५५-५६॥

और जो आप, सोलहवर्ष की अवस्था में ही, धन, जन, जननी एवं घररूपी अन्धकूप को छोड़कर, काशीजी चले गये थे। और वहाँपर भी शीघ्र ही, समस्त शास्त्रों को पढ़कर, विधिपूर्वक संन्यास के चिह्न को

भ्राम भ्राम च भूमौ हरिपदविमुखान् सम्मुखान् यश्चकार
मिथ्याऽऽर्याख्य समाज श्रुतिशरनिचयै खण्डित यश्चकार।
ग्रामे ग्रामे च सकीर्तन-करणपरान् सघकान् यश्चकार
स त्व पादारविन्द हृदयसरसि मे सर्वदाऽऽवि कुरुष्व ॥५८॥

इदानीं कार्या हे गुरुवर! कृपालो! मयि कृपा
यया कुर्यां कार्यं जगति विमल तेऽपि सुखदम्।
तथा चान्ते चेतो भजतु मम कृष्ण बलयुत
तयाऽवाप्ति श्रीमत्पदकमल-युग्मस्य भवतु ॥५९॥

शुभार्थनैषा तव पादपद्मयो, ममास्ति हे देशिकवर्य! साम्प्रतम्।
प्रपूरणीया मयि चेत् कृपास्ति ते, दुरात्मनीदय वनमालिदासके ॥६०॥

धारण करके श्रीवृन्दावन की भूमि मे आ गये थे, वहाँपर भी जो आप, श्रीहरि की अचिन्त्य लीला शक्ति के द्वारा अचानक ही श्रीमध्वमतावलम्बी वैष्णव बन गये थे। और जिन आपने, परम निर्मल अपने हृदय मे श्रीकृष्ण-बलदेव का भजन, मित्र भाव से ही किया है, कर रहे हो, अन्य जनो से करवा रहे हो और आगे भी करवाते रहोगे। और जिन आपने, इस भूमि मे घूम घूमकर श्रीहरि के चरणो से विमुख कितने ही जीवो को श्रीहरि के सम्मुख कर दिया है। और जिन आपने, मिथ्या ही 'आर्य'—नामक समाज को, श्रुतिरूपी बाणो के समूहो के द्वारा खण्डित कर दिया। और जिन आपने, गाँव गाँव मे एव बडे बडे शहरो मे भी श्रीहरिनाम सकीर्त्तन के कितने ही सघ भी बना दिये, अतएव एव गुणविशिष्ट हे श्रीगुरुदेव! आप, अपने परमकोमल चरणारविन्द को, मेरे हृदयरूपी सरोवर मे सदैव प्रगट बनाये रखो। आपके श्रीचरणो मे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है। (इन दोनो श्लोको मे 'स्रग्धरा' छन्द है) ॥५७-५८॥

हे कृपालो! गुरुवर! अब तो आप मुझपर ऐसी कृपा कर दो कि, जिससे मैं, इस नश्वर जगत् मे, विमल एव आपको सुख देनेवाला ही कार्य करू, अर्थात् मेरी बुद्धि, भक्तिमार्ग से कभी भी विचलित न हो और अन्त काल मे भी मेरा चित्त अपने प्राण-प्रिय सखा श्रीकृष्ण-बलदेव की सेवा मे ही निमग्न रहे। तथा अन्त मे आपके दोनो श्रीचरण-कमलो की प्राप्ति भी मुझको हो जाय। (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ॥५९॥

हे श्रीगुरुदेव स्वामिन्! इस समय, आपके दोनो चरण-कमलो मे, मेरी तो यही मङ्गलमयी प्रार्थना है, यदि इस दुरात्मा वनमालिदास' के

इति गुरुदेवं स्तुत्वा, काञ्चनदण्ड यथाऽपतं पदयोः ।
करकमल मम मूर्धनि, धृत्वाऽऽचार्यं कृपामकरोत् ॥६१॥
शास्त्रिपरीक्षां दातु, वाराणस्या यदोद्यतावावाम् ।
गुरुरपि तदाऽऽवयो स्वां, प्रकटा लीला तिरोधातुम् ॥६२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये चरित्रनायक-ग्रन्थकारयो परस्पर-सम्मेलनाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम षोडश सर्ग सम्पूर्ण ॥१६॥

अथ सप्तदशः सर्गः

श्रीगुरुदेवस्याऽन्तर्धान-लीला

अथ शास्त्रि - परीक्षाया प्रथम शकल यदा ।
प्रदातुमुद्यतावावा गुरुदेवस्तदाऽऽवयोः ॥१॥
स्वकीयां प्रकटां लीलां तिरोभावयितु लपन् ।
हिण्डौल - नगरेऽवात्सीद् वृन्दावन - समीपगे ॥२॥

ऊपर आपकी इस प्रकार की अनुकम्पा है तो आप, इसकी प्रार्थना की पूर्ति अवश्य ही कर दीजियेगा । (इस श्लोक मे 'वंशस्थ' छन्द है) ॥६०॥

इस प्रकार आर्त्त-भाव से श्रीगुरुदेव की स्तुति करके जब मैं, उनके दो नोश्रीचरणो मे सुवर्ण के दण्ड की तरह साष्टाङ्ग गिर पडा तब, परम-दयालु श्रीगुरुदेव ने, अपने परम-कोमल कर कमल को मेरे मस्तकपर धर कर अपनी कृपा कर दी । उसके बाद,हम दोनो गुरु-भाई जब काशी की शास्त्री परीक्षा को देने के लिये उद्यत हुए तभी अर्थात् उसी वर्ष, हमारे श्रीगुरुदेव भी, अपनी प्रगट-लीला को अन्तर्हित करने के लिये उद्यत हो गये । (इन दोनो श्लोको मे 'आर्या' -नामक छन्द है) ६१-६२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये चरित्रनायक-ग्रन्थकारयो परस्पर-सम्मेलनाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम षोडश सर्ग सम्पूर्ण ॥१६॥

सत्रहवाँ सर्ग

श्रीगुरुदेव की अन्तर्धान-लीला

उसके बाद, हम दोनो गुरु-भाई जब व्याकरण की शास्त्री परीक्षा के प्रथम खण्ड को देने को उद्यत हुए उसी समय हम दोनो के श्रीगुरुदेव भी, अपनी प्रगट लीला को अन्तर्हित करने की इच्छा से युक्त होकर, श्रीवृन्दा-वन के निकटवर्ती 'हिण्डौल'-नामक गाँव मे ही शिष्य-मण्डली सहित

पश्चिम दर्शन दातु कृपां कर्तुं तथाऽऽवयो. ।
समीप प्रेषयामास शिष्य कचन देशिक. ॥३॥
सचाऽब्रवीत् समागत्य हरिप्रेष्ठ च मामपि ।
कुरुत दर्शन शीघ्र पश्चिम देशिकस्य भो ! ॥४॥
अन्यथा कृष्णकल्पस्य प्रत्यक्ष सख्यरूपिण ।
दुर्लभ दर्शन स्वस्य देशिकस्य भविष्यति ॥५॥
इति श्रुत्वा हरिप्रेष्ठो मामवोचत् त्वराऽन्वित ।
विकलो मा स्म भूर्भ्रात ! कृष्णस्येच्छा विचारयन् ॥६॥
कृष्णेन यावदादिष्ट कार्यं कर्तुं गुरुश्च नौ ।
तावत् कार्यं कृत तात ! गुरुणा सख्यरूपिणा ॥७॥
पुराऽह दर्शन कृत्वा शीघ्रमायामि मा खिद ।
पश्चात् त्वयाऽपि गन्तव्य दर्शनार्थं गुरो सखे! ॥८॥
अत्राऽपि भगवत्सेवा त्वा विना क करिष्यति ।
इत्युक्त्वा हरिप्रेष्ठस्तु समयादविलम्बितम् ॥९॥

निवास करने लग गये । (इस सर्ग मे चोतीसवे श्लोक तक 'अनुष्टुप्' छन्द है) ॥१-२॥

उस समय,अपना अन्तिम दर्शन देने के लिये,तथा हम दोनो के ऊपर कृपा करने के,लिये,परम-दयालु श्रीगुरुदेव ने हम दोनो के निकट, अपने किसी शिष्य को भेज दिया । उस शिष्य ने भी आते ही हम दोनो के प्रति कहा कि, हे भाइयो ! देखो, तुम दोनो गुरु भाई अपने श्रीगुरुदेव के अन्तिम दर्शन को शीघ्र ही करलो । अन्यथा श्रीकृष्ण के समान एवं साक्षात् सख्य-रस के अवतार-स्वरूप अपने श्रीगुरुदेव के दर्शन तुमको दुर्लभ ही हो जायेगे ॥३-५॥

इस समाचार को सुनते ही भैया हरिप्रेष्ठ ने उतावली से युक्त होकर मेरे प्रति कहा कि, हे भैया ! वनमालिदास ! तुम, श्रीकृष्ण की इच्छा को विचारकर विकल मत होओ । क्योकि, हम दोनो के श्रीगुरुदेव को, श्रीकृष्ण ने जितना कार्य करने का आदेश दिया था, अत भैया ! सख्य रस के अवतार-स्वरूप हमारे श्रीगुरुदेव ने उतना ही कार्य सम्पन्न कर दिया है ॥६-७॥

इसलिये हे भैया ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो, पहले मैं, दर्शन करके शीघ्र ही आ जाऊँगा, उसके बाद तुम भी श्रीगुरुदेव के दर्शनार्थ चले जाना । और देखो, भैया ! यहाँ भी तुम्हारे बिना अपने श्रीठाकुरजी

अथ गत्वा गुरो पार्श्वं नत्वा पादारविन्दयोः।
कृत्वा च दर्शन प्रेम्णा सविधे समुपाविशत् ॥१०॥

परन्त्वाचार्यवर्यस्तु पूर्वं जग्राह मौनिताम्।
तत प्रोवाच नो किञ्चित् संज्ञयाऽसूसुचत् परम् ॥११॥

दर्शनार्थं तदा तस्य चाऽऽयान्ति बहवो जनाः।
कृत्वा च दर्शन नत्वा गच्छद्भिरिति गद्यते ॥१२॥

अयि ! भ्रातरितोऽग्रे तु भवितारो न केचन।
एतादृशा महात्मानो निस्पृहाश्च दयालवः ॥१३॥

गणयन्ति न ये कष्टान् परोकरणे रता।
दुर्लभ दर्शन तेषा भूतले तु महात्मनाम् ॥१४॥

अत सफलयन्तः स्व नेत्र - युग्म हि भ्रातर !।
कुरुध्वं दर्शन शीघ्र दुर्लभस्य महात्मनः ॥१५॥

की सेवा-पूजा कौन करेगा ? मेरे प्रति इस प्रकार कहकर हरिप्रष्ठ तो शीघ्र ही 'हिण्डोल' को चल दिया। और वहाँपर जाते ही श्रीगुरुदेव के निकट पहुँचकर, श्रीगुरुदेव के दोनो चरण-कमलो मे नमस्कार करके एव प्रेम-पूर्वक दर्शन करके उनके निकट ही बैठ गया ॥८-१०॥

परन्तु हमारे श्रीगुरुदेव तो इसके पहुचने से पहले ही मौन धारणकर चुके थे। अतएव वे हरिप्रेष्ठ के प्रति कुछ भी नही बोले, केवल इशारे से ही 'हरे कृष्ण !' कहकर अपनी प्रसन्नता की सूचना दे दी। उस समय उनके दर्शन करने के लिये अनेको गाँवो के बहुत से जन आ जा रहे थे। उनके दर्शन करके एव उनको नमस्कार करके जाते समय वे ग्रामीण जन, यह कहते जा रहे थे कि,—॥११-१२॥

ह भैयाओ ! देखो, इस ससार मे अब से आगे तो, इस प्रकार के निस्पृह, निरपेक्ष एव परम-दयालु कोई भी महात्मा प्रगट नही होगे। क्योंकि, सदैव परोपकार मे तत्पर रहकर ये स्वामीजी तो, अपने शारीरिक कष्टो को कुछ भी नही गिनते थे। इस प्रकार के गुणोवाले उन महात्माओ का दर्शन तो परम-दुलभ ही है। इसलिये हे भैयाओ ! अपने दोनो नेत्रो को सफल करते हुए, इस प्रकार के दुर्लभ महात्माजी के दर्शन शीघ्र ही करलो, नही तो पीछे पछिताते ही रह जाओगे ॥१३-१५॥

विलुप्तं मित्र - भाव यो कीर्तनस्य च पद्धतिम् ।
धर्मं सनातनं धीरा ! रक्षन् तेने महीतले ॥१६॥
नास्तिका दर्शनादेव यस्य चाऽऽस्तिकतां ययु ।
तस्य कस्मै न रोचेत दर्शन नो हितैषिणः ॥१७॥
जनेष्वेव ब्रुवत्स्वेव सूर्योऽपि भगवान् स्वयम् ।
वृत्तं वक्तुमिर्यतस्य लोकान्तरमुपेयिवान् ॥१८॥
अथ दुष्ट - समाचारा दुष्ट - सत्व - जनप्रिया ।
तामसी ज्ञानदमनी दुष्टवृत्तिरिवैंनिशा ॥१६॥
दुष्टोलूक - सुखा रात्रि-भक्त - कोक - वियोगदा ।
अन्तर्धातु मिवाऽऽयाता गुरु विज्ञान - भास्करम् ॥२०॥
अथ सकीर्तन कर्तुं महामन्त्रस्य देशिकः ।
सर्वानुपस्थितान् भक्तान् सञ्ज्ञया समसूसुचत् ॥२१॥

क्योकि, हे धीरजनो ! हमारे परम हितैषी उन महात्माजी का दर्शन किस व्यक्ति को रुचिकर नही होगा कि, जिन्होने ससार भर मे विलेपरूप से लुप्त हुए भगवान् के मित्र-भाव को, श्रीहरिनाम के सकीर्त न की रीति को, वैदिक सनातन-धर्म की रक्षा करते करते इस भूतलपर विस्तारित कर दिया । और जिनके दर्शन-मात्र से ही बडे बडे नास्तिकजन भी आस्तिकता को प्राप्त हो गये ॥१६ १७॥

जिस समय हमारे श्रीगुरुदेव के दर्शनार्थ आने जानेवाले जन, इस प्रकार से कह रहे थे उसी समय, मानो सूर्य-भगवान् भी इनके लोकोत्तर चरित्र को स्वय ही कहने के लिये दूसरे लोक मे चले गये । अर्थात् अस्त हो गये ॥१८॥

उसके बाद तो, भयकर समाचारवाली, एव दूषित अन्त करणवाले जनो को प्रिय लगनेवाली, ज्ञान का दमन करनेवाली महान् अन्धकारमयी वह उस दिन की रात्रि, मानो दुष्टजनो की वृत्ति की तरह आकर उपस्थित हो गई ॥१६॥

और दुष्टजनरूपी उल्लुओ को सुखदेनेवाली एव श्रीहरि के भक्तजनरूप चक्वाओ को भारी वियोगदेनेवाली उस दिन की वह रात्रि, मानो अनन्त-विज्ञान के भास्कार (सूर्य)-स्वरूप हमारे श्रीगुरुदेव को अन्तर्हित करने के लिये ही आकर उपस्थित हो गई ॥२०॥

उसके बाद तो, हमारे श्रीगुरुदेव ने सभी भक्तो के बीच मे बैठकर, उपस्थित हुए सभी भक्तो के प्रति, 'हरे कृष्ण' इत्यादि महामन्त्र के सकीर्तन करने की सूचना, इशारे से ही कर दी ॥२१॥

अथ संकीर्तनं शृण्वन् गुरुदेवः सतां मतः।
निशीथे फाल्गुने मासे कृष्णे पक्षे तथैव च ॥२२॥
रविवासर-युक्तायां सप्तम्यां च तिथौ तथा।
वैक्रमीये मिते वर्षे सिद्धि-नन्द-निधीन्दुभिः ॥२३॥
सखिभ्यां रामकृष्णस्य युक्तं मणिमयं तथा।
अधिरुह्य विमानाग्र्यं गुरुर्मेऽगाद् हरेः पदम् ॥२४॥
ततश्च रुरुदुः सर्वे शिष्या विरह-पीडिताः।
मुहुः सस्मृत्य संस्मृत्य गुरोर्गुण-कदम्बकान् ॥२५॥
प्रभातायां च शर्वर्यां श्रीमतो विग्रहं ततः।
विमानेऽनुपमे धृत्वा निन्युः श्रीनन्द-घट्टके ॥२६॥
ततश्च कटिपर्यन्ते विमले यमुना-जले।
श्रीमतो विग्रहस्याऽऽशु प्रवाहः शिष्यकैः कृतः ॥२७॥
आचार्य-विग्रहस्तर्हि दृष्टो गच्छँस्तु पायसि।
न दृष्टिपथमायातः पुनः क्वाऽन्तरधीयत ॥२८॥

उसके बाद तो, विशिष्ट सन्तों के भी माननीय हमारे श्रीगुरुदेव, भगवन्नाम का संकीर्तन सुनते-सुनते ही, आधीरात के समय ठीक १२ बजे, फाल्गुन मास मे, कृष्ण-पक्ष मे, रविवार से युक्त सप्तमी तिथि मे, एव "अङ्कानां वामतो गतिः" इस रीति के अनुसार सिद्धि (८) नन्द (९) निधि (९) इन्दु (१) इन सबको उलटकर पढने से परिमित, विक्रम सवत् १९९८ मे, श्रीकृष्ण-बलदेव के दो सखाओं से युक्त, मणिमय परमश्रेष्ठ विमान मे बैठकर श्रीहरि के गोलोक धाम में चले गये ॥२२-२४॥

उसके बाद तो हमारे श्रीगुरुदेव के सभी शिष्य, विरह से व्याकुल होकर, श्रीगुरुदेव के गुणगणो को बारम्बार भली प्रकार स्मरण कर करके रुदन करने लग गये। पश्चात् प्रात.काल होते ही, सभी जन, श्रीगुरुदेव के मङ्गल-मय शरीर को, अनुपम विमान मे पधराकर, श्रीयमुना मैया के श्रीनन्दघाट पर ले गये ॥२५-२६॥

उसके बाद, श्रीयमुनाजी के परमनिर्मल कटि-पर्यन्त जल मे, सभी शिष्यों ने मिलकर, स्नान करवाकर तिलक लगाकर श्रीगुरुदेव के दिव्य-शरीर का प्रवाह शीघ्र ही कर दिया। हमारे श्रीगुरुदेव का वह दिव्य-शरीर उस समय श्रीयमुनाजी के परम-स्वच्छ जल में जाता हुआ तो दिखाई

ग्रामीणैश्च जनैस्तत्र मुहुरन्वेषणं कृतम् ।
परन्तु विग्रहो नैव लब्धस्तैरल्पके जले ॥२९॥
ततस्तु घोषणा जाता पौरुषेये समन्ततः ।
सदेहा स्वामिनो याता आश्चर्यमिदमत्यहो ॥३०॥

श्रीगुरुवर-विरहे हरिप्रेष्ठस्य विकलता विलापश्च

हरिप्रेष्ठस्तु विकलः कथंचिद् यामुने जले ।
स्नात्वा गुरुवियोगार्तो वृन्दारण्यं चचाल ह ॥३१॥
यः शंकरं समाराध्य गुरुं सर्व-गुणालयम् ।
लेभे तस्य वियोगेन तस्य जाता दशाऽद्भुता ॥३२॥
को वा वर्णयितुं शक्तस्तां दशां वागगोचराम् ।
वियोगिनां दशां सम्यग् वियोगी त्वधिगच्छति ॥३३॥
वियोगो दुर्वहो भारो वियोगो दुःसहो रिपुः ।
वियोगो दुःशमो रोगो वियोगः प्राण - शोषणः ॥३४॥

दिया, किन्तु दुबारा किसी के दृष्टि-गोचर नहीं हुआ, न जाने देखते-देखते ही कहाँपर अन्तर्हित (छिपकर आँखों से ओझल) हो गया ॥२७-२८॥

उस समय वहाँपर उपस्थित हुए सभी ग्रामीणजनों ने, उनके शरीर का बारम्बार अन्वेषण किया, किन्तु उन सबको उस थोड़े से जल में भी वह शरीर उपलब्ध नहीं हुआ । उसके बाद तो, जनसमूह में चारों ओर यही घोषणा हो गयी कि, "हे भाइयो ! देखो, श्रीस्वामीजी तो अपने दिव्य-देह के सहित ही भगद्धाम में चले गये हैं" यह महान् आश्चर्य की घटना है ॥२९-३०॥

श्रीगुरुदेव के विरह में हरिप्रेष्ठ की विकलता एवं विलाप

उस समय हरिप्रेष्ठ तो श्रीगुरुदेव के विरह से विकल होकर, जैसे तैसे श्रीयमुना-जल में स्नान करके श्रीगुरुदेव के वियोग से पीड़ित होकर तत्काल श्रीवृन्दावन को चल दिया ॥३१॥

जिस हरिप्रेष्ठ ने, बाल्यावस्था में श्रीशिवजी की आराधना करके, समस्त सद्गुणों के स्थान-स्वरूप सद्गुरुदेव की प्राप्ति की थी, अतः उनके वियोग से उसकी अद्भुत ही दशा हो गयी । वाणी के विषय में न आनेवाली उस अद्भुत दशा का कौन कवि वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । क्योंकि, वियोगी जन की वियोग-मयी दशा को वियोगी व्यक्ति ही भली-प्रकार जानता है । देखो, 'वियोग' एक प्रकार का असह्य भार है, 'वियोग'

मार्गे रोदिति मूर्च्छति प्रलपति स्मृत्वा गुणाना गुरो-
हा हा हे गुरुदेव ! मे विलपते दत्से न किं सान्त्वनाम् ।
प्राप्तस्त्व बहुजन्म - पुण्य - निचयैराचार्यवर्यो मया
तत् किं हे गुरुदेव ! लोचन - पथाद् दूर प्रयातोऽद्य मे ॥३५॥

को वा बोधयिता विचारसमये दुर्बोधमर्थं गुरो !
ग्रन्थ - ग्रन्थिमपि त्वया ननु विना को भूतले भेत्स्यति ।
स्मर्तुर्मे व्यथयन्ति चित्तमनिशं हाऽलौकिकास्ते गुणा
एव भूरि - विलाप - भार - विधुरः प्राप्तः स वृन्दावनम् ॥३६॥

शाहजहाँपुर - नाम्नि, बहुवृक्षे निष्कुटे वसन्तं माम् ।
उटजे समुपासीन, दृष्ट्वा भूयोऽपि खिन्नोऽभूत् ॥३७॥

ही असह्य शत्रु है, एव 'वियोग' ही असाध्य-रोग है, और 'वियोग' ही प्राणो का शोषण करनेवाला है ॥३२-३४॥

'हिण्डौल' से चलता हुआ वह हरिप्रेष्ठ, मार्ग मे रोता जाता था, कभी मूर्च्छित हो जाता था, एव कभी कभी श्रीगुरुदेव के लोकोत्तर गुणो को याद कर-करके अनेक प्रकार का प्रलाप (निरर्थक वचनो का प्रयोग) करने लग जाता था । अतएव बीच-बीच मे कहता जाता था कि, हाय ! हाय !! हे दयालो ! श्रीगुरुदेव ! आप के वियोग मे महान् विलाप करते हुए इस दीन जन के लिये किञ्चित् भी सान्त्वना क्यो नही दे रहे हो ? मैने, अनेको जन्मो के पुण्यसमूहों के द्वारा ही आप जैसे अतिशय-श्रेष्ठ श्रीगुरुदेव को प्राप्त किया था । अत हे श्रीगुरुदेव ! आज मुझ दुर्भागे के नेत्रों के सामने से आप दूर क्यों चले गये हो ?

हा गुरुदेव ! शास्त्रो के गूढतम विचार के समय, दुर्बोध अर्थ को आपके बिना कौन समझायेगा ? और आपके बिना इस भूतलपर, वैदिक-ग्रन्थों की ग्रन्थि (गाँठ) को अच्छीतरह से कौन खोलेगा ? हा ! हा !! हे गुरुदेव! आप के अलौकिक गुण-गण, स्मरण करनेवाले मेरे मन को निरन्तर दु खी कर रहे हैं । इस प्रकार अनेक प्रकार के विलापों के भार से विकल हुआ वह हरिप्रेष्ठ, श्रीवृन्दावन मे आ गया । (इन दोनो श्लोको मे 'शार्दूल-विक्रीडित' छन्द है) ॥३५-३६॥

श्रीवृन्दावन मे आकर भी, वृन्दावन की रमरेणती मे अनेकप्रकार के वृक्षों से परिपूर्ण, 'शाहजहाँपुर'—नामक बगीचे मे निवास करनेवाले एव पर्णशाला मे बैठे हुए मुझको देखकर फिर भी भारी दु खित हो गया ।

विधुरं गुरुवर - विरहा-,दाननमालोक्य तस्य दीनस्य ।
अहमपि भूरि विषण्ण, शकित - चेतास्तमापृच्छम् ॥३८॥
आचार्याऽऽननकञ्ज, किमिति विलोक्याऽपि दूयसे धीमन् ! ।
विकल ममाऽपि चेतो, गुरुवरमुत्कण्ठते द्रष्टुम् ॥३९॥
गुरुवर - विरह साक्षाद्, मुखतो वक्तुं स चाऽसमर्थोऽपि ।
साश्रुभ्यां नयनाभ्यां, व्यक्त वक्तुं समर्थोऽभूत् ॥४०॥

श्रीगुरुवर-विरहे ममाऽपि विकलता विलापश्च

अहमप्यस्याऽऽकार, दृष्ट्वाऽन्तर्हित गुरुं ज्ञात्वा ।
भूरि विलापमकरवं, लब्ध - गतेऽर्थे यथा कृपणः ॥४१॥
निजगुरुवरेणाऽऽहूतोऽह कृपां बहु कुर्वता
नियति - रहित पापाचारस्तथापि न जग्मिवान् ।
तव गुरुवरो यातो लोकान्तरं त्विति शृण्वतः
कठिन - हृदय कस्माद्धेतोर्न मे शतधाऽच्छिद्यत् ॥४२॥

श्रीगुरुदेव के विरह से दीन हुए उस हरिप्रेष्ठ के मलिन मुख को निहार कर मैं भी भारी उदास होकर तथा शकित चित्त से युक्त होकर बडे भैया उस हरिप्रेष्ठ से पूछने लगा कि,--(सेंतीसवे श्लोक से इकतालीसवें श्लोक तक 'आर्या'--नामक छन्द हैं)॥३७-३८॥

हे धीमन् ! भैयाजी ! तुम, श्रीगुरुदेव के मुखारविन्द का दर्शन करके भी इतने दु खी क्यो हो रहे हो ? क्योंकि, तुमको देखकर विकल हुआ मेरा चित्त भी, श्रीगुरुदेव को देखने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। मेरे वचन को सुनकर वह हरिप्रेष्ठ, श्रीगुरुदेव के वियोग को अपने मुख से साक्षात् कहने को असमर्थ होकर भी, आँसुओ से परिपूर्ण हुए अपने दोनो नेत्रो के द्वारा स्पष्ट कहने को समर्थ हो गया। अर्थात् आसुओ से भरे हुए उसके नेत्रों ने ही श्रीगुरुदेव का वियोग स्पष्ट बता दिया ॥३९-४०॥

श्रीगुरुदेव के विरह मे मेरी भी विकलता एव विलाप

मैं भी, श्रीहरिप्रेष्ठ के आकार को देखते ही, अपने श्रीगुरुदेव को अन्तर्हित समझकर, उस प्रकार भारी विलाप करने लग गया कि, जिस प्रकार कृपण (गरीब) व्यक्ति, पहले प्राप्त होकर पीछे सहसा चले गये धन के विषय मे विलाप करता है ॥४१॥

हाय ! हाय !! बडे खेद की बात तो यह है कि, हमारे श्रीगुरुदेव ने भारी कृपा करते हुए यद्यपि मुझ मूढमति को अपने निकट बुलाया भी था,

प्रयातो मां हित्वा सपदि गुरुवर्यं सुविकलं
विहीनं पक्षाभ्यां शकुनिमिव हा दुःखजलधौ।
मनो मे हा कष्टं ज्वलति किमहं हन्त करवं
न पारं नाऽवारं किमपि कलयाम्यस्य जलधेः ॥४३॥

यया यायां पारं सपदि तदुपायाऽधिगतये
त्वहं वन्दे मूर्ध्ना गुरुवर - पदाम्भोजयुगलम्।
स एवेह प्रीतः कुशल - सरणिं मे कथयताद्
अहं यस्यां धावन्नपि नहि पतेयं कथमपि ॥४४॥

बुडालाख्ये ग्रामे जनिरपि यदीया समभवत्
यदीयो भोलाराम इति विदितोऽभूद् हि जनकः।
स्वयं यः सौन्दर्याऽञ्चिततनुरभूद् भूसुरवरः
स आचार्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥४५॥

तो भी भाग्यहीन मैं पापी तो, उनके अन्तिम दर्शन को उनके निकट तक नहीं पहुँच पाया। और अपने बड़े गुरुभाई हरिश्रेष्ठजी के मुख से 'तुम्हारे श्रीगुरुदेव, इस लोक को छोड़कर दिव्य धाम में चले गये हैं'' इस बात को सुनते हुए मेरा कठोर हृदय, न जाने किस कारण से सैकड़ों तरह से टूक-टूक नहीं हुआ। (इस श्लोक में 'हरिणी'–नामक छन्द है) ॥४२॥

हाय ! हाय ! मेरे श्रीगुरुदेव मुझको, पङ्खों से विहीन पक्षी की भांति अतिशय विकल, इस दुःखरूपी समुद्र में छोड़कर शीघ्र ही चले गये। हाय ! बड़े कष्ट की परम्परा है कि, अब मेरा हृदय, श्रीगुरुजी के विरहरूप दावानल से जला ही जा रहा है। हाय ! अब मैं क्या करूँ ? किसकी शरण में जाऊँ ? मैं तो, इस दुःखरूपी सागर का कुछ भी पारावार नहीं जानता हूँ। (तेंतालीसवें श्लोक से बावनवें श्लोक तक 'शिखरिणी' छन्द हैं) ॥४३॥

अब विरहरूपी सागर से जिस प्रकार पार जा सकूँ, शीघ्र ही उस उपाय की प्राप्ति के लिये भी मैं, अपने श्रीगुरुजी महाराज के दोनों चरण-कमलों को ही वन्दना करता हूँ, अतः परमदयालु वे श्रीगुरुजी ही मुझ दीनपर प्रसन्न होकर, मेरे लिये कल्याण के उस मार्ग का निर्देश कर दें कि, मैं, जिसमें नेत्र मूँदकर दौड़ता हुआ भी किसी प्रकार भी न गिर पाऊँ ॥४४॥

पंजाब मण्डलान्तर्गत जिला जालन्धर, तहसील फिल्लौर के 'बुडाला'–नामक गाँव में, जिनका शुभ प्रादुर्भाव हुआ था, और जिनके पिताजी का नाम, पं० श्रीभोलारामजी था, तथा परम सौभाग्यशालिनी श्रीमती माताजी

ततो यातो हित्वा गृहमपि हि य षोडशसमो
मुदा काशीं तत्राऽप्यलमपठदल्पैरपि दिनै ।
विपश्चिद्वर्याच्छास्त्रमलघु तिवाडीति विदितात्
स आचार्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ।।४६।।

गजानन्दैर्नीत पुनरपि च संन्यासिसरणिं
ततो दातुं सर्वे मठपतिपद यस्य च कृते ।
बभूवुः संसक्तास्तदपि नहि यस्तत् समनयत्
स आचार्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ।।४७।।

ततो यातो हित्वा मठपतिपद यो विषमिव
मुदा वृन्दारण्यं हरिजन - शरण्यं शुभकरम् ।
अभूद् यस्तत्रापि प्रभुजन - प्रसङ्गात् प्रभुजनः
स आचार्यं किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ।।४८।।

का नाम, 'श्रीप्रेमरली' जी था । और जिनका श्रीविग्रह स्वत ही इतना सुन्दर था कि मानो सुन्दरता ही इनके रूप मे अवतीर्ण हुई है क्या ? और जो गौड-ब्राह्मण-वशावतस थे, वे ही मेरे प्राणनाथ श्रीगुरुदेव, क्या मेरे इन दोनो नेत्रो के सामने फिर भी आयेंगे ? ।।४५।।

तदनन्तर जो सोलहवर्ष की अवस्था मे, सम्पूर्ण परिवार से परिपूर्ण अपने घर को छोडकर हर्षपूर्वक श्रीकाशीजी चले गये थे,। वहाँपर भी जिन्होंने थोडे ही दिनो मे, पाणिनिजी के अशम्वरूप पण्डितवर्य, 'श्रीहरि-नारायण तिवाडीजी'–महाराज से सम्पूर्ण पाणिनीय–व्याकरण एव अन्य शास्त्र भी अध्ययन किये, वे ही मेरे सत्य-पथ प्रदर्शक श्रीगुरुदेव जू मेरे नेत्रा के मार्ग मे फिर भी आयेंगे क्या ? ।।४६।।

तदनन्तर जिनको काशी मे ही, श्रीस्वामी गजानन्दजी महाराज ने विधिपूर्वक सन्यास का मार्ग दे दिया, अर्थात् सन्यासी बना दिया । पश्चात् जिनके लिये, सद्गुण-गण-सम्पन्न अतएव सर्वथा योग्य समझकर, वहाँ के सभी लोग मठपति पद को देने को तत्पर हो गये, तथापि जिन्होने उस पद को अङ्गीकार नही किया, वे ही मेरे प्रियवर श्रीगुरुदेव, क्या मुझको फिर भी दर्शन देने की कृपा करगे ? ।।४७।।

तदनन्तर जो, उस मठपति पद को, विष के समान हेय समझकर, उसको रात्रि मे ही तत्काल त्यागकर, हरि भक्तजन सुखदायी एव सब श्रेयस्कर श्रीधाम वृन्दावन को चल आय । वहाँपर भी जो श्रीनित्यानन्द

भुवि ग्रामं ग्रामं श्रुतिशरचयैर्नास्तिक - मृगाः
　　कृताः पापाऽरण्यान्नरक - भयदाद् धर्मवनगाः ।
न यत्राऽस्ते भीतिः शमन - मृगयु - त्यक्तशरजा
　　स आचार्यं किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥४६॥

विलुप्तप्राया सख्य - रसपरिपाटी प्रकटिता
　　तथा तद्रक्षार्थं सखिरसपरो येन रचितः ।
बृहद्ग्रन्थो यस्य प्रणिगदति कीर्तिञ्च विमलां
　　स आचार्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥५०॥

श्रुतीनां पत्री नास्तिक - मद - विनाशाय लिखिता
　　तथा भक्तिग्रन्थेष्वपि बहुषु टीका विलिखिता ।
तथा येन श्रीभागवत - सुविमर्शो विरचितः
　　स आचार्यं किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥५१॥

वंशावतंस प्रभुपाद श्रीप्राणगोपाल गोस्वामी जी महाराज की कृपा से श्रीमन्मध्वमतानुयायी श्रीचैतन्य-महाप्रभु के प्रिय-पार्षद बन गये। वे ही मेरे प्रियवर श्रीगुरुदेव, फिर भी मेरे दृष्टि-गोचर होंगे क्या ? ॥४८॥

भक्ति के मार्ग का आश्रय लेकर जिन्होंने, इस भूतलपर प्रत्येक गाँव एवं बड़े बड़े शहरों में घूम-घूमकर वेदरूपी वाणों के द्वारा नास्तिकरूपी मृगों को, पाप-रूपी वन से निकालकर, धर्म-रूपी वन में पहुँचा दिया, जहाँ पर यमराज-रूप व्याध के बाणों का, किञ्चित् भी भय नहीं है, एवं गण-गण-विशिष्ट शिष्टवर्य मेरे वे ही श्रीगुरुदेव, क्या मुझे फिर भी दर्शन देंगे ? ॥४६॥

और जिन्होंने विलुप्तप्राय सख्य-रस की परिपाटी (परम्परा) सप्रमाण प्रगट कर दी, तथा उस सख्य-रस की रक्षा के लिये वेद, पुराण, इतिहासादि के प्रमाणों से युक्त 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत'-नामक विशाल-ग्रन्थ की रचना भी कर दी, जो ग्रन्थ आज भी जिनकी विमल-कीर्ति का गायन कर रहा है, वे ही मेरे प्रियवर श्रीगुरुदेव, मुझे फिर भी दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे क्या ? ॥५०॥

और जिन्होंने, नास्तिकों का मद-मर्दन करने के लिये 'श्रीवैदिक-प्रमाण-पत्रिका' लिखी तथा श्रीमद्भागवत के दशमपर और श्रीगीताजीपर श्रीमध्वमतानुगामिनी विस्तीर्ण भाषा टीका लिखी, एवं 'श्रीकृष्ण-वर्णामृत' पर तथा 'श्रीराधासुधानिधि' पर संस्कृत टीका लिखी और 'श्रीभक्तिरत्ना-

सदा स्वादं स्वादं बल - हरिकथाकीर्तनरसं
प्रियैर्भक्तै रात्रिन्दिवमपि च यो नैव बुबुधे।
तथा वै यस्याऽजागरुरखिल - शास्त्राणि हृदये
स शाचार्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥५२॥

हे देशिकार्य ! विकलाय जनाय मह्य ,किं दर्शनं नहि ददासि मनागपि त्वम् ।
निद्रापि नो लगति देव!वियोगतस्ते,स्वप्नेऽपि दुर्लभमहो तव दर्शनं मे ॥५३॥

इत्थं भृशं विलपतो मम मुक्तकण्ठं, शान्तिप्रदा गुरु - मनोरथपूर्तिरासीत् ।
नो चेद् भवेद् विरहिणामवलम्बलेशो, जीवेयुरप्यहह ते कथमत्र लोके ॥५४॥

काव्य-वर्तु कृते कविता-शक्तिलाभ-प्रकार

अथ शास्त्रि - परीक्षायाः, प्रथम खण्ड प्रदाय काशीत ।
वृन्दावनमुपयातौ, पुनरप्यावां वियोगातौं ॥५५॥

वली'–पर विस्तीर्ण-भाषा टीका लिखी और भी बहुत से भक्ति-ग्रन्थोंपर टीकायें लिखी। और जिन्होंने 'भागवततत्त्व-विमर्श'–नामक ग्रन्थ की रचना करके, श्रीमद्भागवतपर आनेवाली नास्तिकों की सम्पूर्ण शंकाओं को समूल नष्टकर दिया, वे ही मेरे प्रिय श्रीगुरुदेव, मुझे फिर भी दर्शन देंगे क्या ? ॥५१॥

और जो अपने प्रिय भक्तों के साथ मिलकर अपने इष्टदेव श्रीराम-कृष्ण के कथा-कीर्तन-रस का सदैव आस्वादन करते-करते रात-दिन को भी भूल जाते थे। और जिनके हृदयरूप सरोवर में, समस्त शास्त्र-रूप कमल सदैव खिले रहते थे, वे ही प्राणप्रिय श्रीगुरुदेव, फिर भी अपनी माधुरी मूर्ति दिखाकर मुझे कृतार्थ करेंगे क्या ? ॥५२॥

हे श्रीगुरुदेव ! तुम्हारे वियोग में विकल हुए मुझ अनाथ बालक के लिये तुम, नेक भी दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ? हे पूज्य श्रीआचार्यदेव ! तुम्हारे वियोग से मुझको रात्रि में निद्रा भी नहीं लगती है, अतः मेरे लिये तो तुम्हारा दर्शन, अहो ! स्वप्न में भी दुर्लभ हो गया ॥५३॥

अथ वैशाखे मासे, सर्वे शिष्या महोत्सव तेनु ।
अहमपि गुरुमुपकर्तुं, चिकीर्षुरपि नालभे साधनम् ॥५६॥

तदनु विचारमकरव, सेवा वाचाऽपि चेदहं कुर्याम् ।
तदपि मनोरथपूर्ति-, र्ममाऽधमस्याऽपि जायेत ॥५७॥

किन्तु स्फुरति न कविता, ललिता हृदये ममाऽपि बालस्य ।
इति चिन्ता - विधुरस्य, प्रादुर्भूता गुरो कृपया ॥५८॥

तदनु गुरुं प्रणिपत्य, गुरुवर - करुणा - बल समालम्ब्य ।
गुरुवर - चरित काव्य, षोडश - दिवसैरिहाऽरचयम् ॥५९॥

इस काव्य के कर्ता को, कविता-शक्ति की प्राप्ति के प्रकार का वर्णन

श्रीगुरुदेवके धाम चले जानेके बाद हम दोनो गुर भाई, व्याकरणको शास्त्रि-परीक्षा के प्रथम खण्डको देकर, श्रीगुरुदेवके वियोग से पीडित होकर 'काशी'-से फिर भी वृन्दावन मे चले आये। (५५ से ६२ तक 'आर्या'-नामक छन्द हैं) ॥५५॥

उसके बाद वैशाख के महीने मे, गृहस्थ एव विरक्त सभी शिष्यों ने मिलकर, हमारे श्रीगुरुदेव का अतिशय विशाल निर्याण-महोत्सव मनाया। उस समय मैं भी, श्रीगुरुदेव का कुछ प्रत्युपकार करने की इच्छा से युक्त होकर भी, किसी प्रकार के भी साधन का लाभ नही कर पाया ॥५६॥

तदनन्तर मैं, एक दिन अर्थात् श्रीगुरुदेव के महोत्सव से एक मास पहले ही अपने मन मे विचार करने लग गया कि, "यदि मैं, अपने श्रीगुरुदेव की सेवा, कविता-रूप वाणी से भी करने मे समर्थ होता तो, मुझ अधम के भी मनोरथ की पूर्ति, अवश्य हो जाती" ॥५७॥

किन्तु उस समय, २० वर्ष की अवस्थावाले मुझ बालक के हृदय मे, सुन्दर सी कविता की स्फूर्ति नही हो रही थी। इस प्रकार की चिन्ता से विकल हुए मेरे हृदय मे, मेरे श्रीगुरुदेव की अलौकिक कृपा से, स्वाभाविकी सरल कविता का प्रादुर्भाव स्वत हो गया ॥५८॥

उसके बाद, मैंने, श्रीगुरुदेव को ध्यान ध्यान मे ही साष्टाङ्ग प्रणाम करके, श्रीगुरुदेव की करुणा के बल का सहारा लेकर सोलह दिनो मे ही, षोडश-सर्गात्मक, 'श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य'-नामक श्रीगुरुदेवचरित-काव्य की रचना कर दी। अतएव उस प्राथमिक श्रीगुरुदेव स्मृति महोत्सव मे, उन्हीं के सस्कृत-चरित्र के द्वारा, सस्कृत भाषा के काव्य के आश्रय से, अपनी

सदा स्वादं स्वादं बल - हरिकथाकीर्तनरसं
प्रियैर्भक्तैः रात्रिन्दिवमपि च यो नैव बुबुधे।
तथा वै यस्याऽजागरखिल - शास्त्राणि हृदये
स शास्त्राचार्यः किं मे पुनरपि दर्शोर्यास्यति पदम् ।।५२।।

हे देशिकार्य ! विकलाय जनाय मह्यं,किं दर्शनं नहि ददासि मनागपि त्वम् ।
निद्रापि नो लगति देव!वियोगतस्ते,स्वप्नेऽपि दुर्लभमहो तव दर्शनमे ।।५३।।

इत्थं भृश विलपतो मम मुक्तकण्ठं, शान्तिप्रदा गुरु - मनोरथपूर्तिरासीत् ।
नो चेद् भवेद् विरहिणामवलम्बलेशो, जोवेयुरप्यहह ते कथमत्र लोके ।।५४।।

काव्य-कर्तु कृते कविता-शक्तिलाभ-प्रकार

अथ शास्त्रि - परीक्षायाः, प्रथमं खण्ड प्रदाय काशीत ।
वृन्दावनमुपयातो, पुनरप्यावां वियोगार्तौ ।।५५।।

वली'–पर विस्तीर्ण-भाषा टीका लिखी और भी बहुत से भक्ति-ग्रन्थोंपर टीकायें लिखी। और जिन्होंने 'भागवततत्त्व-विमर्श'–नामक ग्रन्थ की रचना करके, श्रीमद्भागवतपर आनेवाली नास्तिकों की सम्पूर्ण शकाओ को समूल नष्टकर दिया, वे ही मेरे प्रिय श्रीगुरुदेव, मुझे फिर भी दर्शन देंगे क्या ? ।।५१।।

और जो अपने प्रिय भक्तों के साथ मिलकर अपने इष्टदेव श्रीराम-कृष्ण के कथा-कीर्तन-रस का सदैव आस्वादन करते-करते रात-दिन को भी भूल जाते थे। और जिनके हृदयरूप सरोवर मे, समस्त शास्त्र-रूप कमल सदैव खिले रहते थे, वे ही प्राणप्रिय श्रीगुरुदेव, फिर भी अपनी माधुरी मूर्ति दिखाकर मुझे कृतार्थ करेंगे क्या ? ।।५२।।

हे श्रीगुरुदेव ! तुम्हारे वियोग मे विकल हुए मुझ अनाथ बालक के लिये तुम, नेक भी दर्शन क्यों नही दे रहे हो ? हे पूज्य श्रीआचार्यदेव ! तुम्हारे वियोग से मुझको रात्रि मे निद्रा भी नही लगती है, अत मेरे लिये तो तुम्हारा दर्शन, अहो ! स्वप्न मे भी दुर्लभ हो गया ।।५३।।

इस प्रकार जोर-जोर से चिल्लाकर भारी विलाप करते हुए मेरे लिये, उस समय श्रीगुरुदेव के 'भक्ति-प्रचार'–रूप मनोरथ की पूर्ति ही शान्तिप्रद हो गयी ! अहह ! इस लोक मे, विरहीजनों को यदि किसी प्रकार के अवलम्बन का लेश भी नही होता तो वे यहांपर किस प्रकार जीवित रह सकते थे (५३, ५४ मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ।।५४।।

अथ वैशाखे मासे, सर्वे शिष्या महोत्सवं तेनुः ।
अहमपि गुरुमुपकर्तुं, चिकीर्षुरपि नालभे साधनम् ॥५६॥

तदनु विचारमकरवं, सेवां वाचाऽपि चेदहं कुर्याम् ।
तदपि मनोरथपूर्ति-, र्ममाऽधमस्याऽपि जायेत ॥५७॥

किन्तु स्फुरति न कविता, ललिता हृदये ममाऽपि बालस्य ।
इति चिन्ता - विधुरस्य, प्रादुर्भूता गुरोः कृपया ॥५८॥

तदनु गुरुं प्रणिपत्य, गुरुवर - करुणा - बलं समालम्ब्य ।
गुरुवर - चरितं काव्यं, षोडश - दिवसैरिहाऽरचयम् ॥५९॥

इस काव्य के कर्ता को, कविता-शक्ति की प्राप्ति के प्रकार का वर्णन

श्रीगुरुदेवके धाम चले जानेके बाद, हम दोनो गुरु-भाई, व्याकरणकी शास्त्रि-परीक्षा के प्रथम खण्डको देकर, श्रीगुरुदेवके वियोग से पीडित होकर 'काशी'-से फिर भी वृन्दावन मे चले आये। (५५ से ६२ तक 'आर्या'-नामक छन्द हैं) ॥५५॥

उसके बाद, वैशाख के महीने मे, गृहस्थ एवं विरक्त सभी शिष्यो ने मिलकर, हमारे श्रीगुरुदेव का अतिशय-विशाल निर्याण-महोत्सव मनाया। उस समय मैं भी, श्रीगुरुदेव का कुछ प्रत्युपकार करने की इच्छा से युक्त होकर भी, किसी प्रकार के भी साधन का लाभ नही कर पाया ॥५६॥

तदनन्तर मैं, एक दिन अर्थात् श्रीगुरुदेव के महोत्सव से एक मास पहले ही अपने मन मे विचार करने लग गया कि, "यदि मैं, अपने श्रीगुरुदेव की सेवा, कविता-रूप वाणी से भी करने मे समर्थ होता तो, मुझ अधम के भी मनोरथ की पूर्ति, अवश्य हो जाती" ॥५७॥

किन्तु उस समय, २० वर्ष की अवस्थावाले मुझ बालक के हृदय मे, सुन्दर सी कविता की स्फूर्ति नही हो रही थी। इस प्रकार की चिन्ता से विकल हुए मेरे हृदय मे, मेरे श्रीगुरुदेव की अलौकिक कृपा से, स्वाभाविकी सरल कविता का प्रादुर्भाव स्वतः हो गया ॥५८॥

उसके बाद, मैने, श्रीगुरुदेव को ध्यान-ध्यान मे ही साष्टाङ्ग प्रणाम करके, श्रीगुरुदेव की करुणा के बल का सहारा लेकर, सोलह दिनो मे ही, षोडश-सर्गात्मक, 'श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य'-नामक श्रीगुरुदेवचरित-काव्य की रचना कर दी। अतएव उस प्राथमिक श्रीगुरुदेव-स्मृति महोत्सव मे, उन्ही के संस्कृत-चरित्र के द्वारा, संस्कृत भाषा के काव्य के आश्रय से, अपनी

गुरुचरित जिज्ञासु-, निज - गुरुभक्तो महानुभावो य ।
पठतु स मया विरचितं, षोडश - सर्गात्मकं काव्यम् ॥६०॥

आवाभ्यां मिलित्वा भक्ति-प्रचार

अथ नौ शास्त्रि - परीक्षा, मुत्तीर्य चाऽपि न्यायशास्त्रस्य ।
अथ वेदान्तस्याऽपि, प्रादामय काव्यतीर्थमहम् ॥६१॥

पश्चाद् गुरुवरकृपया, शास्त्रेष्वखिलेष्वयो दुरुहेषु ।
भक्ति - ग्रन्थेष्वपि च, प्रवृत्तिरद्धाऽऽवयोर्जाता ॥६२॥

टूटी-फूटी भाषा से, उनकी शुद्ध-वाणीमयी सेवा करके मैं भी कृत्य-कृत्य हो गया ॥५९॥

हम दोनो के द्वारा मिलकर भक्ति का प्रचार

अब जो कोई महानुभाव, हमारे श्रीगुरुदेव के अलौकिक चरित्र को जानना चाहता हो, एवं जो अपने श्रीगुरुदेव का भक्त हो वह, मेरे द्वारा विरचित, सोलह सर्गो से युक्त, तथा मेरे द्वारा ही रची हुई सरल-भाषाटीका से युक्त-प्रकाशित 'श्रीकृष्णानन्द महाकाव्य'—नाम से प्रसिद्ध उस काव्य को, अनायास पढ सकता है ॥६०॥

उसके बाद, हम दोनो गुरु-भाइयो ने, व्याकरण की शास्त्रि-परीक्षा को उत्तीर्ण करके न्याय-शास्त्र की भी शास्त्रि-परीक्षा को उत्तीर्ण करके, वेदान्ताचार्य की भी परीक्षा दे दी। और मैंने तो, काव्य-तीर्थ की परीक्षा भी दे दी, तथा उसमे सर्व-प्रथम श्रेणी भी प्राप्त कर ली ॥६१॥

उसके बाद, श्रीगुरुदेव की कृपा से, दुरूह (बडी कठिनता से समझ मे आने योग्य) सभी शास्त्रो मे एवं भक्ति के सभी ग्रन्थो मे भी, हम दोनो की अद्धा (साक्षात्) प्रवृत्ति हो गई। अर्थात् श्रीगुरुदेव की अहैतुकी कृपासे हम दोनो के हृदय मे, सभी शास्त्रोके अतिशय गूढ भावार्थों की भी स्वत स्फूर्ति होने लग गई। अतएव उपनिषद् मे, शिवजी ने पार्वती के प्रति ठीक ही कहा है। यथा—

"यस्य देवे परा - भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥"

उदार चित्तवाले जिस व्यक्ति की, अपने इष्टदेव मे जिस प्रकार की उत्कृष्ट भक्ति है, उसी प्रकार की उत्कृष्ट भक्ति (सेवामयी वृत्ति), यदि अपने श्रीगुरुदेव मे हो जाय तो, उदार चित्तवान उस व्यक्ति के हृदय मे, समस्त

पश्चादावां मिलित्वा गुरुवरवचनं मानसे धारयित्वा
देशे देशे प्रचारं गुणगणगुणित कृष्ण - भक्तेरकार्ष्व।
ग्रामे ग्रामे च संकीर्तन-करण-परान् सघकान् कृष्णनाम्नो
भ्राम भ्रामं च भूमौ हरिपदविमुखात् सम्मुखान् प्रेमपूर्वम् ॥६३॥

प्रागस्मि शिक्षितोऽहं, निजगुरुदैवेन प्रीतेन।
गुरुवरकृपा यथा मां, नर्तयति तथैव नृत्यामि ॥६४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये
श्रीगुरुदेवस्याऽन्तर्धानलीलाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम
सप्तदश- सर्ग सम्पूर्ण ॥१७॥

शास्त्रों मे कहे हुए अथवा न कहे हुए भी गूढ अर्थ, स्वत प्रकाशित हो जाते है। श्रीगुरुदेव की विशुद्ध-भक्ति का, यह अपूर्व रहस्य है ॥६२॥

उसके बाद, हम दोनो गुरु-भाइयो ने मिलकर, श्रीगुरुदेव के वचनको हृदय मे धारण करके, अनन्तगुण-गणोसे परिपूर्ण श्रीकृष्णकी भक्तिका सुदृढ-प्रचार देश-देश मे कर दिया। और प्रत्येक गाँव मे श्रीहरिनाम सकीर्तन के करने मे तत्पर, बहुत से सघ भी बना दिये। तथा हम दोनो ने भूमिपर घूम-घूमकर, श्रीहरि के चरणो से विमुख व्यक्तियों को भी प्रेम-पूर्वक समझाकर श्रीहरि के सम्मुख बना दिया (इस श्लोक में 'स्रग्धरा'-नामक (छन्द है) ॥६३॥

मेरे ऊपर प्रसन्न हुए, मेरे श्रीगुरुदेव ने, भक्ति के सुदृढ सिद्धान्त की शिक्षा, मुझको, पहले ही, अर्थात् बाल्यावस्था मे ही दे दी थी, अत श्रीगुरु-देव की कृपा, मुझको जिस प्रकार नचा रही है, मैं तो, उसी प्रकार नाचता जा रहा हूँ (इस श्लोक मे 'उपगीति-नामक' छन्द है) ॥६४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनी-नाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये श्रीगुरुदेवस्यान्तर्धानलीलाद्यनेक विषय-वर्णन नाम
सप्तदश सर्ग सम्पूर्ण ॥१७॥

अथ अष्टादशः सर्गः

श्रीकृष्ण-प्राप्तये पुनरपि तपश्चरणम्

अथ वर्षत्रय प्रेम्णा प्रचार्य जगती - तले ।
हरि - भक्ति हरिप्रेष्ठो विमना समजायत ॥१॥
पुनरप्यस्य हृदये कृष्ण - दर्शन - लालसा ।
जाता कथ हरिं भक्तो ज्ञाताऽऽस्वादो हि विस्मरेत् ॥२॥
अतो मामप्यनापृच्छ्य सुप्तं त्यक्त्वा महीतले ।
निशीथ - समये हृष्टो नन्दग्राममयादसौ ॥३॥
मध्ये घोरामरण्यानीं व्यालोलूक-शिवाऽङ्गणाम् ।
कृष्णाऽऽवेश - चलच्चितः पश्यन्नपि न पश्यति ॥४॥
शीघ्र - पाद - प्रचारेण नन्दग्राममसौ प्रगे ।
केनाऽपि हृदयस्थेन नीयमान इवाऽऽययौ ॥५॥
शैले नन्दीश्वरेऽपश्यत् स्थितां नन्दपुरीमसौ ।
कैलास - शिखरे रम्ये शोभमानामिवाऽलकाम् ॥६॥

अठारहवां सर्ग

श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये फिर भी तपस्या करना

उसके बाद, हरिप्रेष्ठ, इस भूतलपर तीन वर्ष तक प्रेम-पूर्वक भक्ति का प्रचार करके उस प्रचार से भी उदासीन हो गया (इस सर्ग मे चालीसवें श्लोक तक 'अनुष्टुप' छन्द हैं) ॥१॥

इस हरिप्रेष्ठ के मन मे, फिर भी श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा उत्पन्न हो गयी । क्योंकि, श्रीहरि के दर्शन के आस्वाद को जाननेवाला भक्त, उनको किस प्रकार भूल सकता है ? ॥२॥

अतएव वह हरिप्रेष्ठ, मुझको भी न पूछकर, एवं धरतीपर सोते हुए मुझको अकेला ही छोडकर, आधी रात मे प्रसन्न होकर, श्रीनन्दग्राम की ओर चल दिया । श्रीकृष्ण के आवेश से चचल-चित्तवाला वह हरिप्रेष्ठ, रास्ते मे पडनेवाली उस भयकर वनी को देखता हुआ भी नही देख रहा था कि, जिस वनी के आँगन मे, भयकर सर्प, उल्लू, एव शिवा (गीदडी) आदि स्वच्छन्द घूम रहे थे । इस प्रकार मानो उसके हृदय मे विराजमान किसी अन्तर्यामी के द्वारा चलाया हुआ वह, शीघ्रतापूर्वक चलनेवाले चरणो की चाल से प्रात.काल ही नन्दग्राम मे आ गया ॥३-५॥

नन्दीश्वर पर्वतपर विराजमान श्रीनन्दपुरी (नन्दगांव) को, उसने, कैलास-पर्वत के परम-रमणीय शिखरपर शोभायमान 'अलका'–पुरी (कुबेर

मध्ये विराजते यस्यां मन्दिर रामकृष्णयोः ।
पताकाऽङ्गुलि - संज्ञाभि. स्व - भक्तानाह्वयन्निव ॥७॥
राम - कृष्णौ पुराऽत्राऽऽस्तां सखायौ मे सनातनौ ।
इति स्मृत्वाऽश्रुभी रेजे प्रभिन्नो वारणो यथा ॥८॥
अत्र विक्रीडित यात स्थितं शयितमाशितम् ।
उभाभ्यां राम - कृष्णाभ्यामिति सचिन्त्य सोऽरुदत् ॥९॥
कदाचिन्मेऽपि भाग्य स्याद् येनाऽहं राम - कृष्णयोः ।
आशितं शयित भुक्तं गत द्रष्टुं हि शक्नुयाम् ॥१०॥
यशोदा - नन्दयो किं मे वात्सल्य - रसरूपयो ।
कृष्ण लालयतो प्रेम्णा दर्शनं सभविष्यति ॥११॥
श्रीदाम - वसुदामाद्यं सखिभिः शयितौ प्रगे ।
उत्थाप्यमानौ च कदा द्रक्ष्यामि बल - केशवौ ॥१२॥

की पुरी) की तरह देखा । जिस पुरी के बीच मे विद्यमान 'श्रीकृष्ण-बलदेव' का मन्दिर, अपने ऊपर लगी हुई पताकारूपी अ गुलियो के इशारे से, मानो अपने प्रिय-भक्तो को बुलाता हुआ-सा ही विराजमान है ॥६-७॥

उसके बाद, वह हरिप्रेष्ठ, "मेरे सनातन सखा श्रीकृष्ण-बलदेव, पहले (द्वापर के अन्त मे) यहाँपर अर्थात् इस नन्द-ग्राम मे प्रत्यक्ष ही विराजमान थे" इस बात को याद करके, उत्पन्न हुए आँसुओ के द्वारा, मद को बहानेवाले मतवाले हाथी की तरह सुशोभित हो गया ॥८॥

श्रीनन्दगाँव को देखते ही उसके हृदय मे अनेक प्रकार की अभिलाषाय उत्पन्न हो गयी । यथा—"अहो ! हमारे प्यारे सखा श्रीकृष्ण-बलदेव ने, यहाँपर अनेक प्रकार की क्रीडा की है, यहाँपर भ्रमण किया है, यहाँपर बैठे है, यहाँपर शयन किया था एव इस स्थानपर भोजन किया था" इन बातो को याद कर करके वह हरिप्रेष्ठ रोने लग गया ॥९॥

रोते रोते भी वह, अपने मन मे इस प्रकार कहने लगा कि, अहह ! इस जीवन मे कभी मेरा भी ऐसा भाग्य हो सकता है कि, जिसके द्वारा मैं भी, श्रीकृष्ण-बलदेव के बैठने को, सोने का, भोजन को, चलने फिरने को भी देख सकूँगा ॥१०॥

एव वात्सल्य-रस के मूर्तिमान स्वरूप, तथा प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण का लालन पालन करनेवाले, श्रीयशोदा मैया एव श्रीनन्दबाबा का दर्शन भी मेरे लिये कभी सम्भव होगा क्या ? ॥११॥

कदा वा गोष्ठगौ प्रात - र्दोहनी - करसम्पुटौ ।
अवर्णनीय - शोभाढ्यौ गोदोहन - परायणौ ॥१३॥
कदा कदम्बखण्डीति प्रसिद्धे निष्कुटे वरे ।
खेलद्‌भ्यां बल - कृष्णाभ्यां खेलिष्यामि मुदा प्रगे ॥१४॥
एवं भूयोऽभिलाप स तन्वन् तेने तते हृदि ।
अथाऽऽयादाह्निकं कृत्वा मन्दिरं राम - कृष्णयो ॥१५॥
दृष्ट्वा च तौ सखायौ स्वौ ननाम भुवि दण्डवत् ।
भूय. स प्रार्थना कृत्वा निर्जनं वनमीयिवान् ॥१६॥
रूप - गोस्वामिना पूर्वं स्थित यत्र तपस्यता ।
असावपि महाभागस्तत्र वासमकल्पयत् ॥१७॥

और ऐसा शुभ दिन भी न जाने कब आयेगा कि, जिस दिन प्रात. काल के समय, श्रीनन्द-भवन मे सोये हुए एव श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि सखाओ के द्वारा प्रेमपूर्वक जगाये जानेवाले श्रीकृष्ण-बलदेव का दर्शन करूँगा ॥१२॥

और प्रात काल के समय, गैयाओ के खिडक मे विद्यमान, एव जिनके हाथो मे सुवर्ण-मयी दोहनी है, एव जो गो-दोहन मे लगे हुए है, अतएव जो अवर्णनीय-शोभा से युक्त है, इस प्रकार के श्रीकृष्ण-बलदेव को मै, कब देखूँगा ॥१३॥

और श्रीनन्दग्राम के निकट ही 'कदम्ब-खण्डी'—नाम से प्रसिद्ध एव अतिशय श्रेष्ठ निष्कुट (घर का बगीचा) मे, प्रात काल के समय, अनेक सखाओ के साथ खेलते हुए श्रीकृष्ण-बलदेव के साथ, हर्ष-पूर्वक मैं भी खेला करूँगा । हाय ! ऐसा शुभ दिन न जाने कब आयेगा ? ॥१४॥

इस प्रकार वह हरिप्रेष्ठ, अपने विशाल हृदय मे, अनेक प्रकार की अभिलापाओ का विस्तार करता हुआ, फिर भी अभिलापाओ का विस्तार करने लग गया । उसके बाद, वह, अपने दैनिक भजन आदि कार्य से निवृत्त होकर, श्रीकृष्ण-बलदेव के मन्दिर मे चला आया ॥१५॥

श्रीनन्दबाबा के उस मन्दिर मे, अपने उन दोनो सखाओ का दर्शन करके, उनके सामने भूमिपर दण्डवत् प्रणाम करने लग गया । वह, वहाँपर भी बारम्बार प्रार्थना करके, श्रीनन्दग्राम के निकटवर्ती निर्जन वन मे चला आया ॥१६॥

जिस स्थानपर ४५० वर्ष पहले तपस्या करते हुए श्रीरूपगोस्वामीजी महाराज ने निवास किया था, महाभाग्यशाली यह हरिप्रेष्ठ भी, उसी स्थान

असौ वैराग्य - सीमास्पृग् लोक - वेद - पथातिगः ।
हित्वा शुभ्राणि वासांसि चीरवासा अजायत ॥१८॥
असौ वनस्पति - क्रोडे कदाचित् कुरुते तप ।
कदाचिद् रूपगोस्वामि - समाधिस्यस्तपस्यति ॥१९॥
तत्र दामोदराऽख्योऽभूत् साधुरूचे च तं प्रति।
अत्र ते भजनं किं स्यान्महासर्प - युते गृहे ॥२०॥
स तु कृष्ण - वियोगार्त उवाच विमना इव ।
कृष्ण - सर्पो दशेच्चेन्मां कृष्णस्तर्हि मिलेदपि ॥२१॥
अथाऽन्येद्यु र्महासर्पोऽप्यपयादस्य तपोबलात् ।
यान्त च त समीक्ष्याऽसौ दामोदरमदर्शयत् ॥२२॥
अयि ! पश्य कुटीं हित्वा यात्यसौ सर्प आयत ।
पुनश्च न समायात कदाचिदपि दृक्पथम् ॥२३॥
अत्यन्नमप्यसौ धीर' शुद्धानां व्रजवासिनाम् ।
अन्येषां तु न गृह्णाति ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा ॥२४॥

पर निवास करने लग गया । वहाँपर भी वह, वैराग्य की सीमा का स्पर्श करनेवाला वनकर, एव लोकातीत तथा वेदातीत परमहंसों की सी स्थितिपर पहुँचकर, अपने सफेद वस्त्रों को त्यागकर, फटे-टूटे चीथडो के ही वस्त्रों को धारण करनेवाला वन गया ॥१७-१८॥

उस समय, वह हरिश्रेष्ठ, कभी खोखले वृक्षों की खोतर मे वेठकर तप करता था एवं कभी कभी, श्रीरूप-गोस्वामीजी की समाधि मे बैठकर तपस्या करता था । वहाँपर "श्रीदामोदरदास जी"–नामक साधु निवास करते थे, उन्होने, हरिश्रेष्ठके प्रति कहा कि, भयकर सर्पसे युक्त इस समाधि मे तुम्हारा भजन किस प्रकार हो सकेगा ? । श्रीकृष्ण के वियोग से पीडित हुआ वह हरिश्रेष्ठ, उदास-सा होकर वोला कि, देखो, भगवन् ! यदि कृष्ण-सर्प (काला सर्प) मुझको काट लेगा तो मुझे श्रीकृष्ण भी अवश्य ही मिल जायँगे ॥१९-२१॥

उसके बाद, दूसरे ही दिन, इस हरिश्रेष्ठ के तपबल से, वह महासर्प भी, उस स्थान को छोडकर स्वत ही दूसरी जगह चला गया । जाते हुए उस सर्प को देखकर, श्रीदामोदरदास जी को भी उसका दर्शन करा दिया । और कहा कि, दामोदरदास जी ! देखो, देखो, यह लम्बा चौडा सर्प, इस भजन कुटी को छोडकर स्वय ही चला जा रहा है । उसके बाद, वह सर्प कभी भी दृष्टि-गोचर नही हुआ ॥२२-२३॥

तत्राऽपि जन - सवाधा यातायातैन भूरिश ।
विलोक्य निर्जने देशे गुहामेकामचीखनत् ॥२५॥

निर्गतान्यस्थि - खण्डानि खनतोऽप्यस्य ता गुहाम् ।
स्वप्ने च कोऽप्युवाचैन तवैवाऽस्थीनि सन्ति भो ! ॥२६॥

त्वयैवाऽत्र वपुस्त्यक्त सप्तवार तपस्यता ।
अस्मिँस्तु जन्मनि भ्रातस्त्व यास्यसि हरे पदम् ॥२७॥

अथ निर्माय यत्नेन सूक्ष्मद्वारा दरीमसौ ।
तत्रैव वासमकरोद् भीत सर्पो बिले यथा ॥२८॥

गिरिराजे यथा तप्त तपोऽनेन महात्मना ।
श्रीकृष्ण - प्राप्तये भूयस्ततो वहु तपस्यति ॥२९॥

शरीर कृशता यात तस्य चैव तपस्यत ।
बभौ भगीरथस्येव गङ्गाऽऽनयनकाम्यया ॥३०॥

उस समय परमधीर वह हरिप्रेष्ठ अपनी दिव्य दृष्टि से पहचान करके शुद्ध-व्रजवासियो का ही अन्न खाता था, बाहर से आकर व्रज मे निवास करनेवाले व्यक्तियों के अन्न को ग्रहण नही करता था। श्रीरूप गोस्वामीजी की समाधि पर भी, दर्शनार्थी लोगो के भारी यातायात (आने जाने के कारण) से मनुष्यो की भीड-भाड देखकर, उसने, किसी निर्जन स्थान मे, एक गुफा खोद-ली ॥२४-२५॥

इसके उस गुफा के खोदते समय बहुत सी हड्डियो के टुकडे निकल पडे। उसी रात्रि मे, स्वप्न मे इस हरिप्रेष्ठ के प्रति किसी व्यक्ति ने कहा कि, हे भैया ! ये सब हड्डिया तुम्हारी ही हैं। क्योकि, तुमने तपस्या करके सात बार यहीपर अपना शरीर छोडा है। किन्तु हे भैया ! तुम इस जन्म मे तो श्रीहरि के धाम मे अवश्य ही चले जाओगे ॥२६-२७॥

उसके बाद तो वह, भारी प्रयत्न से, छोटे से दरवाजेवाली गुफा को बनाकर, भयभीत-सर्प जिस प्रकार बिल मे निवास करता रहता है ठीक उसी प्रकार उसी गुफा मे निवास करने लग गया। इस महात्मा हरिप्रेष्ठ ने, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये पहले, श्रीगिरिराज मे भी जिस प्रकार तप किया था, उसीप्रकार यहापर तो उससे भी अधिक तपस्या करने लग गया। श्रीकृष्ण की प्राप्ति के उद्देश्य से तपस्या करते हुए उसका शरीर, भारी कृशता को प्राप्त होकर उस प्रकार शोभा पाने लगा कि जिस प्रकार

शरीरं तपसा श्याम जातं तस्य महात्मनः ।
प्रतीयतेतरां तर्हि दाव - दग्ध इव द्रुम ॥३१॥
पानाऽशनाऽनपेक्षस्य कलावपि तपस्यतः ।
मासत्रय व्यतीयाय यदा न ददृशे हरिः ॥३२॥
मूर्च्छा तेन समालम्बि तदा विरहिताऽऽत्मना ।
अथ तस्यामवस्थायामागतो हृदये गुरु ॥३३॥
अब्रवीच्च हरिप्रेष्ठ सज्ञामापादयन्निव ।
किमर्थं खिद्यसे पुत्र ! हरिहेतोरनारतम् ॥३४॥
चल वृन्दावनं शीघ्रं तत्रैव हरिराप्स्यते ।
कर्तव्यो हृदये पुत्र ! संशयो न मनागपि ॥३५॥
ममाऽऽज्ञा च हरेराज्ञा सर्व - लोकहितैषिणी ।
कथ न पालिता पुत्र ! विहाय सुखमात्मन. ॥३६॥
आज्ञां पालयतः पुंसो हरेरपि गुरोरपि ।
दिवि भूमौ च पाताले का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥३७॥

श्रीगङ्गाजी को लाने की कामना से, कठोर तप करनेवाले श्रीभगीरथजी का शरीर सुशोभित हुआ था ॥२८-३०॥

उस समय तपस्या के द्वारा, उस महात्मा का शरीर, श्यामवर्ण का होकर, दावानल से जले हुए वृक्ष की तरह प्रतीत होने लग गया। इस प्रकार खाने-पीने की अपेक्षा से रहित होकर, इस कलियुग में भी तपस्या करते हुए इस महात्मा के तीन महीने व्यतीत हो गये। किन्तु उस समय भी जब, श्रीहरि का दर्शन नही हुआ तब, विरह से परिपूर्ण मनवाले उसने, मूर्च्छा का आश्रय ले लिया। उसी मूर्च्छित अवस्था में, हमारे श्रीगुरुदेव, इसके हृदय मे, दिव्यरूप से आकर उपस्थित हो गये। और अपने प्रिय शिष्य हरिप्रेष्ठ को सचेत करते हुए-से बोले कि, हे पुत्र ! तुम श्रीहरि की प्राप्ति के कारण, निरन्तर इतना खेद क्यो कर रहे हो ? यहा से शीघ्र ही वृन्दावन चले जाओ। तुमको वहीपर श्रीहरि की प्राप्ति होगी। हे पुत्र ! इस विषय मे, अपने मन म नेक भी सन्देह नही करना ॥३१-३५॥

और देख, बेटा ! तुमने, अपने सुख को छोडकर, जन-मात्र का हित करनेवाली मेरी आज्ञा तथा श्रीहरि की आज्ञा का पालन क्यो नहीं किया ? और देख, श्रीहरि की एव श्रीगुरुदेव की आज्ञा का पालन करनेवाले पुरुष के

अतस्त्वं मे हरेराज्ञां यथावत् परिपालयन् ।
वस भूमौ ततोऽवश्य हरिलोकमुपैष्यसि ।।३८।।
इत्युक्त्वा तस्य हृदये तिरोभावमयाद् गुरुः ।
इतो ममाऽपि या जाता दशा तां शृणुताऽऽदरात् ।।३९।।

हरिप्रेष्ठ-विरहे मम विकलता तन्निकटे पत्रप्रेषण च

अह याते हरिप्रेष्ठे भृशं चिन्ताऽऽतुरोऽभवम् ।
कथ वा प्राप्नुयां तस्य समाचारं महात्मनः ।।४०।।

पुरा रक्षा दीक्षा - गुरुभिरपि मेऽकारि महती ।
ततो रक्षा शिक्षा - गुरुभिरपि मेऽकारि महती ।
भवाऽब्धे रक्षां सम्प्रति मम विधातुं भवति क
उभाभ्यां हीनोऽह कथमहह ! नेष्यामि दिवसान्! ।।४१।।

इति चिरं विलपन् विरहातुर-, स्तदनु तस्य कथं चिदवाप्नवम् ।
वसति नन्दपुरे विजने वने, तपति चेति प्रवृत्तिमह बुधा. ! ।।४२।।

लिये, स्वर्ग में, भूमि मे एवं पाताल मे भी ऐसी वह कौन-सी सिद्धि है कि, जो दुर्लभ हो ? इसलिये तू, मेरी आज्ञा को एव श्रीहरि की आज्ञा को यथावत् पालन करता हुआ भूतनार निवास कर, उसके बाद तू अवश्य ही श्रीहरि के धाम को प्राप्त कर लेगा । श्रीगुरुदेव, इस प्रकार कहकर उसके हृदय मे ही छिप गये । इधर श्रीहरिप्रेष्ठ के विरह मे, मुझ अकेले की भी जो दयनीय दशा हुई उसको भी पाठक एव श्रोतागण आदरपूर्वक श्रवण करें ।।३६-३९।।

हरिप्रेष्ठ के विरह मे मेरी विकलता एव उसके निकट पत्र भेजना

मुझको सोता हुआ छोडकर, श्रीहरिप्रेष्ठ के जाते ही, मैं, इस प्रकार की चिन्ता से भारी आतुर हो गया कि, हाय ! उस महात्मा का समाचार भी मैं, किस प्रकार प्राप्त कर पाऊँ ? हाय ! वे कहा चले गये ।।४०।।

पहले तो मेरी भारी रक्षा, मेरे श्रीदीक्षा-गुरुदेव ने की थी, उनके धाम चले आने के बाद मेरी भारी देख-भाल-मयी रक्षा मेरे शिक्षा गुरु-स्वरूप इन श्रीहरिप्रेष्ठजी ने की थी । किन्तु इस समय, इस ससार सागर से, मेरी रक्षा करने को कौन समर्थ हो सकता है, ? हाय ! हाय !! अव उन दोनो से विहीन हुआ मैं, अपने दिनो को किस प्रकार व्यतीत करूँगा ? (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है) ।।४१।।

• हे विज्ञ पाठको! देखो, हरिप्रेष्ठ के विरह से व्याकुल हुआ मैं, पूर्वोक्त प्रकार से बहुत दिनो तक विलाप करता हुआ, "वह हरिप्रेष्ठ, आज कल

तदनु तस्य समीपमहं मुदा, मदनमोहनदास - करेण च ।
दलमत्र विनयाऽन्वितमेकलं, प्रहितवान् द्रुतमागमनाय च ॥४३॥

पत्रलेखन-प्रकार

श्रीरामहरिदासानां पादपद्मेषु कोटिशः ।
प्रणामाः सन्तु दीनस्य दासस्य वनमालिनः ॥४४॥
प्रवृत्तिः श्रीमतां ज्ञाता वासस्थानं तु नो मया ।
स्थानाऽज्ञानात् पत्रदानेऽप्यहं तु विमुखः कृतः ॥४५॥

अग्रे निवेदनमिदं चरणाब्जयोस्ते,दुःख स्वका निगदितुं किमहं समर्थः ।
दुःखं तु ते विरहजं समभून्नितान्त,पित्रोर्गुरोरपि च नैव कदापि तादृक्॥४६॥

त्वमनापृच्छ्य यदाऽया, वृन्दारण्यादतीव दूरं मे ।
चिन्ताऽऽकुलितं चेतो, विश्वं शून्यं तदाऽमनुत ॥४७॥

श्रीनन्दगाँव मे ही निवास कर रहा है एव वही के निकटवर्ती निर्जन वन मे तप कर रहा है" इस प्रकार के उसके समाचार को वडी कठिनता से प्राप्त कर पाया (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४२॥

उसके वाद, मैंने, अपने सबसे बड़े गुरु-भाई श्रीमदनमोहनदासजी के हाथ से,भारी विनय से भरा हुआ एक पत्र,श्रीहरिप्रेष्ठ के शीघ्र ही वृन्दावन आने के निमित्त, उनके निकट, हर्ष पूर्वक भेज दिया (इस श्लोक मे भी 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥४३॥

पत्र लिखने की रीति

पूज्यपाद श्रीरामहरिदासजी के चरण-कमलो मे, मुझ दीन दुखी वनमालिदास का कोटिश प्रणाम है। आपका वृत्तान्त तो मुझे किसी प्रकार ज्ञात हो गया,किन्तु मुझे आपके निवासस्थान का पता नही लगा। अतः पत्र भेजने के स्थान का ज्ञान न होने के कारण, मैं तो, आपने, पत्र देने के विषय मे भी विमुख वना दिया। अत वड़े गुरु-भाई के हाथ से ही पत्र भेज रहा हूँ। (इन दोनो श्लोको मे 'अनुष्टुप्' छन्द है) ॥४४-४५॥

इससे आगे, तुम्हारे चरणारविन्दो मे मेरा यह निवेदन है कि, मैं, अपने दुःख को निवेदन करने में समर्थ नही हूँ। क्योकि, इस जीवन मे, तुम्हारे विरह से उत्पन्न होनेवाला इतना भारी दुःख हुआ कि, उस प्रकार का दुःख तो मुझको, अपने माता-पिता के वियोग मे एव अपने श्रीगुरुदेव के वियोग मे भी कभी भी नहीं हुआ था (इस श्लोक मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ॥४६॥

सदा दासानां ते वयमिह तु दासानुचरका-
स्त्वया क्षन्तव्याः सम्प्रति तनु - शरीरा गत-बला ।
तवाऽऽज्ञां हे भ्रातर्विघटयितुमीशा नहि वय
नमामस्ते नित्य पदकमलमहः क्षपयितुम् ॥४८॥

स्वास्थ्य - विषयिणी चिन्ता, कार्या कार्याऽवहा सदा सैव ।
सम्पुष्टे हि शरीरे, लोकद्वय - साधन भवति ॥४९॥

यानि च ते मित्राणि, येऽन्ये पूज्या सदा महात्मान ।
तेभ्य क्रमेण वाच्या, परिष्वङ्गा मे प्रणामाश्च ॥५०॥

अहह ! विरहो माता - पित्रोर्न खेदितवान् यथा
तव तु विरह - ज्वालाजालैरह गमित सखे ! ।
सपदि मरणाऽवस्थां देहेऽसुभि- परिखिद्यते
विरहिणि कृपा कृत्वा देय त्वया मयि दर्शनम् ॥५१॥

देखो, भैयाजी ! तुम मुझको बिना पूछे ही जब श्रीवृन्दावन से दूर चले गये थे तब चिन्ता से व्याकुल हुआ मेरा चित्त, ससार को ही सूना समझने लग गया था । हम तो तुम्हारे दासो के भी दास हैं, तुम्हारे वियोग मे, कृश-शरीरवाले एव निर्बल हो चुके हैं, अत- क्षमा करने योग्य हैं । हे भैयाजी ! हम आपकी आज्ञा का उल्लघन करने को समर्थ नही हैं । अत अपने अपराध की क्षमा के लिये तुम्हारे चरणकमल को नित्य ही प्रणाम करते हैं (इन दोनो श्लोको मे क्रमश 'आर्या' एव 'शिखरिणी—नामक छन्द हैं) ॥४७-४८॥

और देखो, भैयाजी ! आपको अपने स्वास्थ्य के विषय की चिन्ता अवश्य ही रखनी चाहिये, क्योकि, स्वास्थ्य को ठीक रखने की चिन्ता ही कार्य कारिणी मानी गयी है । उसमे कारण यह है कि, शरीर के पुष्ट होनेपर, दोनो लोको का साधन बन जाता है । और आपके जो मित्र हो, एव आपके सर्वदा पूजनीय जो दूसरे महात्मा जन हो, उन सबको मेरी ओर से, मेरा क्रमश आलिङ्गन एव प्रणाम कह देना (इन दोनो श्लोको मे 'आर्या' छन्द है) ॥४९-५०॥

हाय ! हाय !! इस जीवन मे, माता पिता के विरह ने भी मुझको, उस प्रकार से दु खित नही किया था किन्तु हे भैयाजी ! तुम्हारे विरह की ज्वालाओ ने तो मुझको शीघ्र ही मरणासन्न दशापर पहुँचा दिया है । मेरे शरीर मे मेरे प्राण भी महान् कष्ट पा रहे हैं । अत मुझ विरहीजनपर कृपा

श्रीलरामहरिदास !, वनमालिदासस्ते पदाब्जालि. ।
विरमति लेखादस्मात्, पत्रोत्तरमरं त्वया देयम् ॥५२॥

इति दलं स विलोक्य मयार्पितं, मदनमोहनदास - करार्पितम् ।
हरि - पदाब्ज - विलोकन-लालसो,हरिपदाङ्कित - काननमाययौ ॥५३॥

तमवलोक्य समागतमादरा-, दहमपि प्रणति खलु दण्डवत् ।
अकरवं च तदङ्घ्रि - सरोजयो:, स च करेण हि मामुदनीनमत् ॥५४॥

तदनु सर्वमुदन्तमसौ निज, मयि निवेद्य जगाद करिष्यते ।
अयि सखे ! वसतिर्विजने वने, हरिवनेऽपि मयाऽऽहरि - दर्शनात् ॥५५॥

तदनु तस्य विलोक्य कृशां तनुं, तनुरियं तव नो तपस' क्षमा ।
अत इहैव निवासपरो भव, सविनयामिति वाचमगादिषम् ॥५६॥

करके तुमको मेरे लिये शीघ्र ही दर्शन दे देना चाहिये । और देखो, हे श्रीयुक्तरामहरिदासजी ! यह 'वनमालिदास' तुम्हारे चरणकमलों का भ्रमर-स्वरूप है। अब इस पत्र के लिखने से विराम ले रहा है, अतः तुम भी, इसके पत्र का उत्तर शीघ्र ही दे देना (इन दोनों श्लोकों मे, क्रमशः 'हरिणी' एव 'आर्या'-नामक छन्द है) ॥५१-५२॥

मेरे पत्र को पाकर श्रीवृन्दावन में आना एव वहाँपर भी तप करना

इस प्रकार मेरे द्वारा भेजे हुए एवं श्रीमदनमोहनदासजी के हाथ से समर्पित, उस पत्र को देखकर वह हरिप्रेष्ठ, श्रीहरि के चरणकमलों के दर्शन की लालसा से युक्त होकर, श्रीहरि के चरण-चिह्नों से युक्त श्रीवृन्दावन में ही चला आया। (५३ वे श्लोक से ६३ वे श्लोक तक 'द्रुतविलम्बित' नामक छन्द हैं) ॥५३॥

उसको आया हुआ देखकर मैंने भी, उसके चरणकमलों मे सादर दण्डवत् प्रणाम किया। उसने भी मुझको, अपने हाथ से ऊपर की ओर उठा लिया उसके बाद, उसने अपने समस्त वृत्तान्त को मेरे प्रति निवेदन करके, मुझसे कहा कि, हे भैया ! वनमालिदास ! देख, मैं, तेरे पत्र को देखते ही चला आया हूँ, किन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन तक तो मैं, वृन्दावन में भी, निर्जन वन मे ही निवास करूँगा ॥५४-५५॥

उसके बाद, उनके अतिशय कृश (कमजोर) शरीर को देखकर, मैंने विनय पूर्वक यह बात कही कि, "हे भैयाजी ! देखो, यह तुम्हारा शरीर अब तप करने के योग्य नहीं है। अतः मेरे निकट ही निवास करने लग जाओ।" परन्तु निर्जन-स्थान मे ही प्रसन्न रहनेवाला इसका मन, मेरे

परममुष्य मनो न मनागपि, लगति मे सविधे विजनप्रियम् ।
अत उवास स दर्शनकाम्यया, वनविहार इति प्रथिते वने ।।५७।।
अतिकृशोऽपि तपोऽपि स तापयन्,तपति हा हरि - दर्शनकाम्यया ।
प्रतिदिन च परिक्रमण मुदा, हरिवनस्य करोति निशीक्षया ।।५८।।
अहममुष्य तदा प्रतिवासरं, अकरव च यथाविधि सेवनन् ।
इति तपस्यत एव गतेऽखिले, शरदि मासि च कार्तिकनामके ।।५९।।
हरिरमुष्य च लोचनमार्गगः, सुसुखयन्निव चान्तरधादरम् ।
तदनु सोऽपि हरेर्विरहाऽऽकुलः, शममगाद् गुरुवाक्यमनुस्मरन् ।।६०।।
अहह ! कोऽपि जनो न हरेर्गुरो, प्रभवतीह विलोपयितु तृषम् ।
अत इत परमाशु गुरोर्मया, वचनमाहरि - प्राप्ति करिष्यते ।।६१।।
इति विचार्य ममाऽन्तिकमागत, स्वकमुदन्तमसौ विनिवेद्य च ।
अकथयद् हरिभक्तिरये ! सखे !, भुवि मयाऽमरणावधि दास्यते ।।६२।।

निकट, नेक भी नही लगता था । इसलिये वह हरिप्रेष्ठ, श्रीहरि के दर्शन की अभिलाषा मे 'वनविहार'—नाम से प्रसिद्ध वन मे ही निवास करने लग गया ।।५६-५७।।

वहापर भी वह, अतिशय कृश होकर भी, तप को भी सतप्त करता हुआ, अहह ! श्रीहरि के दर्शन की कामना से फिर भी तप करने लग गया । और दर्शन की इच्छा से वह, रात्रि मे ही प्रतिदिन हर्षपूर्वक, श्रीवृन्दावन की परिक्रमा कर लेता था । उस समय मैं, प्रतिदिन, इनकी विधिपूर्वक सेवा करता रहा । इस प्रकार तपस्या करते-करते ही सम्पूर्ण शरद ऋतु के बीत जानेपर एव कार्तिक मास के भी समाप्त हो जाने के बाद, श्रीकृष्णचन्द्र, इस हरिप्रेष्ठ के नेत्र गोचर होकर, मानो भलीप्रकार सुख देते हुए शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये । उसके बाद, वह हरिप्रेष्ठ भी, श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल होकर भी, श्रीगुरुदेव के वाक्य को याद करके शान्त हो गया ।।५८-६०।।

और अपने मन मे "अहो हो ! इस ससार मे, श्रीहरि की एव श्रीगुरुदेव की अभिलाषा को, कोई भी जन लुप्त नही कर सकता है । इसलिये, इससे आगे, मै भी, श्रीकृष्ण की प्राप्ति पर्यन्त, अपने श्रीगुरुदेव के वचन का पालन शीघ्र ही करूँगा ।" इस प्रकार का विचार करके वह हरिप्रेष्ठ, मेरे निकट, 'शाहजहांपुरवाले' बगीचे मे ही चला आया । पश्चात् अपने वृतान्त को निवेदन करके, उसने मेरे प्रति कहा कि, "हे भैया ! देखो,

इति गदन्तमम् समगादिषं, तव मनोरथ आश्वनुमोद्यते।
तदनु तद्वपुष परिपुष्टये, विविध - सेवनमाचरितं मया ॥६३॥

गुरोराज्ञया पुनरपि भक्ति प्रचारः

पश्चात् स्वस्थतनु स सख्य - विपुलां भक्ति हरेर्भूतले
लोके ग्रामटिका - गतेऽपि नितरां बभ्राम विस्तारयन्।
शिष्यास्तर्हि बभूवुरस्य बहव सख्य - प्ररोहा इव
यान् दृष्ट्वा मुदमापतां हरि- गुरू लोकान्तरेऽपि स्थितौ ॥६४॥

ज्वराक्रान्तेन मया तन्निकटे पत्र प्रेषणम्

अथ कदाचिदहं प्रकृतेर्वशा-, ज्ज्वर - गदेन भृशं विकलोऽभवम्।
मम समीपमसावपि नो तदा-, भवदतो दलमेकमलीलिखम् ॥६५॥

श्रीरामहरिदासानां पादपद्मेषु कोटिशः।
प्रणामाः सन्तु रुग्णस्य दासस्य वनमालिनः ॥६६॥

अब तो मैं, मरण पर्यन्त, भूतलपर श्रीहरि की भक्ति का ही दान करता रहूँगा।" इस प्रकार कहते हुए हरिश्रेष्ठ के प्रति मैंने भी कहा कि, हे भैयाजी! तुम्हारे मनोरथ का मैं भी शीघ्र ही अनुमोदन करता हूँ। उसके बाद तो, उनके शरीर की विशेष पुष्टि के लिये, मैंने भी, अनेक प्रकार की सेवा का आचरण किया ॥६१-६३॥

श्रीगुरुदेव की आज्ञा से फिर भी भक्ति का प्रचार

उसके बाद तो वह हरिश्रेष्ठ, स्वस्थ-शरीरवाला होकर, विशेष करके सख्य-भाव की प्रधानता से युक्त श्रीहरि की भक्ति को इस भूमिपर, छोटे-छोटे ग्रामों मे रहनेवाले ग्रामीण लोगो मे भी विस्तारित करता हुआ विशेष रूप से भ्रमण करने लग गया। उस समय इनके बहुत से शिष्य हो गये। वे शिष्य, मानो, सख्य-भाव के अंकुरो के समान प्रतीत होने लगे। जिनको देखकर, दूसरे लोक मे स्थित हुए, श्रीहरि एवं श्रीगुरुदेव, दोनों ही महान् प्रसन्न हो गये (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥६४॥

ज्वराक्रान्त होकर मेरे द्वारा उनके निकट पत्र भेजना

कुछ दिन के बाद, प्रकृति के वशीभूत होकर मैं, किसी समय ज्वर के रोग से भारी विकल हो गया। उस समय वह हरिश्रेष्ठ भी मेरे निकट नहीं था। अतः मैंने विकल अवस्था मे भी उसके निकट एक पत्र लिख दिया (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥६५॥

वह पत्र इस प्रकार था—बड़े भैया! श्रीरामहरिदासजी के चरण-कमलो मे, रोगी-वनमालिदास का कोटिशः प्रणाम स्वीकार हो। आगे

सर्वेभ्यः शिष्य - वृन्देभ्यो वाच्या मम शुभाशिषः ।
तथा च गुरुभ्रातृभ्यो हरे कृष्णेति गद्यताम् ॥६७॥
यस्मिन् दिने भवान् यातः श्रीलवृन्दावनात् सखे ! ।
ततोऽन्यदिवसेऽहं वै ज्वरग्रस्तोऽभवं द्रुतम् ॥६८॥
यावत् प्रभृति मे शक्ति सेवायामभवद् हरे. ।
तावन्मया कृता सेवा नेदानीं कर्तुमुत्सहे ॥६९॥
यदीच्छसि सखे ! कर्तुं सेवां श्रीराम - कृष्णयोः ।
तर्हि शीघ्रमिहाऽऽगत्य मम दुःख निवारय ॥७०॥
इति पत्र विलोक्यैव पत्रमेकमलीलिखत् ।
स दयालुर्हरिप्रेष्ठ शीघ्रं स्वागमन लिखन् ॥७१॥

तद्द्वारा मत्पत्रोत्तरदान शीघ्रमागमन च

आशीः पूर्वकमस्ति मे तव पुरो विज्ञापन हे सखे !
सानन्द निवसामि ते कुशलतामिच्छामि कृष्णात् सदा ।
पत्र प्राप्तमतीवभाव - विमल ते श्रीलवृन्दावनाद्
मां शीघ्रं स्वसमीपमागतमिव त्वं विद्धि भो ! मा खिद ॥७२॥

निवेदन यह है कि, सभी शिष्य-वृन्दो के लिये मेरा शुभाशीर्वाद कह देना, तथा हमारे अन्य गुरु-भाइयो को 'हरेकृष्ण' कह देना । और देखो, भैयाजी ! आप जिस दिन, श्रीवृन्दावन से, प्रचारार्थ बाहर चले गये थे, उससे दूसरे दिन ही, मैं तो शीघ्र ही ज्वरग्रस्त हो गया । श्रीहरि की सेवा मे, जब तक मेरी शक्ति रही, तब तक मैंने उनकी सेवा की, किन्तु अब तो मैं श्रीठाकुरजी की सेवा नही कर सकता हूँ । अत हे भैयाजी ! यदि तुम अपने इष्ट-श्रीकृष्ण बलदेव की सेवा करना चाहते हो तो, यहाँपर शीघ्र ही आकर, मेरे दुःख का निवारण कर दो । मेरे इस प्रकार के पत्र को देखते ही, उस हरिप्रेष्ठ ने, अपने शीघ्र ही आने को लिखते हुए, मेरे लिये एक पत्र लिख दिया । (६६ से ७१ तक 'अनुष्टुप' छन्द हैं) ॥६६-७१॥

उसके द्वारा मेरे पत्र का उत्तर देना एवं शीघ्र ही आना

वह पत्र इस प्रकार लिखा था—स्वस्ति श्रीप्रियवर ! भैया ! वनमालिदास ! देखो, शुभाशीर्वाद पूर्वक तुम्हारे सामने मेरा यही विज्ञापन है कि, मैं, यहापर आनन्दपूर्वक निवास कर रहा हूँ और श्रीकृष्णचन्द्र से तुम्हारी भी सदैव कुशलता चाहता रहता हूँ और श्रीयुक्त वृन्दावन से भेजा हुआ, तुम्हारा भाव भरा निर्मल पत्र भी मुझे प्राप्त हुआ । अब तो भैया !

ततः शीघ्रं हरिप्रेष्ठे वृन्दावनमुपागते ।
एकादश्यामहं रात्रौ स्वप्नमेतमलोकयम् ॥७३॥

शमपि मम भो ! शीघ्रं भ्रातर्भविष्यति नो मृषा
हरिरपि यतो रात्रौ दृष्टो मया त्वति - प्रेमतः ।
वसतिरपि मे देहे नैव ज्वराय हि रोचते
हरि - पद - युगे दृष्टे रोगा वसन्ति न विग्रहे ॥७४॥

तद्द्वारा मत्कृते सदुपदेश

अथ कदाचिदसौ विमलाशयो,विमलकीर्तिरशेष - गुणालयः ।
मम पुरः परमार्थ - परायणां, रहसि वाचमुवाच मनोहराम् ॥७५॥

विषयिभिर्विषयः परिपीयते, हरिजनैर्हरि - नाम निपीयते ।
स्व - नयनैः सुमहः परिपीयते, श्रुतिपुटैः कविता परिपीयते ॥७६॥

तू मुझको, शीघ्र ही अपने निकट आया हुआ ही समझ ले । अतः अपने मन मे किसी बात का खेद मत कर (इस श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥७२।

उसके बाद, हरिप्रेष्ठ भया जब शीघ्र ही वृन्दावन मे आ गया तब, उसी दिन एकादशी की रात्रि मे मैंने, यह स्वप्न देखा और जागते ही उसको सुनाते हुए मैंने कहा कि, "हे भैयाजी ! देखो, अब मेरा कल्याण भी शीघ्र ही हो जायेगा, इस बात मे किंचित् भी मिथ्या नही है । क्योंकि, आज की रात मे मैंने, श्रीकृष्ण को बडे प्रेम से देखा है, अब मेरे शरीर मे यह ज्वर भी नहीं रहना चाहता है । क्योकि, श्रीकृष्णके दोनो चरणो के दर्शनके बाद, शरीर मे कोई भी रोग निवास नही करते हैं । (इन दोनो श्लोकों मे क्रमशः 'अनुष्टुप्' एवं 'हरिणी'–नामक छन्द है) ॥७३-७४॥

हरिप्रेष्ठ के द्वारा मेरे लिये सदुपदेश

तदनन्तर कुछ दिन बाद, किसी समय, विमल अन्तःकरण वाला, *निर्मलकीर्तिवाला एवं समस्त गुणों का स्थानस्वरूप वह हरिप्रेष्ठ, एकान्त में* बैठे हुए मेरे सामने बैठकर, मुझको समझाता हुआ, परमार्थ से युक्त मनोहर वाणी बोला कि, देख भैया ! इस असार ससार में, विषयी लोग तो विषयों का ही पान करते हैं । किन्तु श्रीहरि के भक्तगन तो, श्रीहरि के नामामृत का पान करते है, एवं अपने नेत्रों के द्वारा श्रीहरि के सुन्दर तेज का अथवा उनके दिव्य-मङ्गल-मय महोत्सव का पान करते हैं तथा अपने कर्ण-पुटों के द्वारा भगवत्सम्बन्धी सुमधुर कविता का भली प्रकार पान करते हैं (इन दोनों श्लोकों मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ७५-७६॥

मधुराकृति विश्व - मोहनं, मुखमानीलरुगाविकस्वरम् ।
हरि - भक्ति - परायणैर्हरे-, र्नयनाह्वैश्चषकैर्निपीयते ॥७७॥

भुवने खलु ये स्थिता जना, नयनाऽन्तः करणैकवृत्तय ।
कविता - रस - भाव - कोविदा, अपि तैरेव रसो निपीयते ॥७८॥

ते मज्जन्ति न वै भवार्णव - जले दुर्धर्ष - कामाऽहिके
काम - क्रोध - कुमीन - दुष्ट - मकरे मोहाख्य - कूर्मैर्युते ।
ईर्ष्या - वाडवके मदोर्मि - ललिते तृष्णा - महाशैवले
यैस्त्यक्त्वाऽन्य - सहायता भगवतो नामामृतं पीयते ॥७९॥

और देखो, भैया ! जो व्यक्ति श्रीहरि के परायण है वे सब, अपने 'नेत्र'-नामक पानपात्रो के द्वारा, श्रीहरि के उस मुखारविन्द के रस का पान करते है कि, जो परम-मधुर आकृति से युक्त है, विश्वभरको विमुग्ध कर देनेवाला है, एव इन्द्रनीलमणि के दर्पण के दर्प को चूर्ण करने वाला है तथा भक्तो के लिये सदैव चारो ओर से खिला ही रहता है । और देख, भैया ! इस ससार मे जो भी जन स्थित है, उन सब मे से, भगवत्सम्बन्धी भावमयी सरस कविता के रस का पान तो वे ही जन कर पाते हैं कि, जिनके नेत्रो की एव कानो की वृत्ति, एक हो गयी है, एव जो कविता के रस के तथा भाव के ज्ञाता हैं (इन दोनो श्लोको मे **'वियोगिनी'** छन्द है) ॥७७-७८॥

और देख भैया ! जो व्यक्ति, अन्य देवी-देवताओ की सहायता को छोडकर, केवल भगवन्नामामृत का ही पान करते रहते है वे व्यक्ति, इस ससार-रूप सागर के जल मे अथवा वैभव-रूपी समुद्र के जल मे कभी भी नही डूबते हैं । क्योकि, यह ससार रूप सागर का जल अथवा वैभव रूपी समुद्र का जल, दुर्धर्ष कामना-रूपी सर्प से युक्त है, एव कामरूपी कुत्सित (बुरे) मीन (मछली) से युक्त है तथा क्रोध-रूपी दुष्ट-मगर से युक्त है, एव मोहरूपी कछुआओ से युक्त है, और ईर्षा रूपी वडवानल से युक्त है तथा अहकाररूपी तरङ्गो से यह सुन्दर मालूम पडता है, एव इसके ऊपर तृष्णा रूपी भारी काई छाई रहती है (इस श्लोक मे 'श्लेष'-अलकार से अनुप्राणित साङ्गोपाङ्ग रूपक अलकार है एव 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥७९॥

बाल्ये बाल - विलास हास - मतिना मातु पय पीयते
　　तारुण्ये तरुणी - विलास - मतिना कान्ताऽधर पीयते ।
वार्द्धवये बहु - चिन्तयाऽल्प - मतिना चिन्तारस पीयते
　　नो केनाऽप्यमुकुन्द - लीन - मतिना नामामृत पीयते ॥८०॥

य ससारे निगडित - मति　काम - लीला - विलीन
　　पापाऽऽसङ्गाद् विचलित - मतिर्भक्ति - भावैर्विहीन ।
स्त्रीणामोतुर्विरस - हृदयो　राधिका - माधवस्य
　　ज्ञातु शक्नोत्यपि स किमु भो ! नित्यलीलाऽनुभावम् ॥८१॥

राधा - कृष्णाऽऽचरितममल सन्मुखाद् य शृणोति
　　तन्नामानि प्रणिगदति वा तत्पदाम्भोरुहाऽलि ।
वृन्दारण्ये वसति नितरां प्रेम - पुञ्जालि कुञ्जे
　　ज्ञातु शक्नोत्यपि स मनुजो नित्यलीलाऽनुभावम् ॥८२॥

और देख, भैया ! इस ससार मे पडे हुए जीव की कैसी विचित्र दशा है कि, बाल्यावस्था मे तो यह जीव बालकपन के खेल-खिलवाड एव व्यर्थ के हास परिहास मे बुद्धि लगाकर, अपनी माता का दुग्ध ही पीता रहता है, एव युवावस्था में, अपनी युवती के विलासो मे बुद्धि लगाकर अपनी कान्ता के अधर का ही पान करता रहता है, और वृद्धावस्था मे तो, अनेक प्रकार की चिन्ता के कारण अल्प बुद्धिवाला होकर, चिन्ता के रस का ही पान करता रहता है, किन्तु-ससार से विमुक्त करनेवाले मकुन्द-भगवान् मे बुद्धि को तल्लीन न करने के कारण कोई भी जीव, श्रीहरि के नामामृत को नही पीता है तात्पर्य-देव-दुर्लभ मानव-शरीर को पाकर श्रीहरि के नामामृत का पान करनेवाले जीव का जीवन ही सार्थक है (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥८०॥

और देख भैया ! जिसकी बुद्धि, ससार मे ही निबद्ध हो रही है एव जो काम-क्रीडा मे ही तल्लीन रहता है, एव पापो के सङ्ग से, या पापियो मे आसक्ति होने से, जिसकी बुद्धि विचलित हो रही है, अतएव जो भक्ति के भावो से सर्वथा विहीन है, एव स्त्रियों का ओतु (बिलाव) बना रहता है अर्थात् स्त्रियो के सामने जो म्याऊँ म्याऊँ करता रहता है, अतएव जो विरस हृदय—वाला है अर्थात् भक्ति के रस से शून्य हृदयवाला है। इस प्रकार का वह व्यक्ति, श्रीराधिका-माधव के, नित्य-लीला के प्रभाव को कभी जान सकता है क्या ? अर्थात् कदापि नही (इस श्लोक मे 'मन्दाक्रान्ता छन्द है) ॥८१॥

लता नन्दग्रामेऽङ्कुर - विरहिताऽप्यङ्कुरवती
कृता येनैवाऽल्पैरहह ! दिवसैः सेक - विधिना ।
महासर्पो यस्य प्रथित - भजन - स्थानमजहाद्
नममास्त नित्य भवजलनिधे पारगतये ॥८६॥

श्रीमद्भागवतादि-ग्रन्थ-वदनः श्रीकृष्ण-संकीर्तनो
विद्वद्वर्य - सुधामय - प्रवचन श्रीरासलीलाऽम्बर ।
नाना-गान-तरङ्ग-रङ्ग-ललित सद्वृन्द-वृन्दारक
स्वाचार्यस्य महोत्सवो धृततनुः प्रत्यब्दमातन्यते ॥८७॥

काव्यकर्ता के द्वारा की गई श्रीहरिप्रेष्ठ की स्तुति

हम, ससार-सागर से पार जाने के लिये, उस हरिप्रेष्ठ को नित्य ही नमस्कार करते है कि, इस ससार मे जिसकी भजन-भाव मे उच्चकोटि की प्रसिद्धि है, एव जिसका चित्त श्रीगुरुदेव के चरणो मे ही निरत रहता है, एव जो भक्ति तथा वैराग्य की सीमा-स्वरूप है, तथा जो, व्रजराज-कुमार श्रीकृष्ण-बलदेव की नित्य-लीला के अनुभाव को सदैव अनुभव करता रहता है। और जिसने, श्रीनन्दग्राम मे भजन करते समय, अकुरो से रहित हुई एक लता भी थोडे से ही दिनो मे सीच-सीचकर अकुरो से युक्त कर दी, तथा जिसके प्रसिद्ध भजन के स्थान को, महासर्प ने भी छोड दिया था (इन दोनो श्लोको मे, क्रमश 'मालिनी' एव 'शिखरिणी' छन्द है) ॥८५-८६॥

हम, उस हरिप्रेष्ट का नित्य ही नमस्कार करते है कि, जो, हमारे हाथ ही सम्मिलित होकर, अपने श्रीगुरुदेव का स्मृति-महोत्सव, प्रतिवर्ष, मानो मूर्तिमान् रूप से ही निस्तारित करते रहते हैं। उस महोत्सव की मूर्तिमत्ता का रूपक इस प्रकार है—'श्रीमद्भागवत'-आदि सद्-ग्रन्थो का पारायण ही, उस महोत्सव का मुखारविन्द है, एव श्रीकृष्ण के नामो का सकीर्तन ही, मानो उसका उच्च-स्वर से बोलना है, एव श्रेष्ठातिश्रेष्ट-रसिक विद्वानो के अमृतमय भाषण ही मानो उसका सुमधुर भाषण है, एव श्रीरास-लीला ही मानो उस महोत्सव का चित्र-विचित्र वस्त्र है तथा, वह महोत्सव, अनेक प्रकार के गायनाचार्यो के, अनेक प्रकार के गीतो की तरङ्गो के रङ्ग से परम-मनोहर है, और उस वार्षिक महोत्सव मे पधारने वाले साधु-सन्तो के समूह ही मानो, उस महोत्सव के देववृन्द हैं। [इस काव्य मे सर्वत्र वर्तमान-काल के जो प्रयोग हैं, वे इस बात को समझा रहे

इति निगद्य गिर भव - नाशिनीं, स विरराम रमापति सश्रय ।
इति सदा परिबोधयति स्म मा-,मखिल-शास्त्र-रहस्य-युतोक्तिभि ।८३।

हरिप्रेष्ठ प्रति स्वप्ने गुरोरादेश

कदाचित् स्वप्ने त प्रति निगदित श्रीगुरुवरै-
स्त्वया नो कर्तव्य कमपि प्रति वैर हृदयत ।
नहि स्थाप्य चित्तेऽङ्कुरमपि च वाञ्छा विटपिनो
यतोऽस्मिन्नेव त्व जनुषि सविध यास्यसि हरे ॥८४॥

काव्य-कृता कृता श्रीहरिप्रेष्ठ स्तुति

जगति भजन - भावे यस्य विख्यातिरुच्चै-
र्गुरु - पद - रत - चेता भक्ति - वैराग्य - सीमा ।
अनुभवति सदा श्रीराम - कृष्णाख्ययोर्यो
व्रजपति - सुतयोर्वै नित्यलीलाऽनुभावम् ॥८५॥

हा जो व्यक्ति, श्रीराधा कृष्ण के निर्मल चरित्र को, सिद्धान्ततत्त्व-वेत्ता सज्जनो के मुख से सुनता रहता है, एव जो उनके नामो का कीर्तन करता रहता है, एव जो श्रीराधा-कृष्ण के मङ्गलमय श्रीचरणारविन्दो का ही भ्रमर बना रहता है, तथा प्रेम के पुञ्ज से परिपूर्ण सखियो से युक्त, या प्रेमी भक्तो से युक्त निकुञ्जो वाले श्रीवृन्दावन धाम मे, ही सद्वासना-पूर्वक विशेष निवास करता है, वही व्यक्ति,उनकी नित्यलीला के प्रभाव को, भली प्रकार समझ सकता है (इस श्लोक मे भी 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है)॥८२॥

इस प्रकार सासारिक-भावनाओ को विनष्ट करनेवाली वाणी को बालकर, श्रीकृष्ण का आश्रय लेनेवाला वह हरिप्रेष्ठ, चुप हो गया । इस प्रकार वह, मुझको, वैष्णव शास्त्रो की रहस्य मयी वाणियो के द्वारा, सदैव समझाता रहता था (इस श्लोक मे 'द्रुतविलम्बित' छन्द है) ॥८३॥

हरिप्रेष्ठ के प्रति स्वप्न मे भी श्रीगुरुदेव का आदेश

किसी दिन स्वप्न मे, हरिप्रेष्ठ के प्रति, श्रीगुरुदेव ने यह वचन कहा कि, देख भैया ! हरिप्रेष्ठ ! तू अपने हृदय से किसी भी व्यक्ति के प्रति वैर नही करना, एव अपने चित्त मे, इच्छा-रूपी वृक्ष का अकुर भी नही जमने देना । क्योकि तू, इसी जन्म मे श्रीहरि के निकट जायेगा । अतएव अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा है कि—(निर्वैर सर्व भूतेषु स' स मामेति पाण्डव ' गी ११।५५) हे भैया अर्जुन ' जो व्यक्ति सभी प्राणियो मे वैर भाव से रहित होकर व्यवहार करता है, वही व्यक्ति मुझको प्राप्त करता है । (इस श्लोक मे 'शिखरिणी' छन्द है)॥८४॥

लता नन्दग्रामेऽङ्कुर - विरहिताऽप्यङ्कुरवती
　　कृता येनैवाऽल्पैरहह ! दिवसैं सेक - विधिना ।
महासर्पो यस्य प्रथित - भजन - स्थानमजहाद्
　　नममास्त नित्य भवजलनिधे पारगतये ॥८६॥

श्रीमद्भागवतादि-ग्रन्थ-वदन- श्रीकृष्ण-संकीर्तनो
　　विद्वद्वर्य - सुधामय - प्रवचन श्रीरासलीलाऽम्बर ।
नाना गान-तरङ्ग-रङ्ग-ललित सद्वृन्द-वृन्दारक
　　स्वाचार्यस्य महोत्सवो धृततनु प्रत्यब्दमातन्यते ॥८७॥

काव्यकर्त्ता के द्वारा की गई श्रीहरिप्रेष्ठ की स्तुति

हम, ससार-सागर से पार जाने के लिये, उस हरिप्रेष्ठ को नित्य ही नमस्कार करते हैं कि, इस ससार मे जिसकी भजन-भाव मे उच्चकोटि की प्रसिद्धि है, एव जिसका चित्त श्रीगुरुदेव के चरणों मे ही निरत रहता है, एव जो भक्ति तथा वैराग्य की सीमा-स्वरूप है तथा जो, व्रजराज-कुमार श्रीकृष्ण-बलदेव की नित्य-लीला के अनुभाव को सदैव अनुभव करता रहता है। और जिसने, श्रीनन्दग्राम मे भजन करते समय, अकुरो से रहित हुई एक लता भी थोडे से ही दिनो मे सीच-सीचकर अकुरो से युक्त कर दी, तथा जिसने प्रसिद्ध भजन के स्थान को, महासर्प ने भी छोड दिया था (इन दोनो श्लोको मे, क्रमश 'मालिनी' एव 'शिखरिणी' छन्द है) ॥८५-८६॥

हम, उस हरिप्रेष्ट का नित्य ही नमस्कार करते है कि, जो, हमारे हाथ हो सम्मिलित होकर, अपने श्रीगुरुदेव का स्मृति-महोत्सव, प्रतिवर्ष, मानो मूर्तिमान् रूप मे ही निस्तारित करते रहते हैं। उस महोत्सव की मूर्तिमत्ता या रूपक इस प्रकार है—'श्रीमद्भागवत'-आदि सद्-ग्रन्थो का पारायण ही, उस महोत्सव का मुखारविन्द है, एव श्रीकृष्ण के नामों का सकीर्तन ही, मानो उसका उच्च-स्वर से बोलना है, एव श्रेष्ठातिश्रेष्ठ-रसिक विद्वानो के अमृतमय भाषण ही मानो उसका सुमधुर भाषण है, एव श्रीरास-लीला ही मानो उस महोत्सव का चित्र-विचित्र वस्त्र है तथा, यह महोत्सव, अनेक प्रकार के गायनाचार्यों के, अनेक प्रकार के गीतो की तरङ्गो के रङ्ग से परम-मनोहर है, और उस वार्षिक महोत्सव मे पधारने वाले साधु सन्तो के समूह ही मानो, उस महोत्सव के देववृन्द हैं। [इस काव्य मे सर्वत्र वर्तमान-काल के जो प्रयोग है, वे इस बात को समझा रहे

श्रीराम-कृष्णचरणद्वय-पुण्डरीक-, ध्यानाऽनुरक्त-हृदय. स्पृहणीय-शील: ।
यो मानदः स्वयमहो बहुमान-हीन-,स्तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि॥८८॥

यो नास्तिकानपि च सास्तिकतां निनाय,यस्तर्क-रीतिभिरनं विमुखांश्चनाय ।
यो माध्व-मार्गमवलम्ब्य हरिं विवाय,तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि॥८६॥

यः सर्व-तीर्थ-परिशीलन-जागरूको, भक्ति-प्रचारण-कला-कुशलस्तथाऽस्ते ।
वैराग्य-राग-रसिको महनीयकीर्ति-,स्तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि॥६०॥

गूढ गुणैर्निखिल-दर्शन-लब्ध-पार,लेभे गुरुं च भुवि सख्यरसाऽवतारम् ।
तेने च सख्यमपि यश्च गुरोर्निदेशात्,तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि ॥६१॥

भूमे सहिष्णुरपि सागरतो गभीर-,स्तातात् हितः सुतहितोऽपि च मातृकोटेः ।
धीरो महीधर इवाऽमरवृक्षतुल्य-, स्तं श्रीलरामहरिदासवरं नतोऽस्मि ॥६२॥

हैं कि, यह महाकाव्य, श्रीहरिप्रेष्ठ जी की उपस्थिति में ही लिखा गया है। इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है] ॥८७॥

अब मैं, सन्तवर्य उन श्रीरामहरिदासजी (श्रीहरिप्रेष्ठ जी) को नमस्कार करता हूँ कि जिनका मन, अपने सखा श्रीकृष्ण-बलदेव के दोनों चरणारविन्दो के ध्यान मे ही अनुरक्त रहता है, एवं जिनका शील-स्वभाव स्पृहणीय (वाञ्छनीय) है; एवं जो सभी जनों को मान देनेवाले हैं तथा स्वयं, विशेष मान से रहित हैं। और जिन्होंने कितने ही नास्तिकजनों को आस्तिक बना दिया; एवं जिन्होने, कितने ही विमुख व्यक्तियों को, तर्क-शास्त्र की रीतियों के द्वारा पराजित कर दिया, तथा जो, श्रीमन्मध्वाचार्य के मार्ग का अनुसरण करके श्रीहरि को प्राप्त हो गये (८८वें श्लोक से ६२वें श्लोक तक 'वसन्ततिलका' छन्द हैं) ॥८८-८६॥

और जो, सभी तीर्थों के परिशीलन मे सदैव सावधान रहते हैं, और जो, श्रीहरि की भक्ति के प्रचार करने की कला मे अतिशय कुशल हैं; तथा वैराग्य-रङ्ग के रसिक हैं, एवं जिनकी कीर्ति प्रशसनीय है, मैं, उन्ही श्रीराम-हरिदासजी को नमस्कार करता हूँ। और जिन्होने, शिवजी की कृपा से ऐसे लोकोत्तर गुरुदेव को, प्राप्त कर लिया कि, जो गुरुदेव, समस्त सद्गुणों से परिपूर्ण थे, सभी शास्त्रों के पारंगत थे, इस भूतलपर मूर्तिमान् सख्यरस के अवतार ही थे। अतएव मैं, उन्ही श्रीरामहरिदासजी को नमस्कार करता हूँ कि, जिन्होने, अपने श्रीगुरुदेव की आज्ञा से, सख्य-भाव का विस्तार कर दिया। एवं जो, भूमि से भी अधिक सहनशील है, सागर से भी गम्भीर है, पिता से भी अधिक हितैषी हैं, एवं अपने शिष्यो के लिये, करोड़ों माताओं

अतिशुभमुपदेशामृबिन्दुं, रामकृष्ण - लीलामृतविन्दुम् ।
यः साधक - प्रश्नोत्तरमालां, रचयति स्म बहु - भावविशालाम् ॥९३॥
श्रीमन्मध्वाचार्य - चरित्र, लेखन - शैलीतोऽतिविचित्रम् ।
व्रजभाषयामपि यः पद्यान्, शतशो निर्मितवाननवद्यान् ॥९४॥
श्रीमन्मध्वाचार्य - स्थान, यो निर्माय प्रादात् तेभ्यः ।
श्रीमन्मध्व - प्रीते पात्र, त वन्दे श्रीकृष्ण - प्रेष्ठम् ॥९५॥
जयति जयति लोके श्रीहरिप्रेष्ठ - वर्यो
भगवति कृतचेताः पूजिताऽऽचार्य - वर्यं ।
शरणमुपगतानां रक्षिता योऽपि वर्यो
नमति तमतिप्रेम्णा कोऽपि तद्दास - वर्यं ॥९६॥

से भी अधिक वात्सल्य करनेवाले है, पर्वत से भी धीर है, सभी जनोके लिये भक्तिदान करने के विषय मे कल्पवृक्ष के समान है ॥९०-९२॥

मैं, उन्ही श्रीरामहरिदासजी को नमस्कार करता हूँ कि, जिन्होने, सर्वप्रथम 'उपदेशामृत' की रचना की, पश्चात् 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत-बिन्दु' की तथा अनेक प्रकार के भावो से विशाल, 'साधक-प्रश्नोत्तर-माला' की रचना की। एव उसके बाद, लिखने की शैली से अतिशय विचित्र 'श्रीमन्मध्वाचार्य-चरित्र' की रचना की। और व्रजभाषा मे तो जिन्होने परम विशुद्ध सैकडो ही पदो की रचना की है। (इन दोनो श्लोकों में 'पज्झटिका'-नामक छन्द हैं) ॥९३-९४॥

और जिन्होने, श्रीवृन्दावन की परिक्रमा के मार्ग मे, अतिशय विशाल "श्रीमध्वाचार्य-आश्रम" का निर्माण करके, वह स्थान, अपने सम्प्रदायाचार्य को ही सादर समर्पित कर दिया। अर्थात् आजकल श्रीमन्मध्वाचार्यजी की गद्दी पर विराजमान, एव उन्ही के मत के प्रचारको मे सर्वश्रेष्ठ, अनन्त-श्रीविभूषित स्वामिश्रीविद्यामान्यतीर्थजी महाराज के करकमलो मे सकल्प-पूर्वक रजिष्ट्री करवाकर के सादर समर्पित कर दिया। अतएव श्रीमन्मध्वा-चार्यजी महाराज की प्रीति के पात्र-स्वरूप उन श्रीहरिप्रेष्ठ की मैं, वारम्बार वन्दना करता हूँ (इस श्लोक मे, 'विद्युन्माला'-नामक छन्द है) ॥९५॥

श्रीहरि के प्रियजनो मे, श्रेष्ठ, उन श्रीहरिप्रेष्ठजी की, ससार मे सदैव जय-जयकार हो कि, जो अपने चित्त को, स्वय भगवान् श्रीकृष्ण मे ही लगाते रहते थे, एव अपने सद्गुरुदेव तथा निज-सम्प्रदायाचार्यवर्य

दुर्वाससा त्वधिगतो महिमाऽम्बरीष ,सङ्गात् सतामिति न वेत्ति बुधस्तु को वा ।
कृष्णोऽप्यनुव्रजति पादरजोऽभिलाषी,कांस्कान् गदामि हि गुणांस्तु सतामनन्ता ।।
दानेन दातुरपि नैव यथेह जीयाद्, गानेन गातुरपि वक्तुरपि प्रयोक्तुः ।
शास्त्रार्थकर्तुरपि बोद्धुरपि प्रयोद्धु ,कीर्तिर्यथा विजयतेऽपि सतामनन्ता।।९८।।

श्रीमन्मध्वाचार्य की पूजा करते रहते थे, तथा जो अपनी शरण मे आनेवाले जीवो के श्रेष्ठ रक्षक भी थे । अतएव उनको सभी सेवको मे से अतिशय श्रष्ठ कोई सेवक, उनका अतिशय प्रेम से प्रणाम करता है (इस श्लोक मे 'मालिनी'-नामक छन्द है) ।।९६।।

और देखो, "दुर्वासा-ऋषि ने तो, श्रीअम्बरीषजी के सङ्ग से सन्तो की महिमा, भलीप्रकार जान ली ' इस बात को कौन सा बुद्धिमान् विद्वान् नही जानता ? । क्योकि निरपेक्ष, निर्वैर, निरभिमान सन्तो की चरणरज की अभिलाषावाले श्रीकृष्ण भी, उस प्रकार के सन्तो के पीछे-पीछे ही घूमते रहते है । इस विषय मे उनके श्रीमुख का यह वचन ही प्रमाण है—

(भा० ११।१४।१६)

"निरपेक्ष मुनि शान्त निर्वैर समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यह नित्य पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ।।"

अर्थात् हे भैया ! उद्धव ! जिसको किसी की अपेक्षा नही है, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर केवल मेरे ही मनन चिन्तन मे तल्लीन रहता है, और राग-द्वेष छोडकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस प्रकार के महात्मा के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर ही घूमता रहता हूँ कि, उसके चरणो की धूल उडकर यदि मेरे ऊपर पड जाय तो उन चरण-धूलियो से मैं भी पवित्र हो जाऊँ । अत मैं (वनमालिदास) भी, इस प्रकार के सन्तो के कौन-कौन से गुणो का वर्णन करूँ । क्योकि, सन्तो के गुण तो अनन्त है ।।९७।।

और देखो, पाठको ! इस ससार मे, सन्तो की अनन्त कीर्ति, जिस प्रकार सदा विजय को अर्थात् उत्कर्ष का प्राप्त करती रहती है, उस प्रकार दाता की कीर्ति दान से, गायनाचार्य की कीर्ति गान से, विशिष्ट वक्ता की कीर्ति, भाषण से, किसी प्रकार के मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोग कर्ता की कीर्ति, उस प्रकार के प्रयोग से, एव शास्त्रार्थ-कर्ता की कीर्ति, शास्त्रार्थ मे विजय पाने से, तथा विज्ञानी की कीर्ति विज्ञान से और विशिष्ट योद्धा की कीर्ति, युद्ध मे विजयी होने से भी, उत्कर्ष को प्राप्त नही होती (९७, ९८ के श्लोको मे 'वसन्ततिलका' छन्द है) ।।९७ ९८।।

धन्यः सोऽयमतीव रामहरिदासाख्यो महात्माऽवनौ
येनाऽहं सुदुराशयोऽपि भगवत्सेवाऽधिकारी कृतः।
आकल्पं निगदंस्तदीय - महिमान पारमाप्स्यामि नो
कीर्ति हा! निगदानि केन विधिना जिह्वा-सहस्र विना॥६९॥

यस्य दया - लव - बलतो, बल - हरि-पदयोर्ममाऽनुरागोऽभूत्।
स कृतिमिमां मम दृष्ट्वा, तुष्ट प्रेष्ठो हरेर्भूयात् ॥१००॥

ग्रन्थ-वार्तुर्निवेदनम्

श्रीकृष्णानन्ददासाऽनुचर - विरचित श्रीहरिप्रेष्ठ - काव्य
शीघ्रं यात समाप्ति गुरुवर-कृपया भक्ति-भावैर्विचित्रम्।
चित्रैर्वृत्तैर्विचित्रं वसु - शशि-निमितैः सर्ग - बन्धैर्विचित्रं
चित्रं चैतच्चरित्र मनसि हि पठतामादधातीव चित्रम् ॥१०१॥

और देखो, इस भूतलपर, 'श्रीरामहरिदास'–नामक वह महात्मा अतिशय धन्य है कि, जिसने, अतिशय दुरात्मा मैं भी, भगवान् की सेवा का अधिकारी बना दिया। मैं, उनकी महिमा को कल्प-भर के समय तक गाता हुआ भी, पार नही पाऊँगा। हाय ! हजार जिह्वाओ के बिना, एक जिह्वावाला मैं, उनकी कीर्ति का किस प्रकार गायन करूँ ? (इस श्लोक मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥६९॥

और देखो, जिस हरिप्रेष्ठ की, दया के लव (लेश) मात्र बल से, श्रीकृष्ण-बलदेव के श्रीचरणो मे, मेरा भी अनुराग हो गया; अतः वही हरिप्रेष्ठ भैया, मेरी इस "श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य"–नामक कृति को देखकर, मुझपर प्रसन्न हो जाय। उनके प्रति मेरी, यही विनम्र-प्रार्थना है(इस श्लोक मे 'आर्या'–नामक छन्द है) ॥१००॥

ग्रन्थकार का निवेदन

निखिल–शास्त्र–पारावारपारदृश्व – मख्यावताराष्टोत्तरशतस्वामि–श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज के एक लघुतर-अनुचर, 'श्रीवनमालिदास-शास्त्री' के द्वारा विरचित यह 'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य', श्रीगुरुदेव की कृपा से शीघ्र ही लिखकर सम्पूर्ण हो गया है। यह काव्य, भक्ति के अनेक प्रकार के भावो से विचित्र है, एव अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र चरित्रो से तथा अनेक प्रकार के विचित्र छन्दो से, पाठको के लिये आश्चर्य-जनक ही है, तथा वसु (८) शशि (१) की सख्या मे परिमित अर्थात् 'अङ्काना वामतो गति' इस रीति के अनुसार अठारह सर्गों के बन्धनो से भी यह विचित्र ही है और

सर्गैः षोडशभिः समुज्ज्वलपदैर्नव्यार्थ - भव्याशयै-
र्येनाऽकारि गुरोर्निजस्य चरितं काव्यं कवि-प्रीतिदम्।
अन्ये सख्य-सुधाकर - प्रभृतयो ग्रन्था प्रणीताः शुभा-
स्तस्याऽयं वनमालिदास - सुकवेर्जीयात् प्रबन्धो महान् ॥१०२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचिते श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य
श्रीकृष्ण-प्राप्तये पुनरपि तपश्चरणाद्यनेक-विषय-वर्णन
नाम अष्टादश सर्ग सम्पूर्ण ॥१८॥

इस काव्य के नायक का चरित्र भी आश्चर्य जनक ही है, तथा यह काव्य, पढते समय, पाठको के चित्त मे भी, मानो चित्र-सा ही खीच देता है (इस श्लोक मे 'स्रग्धरा'–नामक छन्द है) ॥१०१॥

और देखो, जिस (वनमालिदास) ने, महान् उज्ज्वल 'सुवन्त' एव 'तिडन्त'–रूप पदो से युक्त, एव नवीन तथा मनोहर अभिप्रायो से युक्त, सोलह-सर्गो के द्वारा, अपने श्रीगुरुदेव के दिव्य-मङ्गलमय चरित्र से परिपूर्ण 'श्रीकृष्णानन्द–महाकाव्य'–नामक काव्य बनाया। वह काव्य कविजनो को प्रीतिप्रद है। और जिसने 'श्रीराधारमण-शतक' श्रीवनमालिप्रार्थना–शतक' 'श्रीभक्तनाममालिका' एवं 'श्रीसख्य-सुधाकर' आदि दूसरे भी, वहुत से मङ्गल-मय ग्रन्थोका प्रणयन किया है, अर्थात् रचना की है, उसी भक्ति प्रधान सुकवि श्रीवनमालिदास का, 'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य'–नामक' यह विशाल प्रबन्ध भी, भूतलपर विजय एव सदा उत्कर्ष ही प्राप्त करता रहे (इस श्लोक, मे 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है) ॥१०२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि–विरचित–श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी–भाषाटीकासहिते
श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्ये श्रीकृष्ण-प्राप्तये पुनरपि तपश्चरणाद्यनेक-विषय-वर्णन नाम
अष्टादश सर्ग सम्पूर्ण ॥१८॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

श्रीकृष्णार्पणमस्तु